

ॐ

श्रीमथुराधीशो विजयतेतराम् ।

सप्रकाशतत्त्वदीपनिबन्धः ।

सर्वनिर्णयग्रन्थः

श्रीमदखिलदैवजीवोद्धारप्रयत्नैकपरायण जग-  
दुरुसकलाचार्यचूडामणिश्रीबल्लभदीक्षित-  
महाप्रभुविरचितः

विद्वज्जनमण्डलमण्डन गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तम-  
प्रणीतावरणभङ्गाख्यव्याख्यानसहितः ।

कोटाग्रामस्थ श्रीबल्लभाचार्यवंशभूषण गोस्वामि श्रीरग-  
छोडात्मजजैवातृकश्रीजीवनेशप्रकटितसुलोचन-  
नामकव्रजभाषाव्याख्यानयुक्तः

साचीहरद्विजकुलोद्भवमुख्यसेवक गोवर्द्धनदासपौत्र पण्डित गो-  
लदासप्रकाशितः । प्रतिपुस्तकामात्रेण तैलङ्गकुलोद्भवपोत-  
कूचवाहू बालशास्त्रिणा जामेकरोपाभिधेन सीतारामशा-  
स्त्रिणा च यथामति संशोधितः ।

स च

मुम्बापुर्या

पं० श्रीधर शिवलालजी इत्येतेषां

ज्ञानसागर यन्त्रालये मुद्रापितः

संवत् १९६४ शके १८२९

अस्य सर्वधिकाराः प्रकाशयित्रा स्वायत्तीकृताः ।



# सूचीपत्र ब्रजभाषाटीका का ।

	पृ.	पं.
ग्रन्थ बनावेको प्रयोजन	...	...
यज्ञके स्वरूपको वर्णन	...	...
यज्ञके फलको वर्णन	...	...
जीवनमें दैव आसुरादिभेद	...	...
जीव बुद्धिके अनुसार वेदार्थके भेद	...	...
अनेक शाखाद्वयके प्रयोजन	...	...
पूर्वोत्तरमीमांसाको प्रयोजन	...	...
स्मृतिनको निर्णय	...	...
पुराणनको निर्णय	...	...
अष्टादश पुराणनके विभागको निरूपण	...	...
पुराणनके नाम तथा श्लोकनकी संख्या	...	...
तथाकल्पानुसार व्यवस्थानिरूपण उपपुराणके नाम	...	...
पुराणकी कथानके विरोधको निराकरण तथा तामसादिव्यवस्था	...	...
तीन प्रकारके जीवकी क्रमसों मुक्ति	...	...
भारत बनावेको प्रयोजन	...	...
भागवतमें शंकासमाधान	...	...
गीताजीको स्वरूपनिरूपण	...	...
प्रश्नोत्तरद्वारा भागवतके स्वरूपको वर्णन तथा फलको निर्णय	...	...
शिक्षाकल्पसूत्र व्याकरण आदि...	...	...
वेदके छह अङ्गनको वर्णन उपवेदनको प्रयोजन दितावे है	...	...
काव्यादिकनकी व्यवस्था	...	...
रामायणकी महिमा	...	...
न्यायशास्त्र तथा तर्कशास्त्रको निर्णय	...	...
प्रेमयको वर्णन	...	...
कारणको वर्णन तथा कारण के अष्टाईस भेदको वर्णन	...	...
स्वरूपके तीन भेदनको वर्णन	...	...
अक्षरब्रह्मके स्वरूपको वर्णन	...	...
कालके स्वरूपको वर्णन	...	...
कर्मके स्वरूपको वर्णन	...	...
स्वभावके स्वरूपको वर्णन	...	...
सब कार्यके समष्टि व्यष्टिरूप दो भेदनको वर्णन तथा आधिदैविक	...	...
आधिभौतिक आध्यात्मिक भेदनको वर्णन	...	...
ब्रह्मादिकनके भी आधिदैविकादि तीन भेदनको वर्णन	...	...
क्रिया तथा ज्ञानके स्वरूपको वर्णन	...	...



R6893<sub>ac1</sub>

15E7

29290<sub>m</sub>

## सूचीपत्र ब्रजभाषाटीका का ।

	पृ.	पं.
ग्रन्थ बनावेको प्रयोजन ... ..	६	११
यज्ञके स्वरूपको वर्णन ... ..	७	९
यज्ञके फलको वर्णन ... ..	१२	२
जीवनमें दैव आसुरादिभेद ... ..	३५	१५
जीव बुद्धिके अनुसार वेदार्थके भेद ... ..	३७	२४
अनेक शाखाद्वीयवेको प्रयोजन ... ..	४६	१२
पूर्वोत्तरमीमांसाको प्रयोजन ... ..	५१	१५
स्मृतिनको निर्णय ... ..	५७	२७
पुराणनको निर्णय ... ..	८१	१
अष्टादश पुराणनके विभागको निरूपण ... ..	९०	१९
पुराणनके नाम तथा श्लोकनकी संख्या ... ..	९१	६
तथाकल्पातुसार व्यवस्थानिरूपण उपपुराणके नाम ... ..	९३	१
पुराणकी कथानके विरोधको निराकरण तथा तामसादिव्यवस्था ... ..	९३	३
तीन प्रकारके जीवकी क्रमसों मुक्ति ... ..	१०४	३
भारत बनावेको प्रयोजन ... ..	१०८	११
भागवतमें शंकासमाधान ... ..	१११	४
गीताजीकी स्वरूपनिरूपण ... ..	११३	४
प्रश्नोत्तरद्वारा भागवतके स्वरूपको वर्णन तथा फलको निर्णय ... ..	"	११
शिक्षाकल्पसूत्र व्याकरण आदि ... ..	१२६	१५
वेदके छह अङ्गनको वर्णन उपवेदनको प्रयोजन दिखावे हे ... ..	१३२	१२
काव्यादिकनकी व्यवस्था ... ..	१३४	७
रामायणकी महिमा ... ..	"	१५
न्यायशास्त्र तथा तर्कशास्त्रको निर्णय ... ..	१३७	७
प्रमेयको वर्णन ... ..	१३९	१
कारणको वर्णन तथा कारण के अठारह भेदको वर्णन ... ..	१४१	१५
स्वरूपके तीन भेदनको वर्णन ... ..	१४३	९
अक्षरब्रह्मके स्वरूपको वर्णन ... ..	१५४	२६
कालके स्वरूपको वर्णन ... ..	१६०	५
कर्मके स्वरूपको वर्णन ... ..	१६५	५
स्वभावके स्वरूपको वर्णन ... ..	२६९	९
सब कार्यके समाष्ट व्यष्टिरूप दो भेदनको वर्णन तथा आधिदैविक ... ..		
आधिभौतिक आध्यात्मिक भेदनको वर्णन ... ..	१७९	३२
ब्रह्मादिकनके भी आधिदैविकादि तीन भेदनको वर्णन ... ..	१९२	२७
क्रिया तथा ज्ञानके स्वरूपको वर्णन ... ..	१९४	९
सुख दुःखके स्वरूपको वर्णन ... ..	२१४	२२
ब्रह्मसुख तथा अंधन्तमको स्वरूप ... ..	२१५	२
इच्छा आदि भगवद्दर्शनकी नित्यता ... ..	२१५	२०

आविर्भावतिरोभावको स्वरूप ... ..	२२६	१२
मनके स्वरूपको निरूपण ... ..	२२७	१
संशय विपर्यास निश्चयादिवर्णन ... ..	२३४	९
शब्दसृष्टिको वर्णन ... ..	२५४	२५
लौकिक वैदिक शब्दनको भेदवर्णन ... ..	२६६	२१
लक्षणाको गौणी वृत्तिमें अन्तर्भाववर्णन तथा वृत्तिस्वरूप ... ..	२६९	१४
शब्द अलौकिक तथा लौकिक कार्यमें पुरुषकुलगायसके है याको वर्णन ... ..	२७०	६
सब जीवनकु कर्ममें श्रीकृष्णचंद्र परब्रह्मही प्रवृत्त करें हैं यह वर्णन ... ..	२७५	१६
भगवान्ही सर्वकर्ता है तो अधर्ममें प्रवृत्त करके दुःखादिक क्यों देवे हैं या शंकाको उत्तर ... ..	२८३	४
वर्णाश्रम धर्म तथा उनके फल को वर्णन ... ..	२९६	३
गीतास्थ सांख्ययोगानुसार सद्यो मुक्ति तथा क्रममुक्ति को वर्णन ... ..	२९०	१५
वर्णाश्रमधर्मके अनुसार वृत्ति तथा भक्ति को वर्णन ... ..	३०१	९
सांख्ययोग भक्तिनको न्यारो न्यारो फल वर्णन ... ..	३०६	१०
भक्ति प्रकरण को प्रारम्भ ... ..	३१४	१३
प्रारंभमेंभी भक्तिमार्ग सब मार्गनसों उत्तम है ... ..	३१५	१७
उत्तमाधिकारीको वर्णन ... ..	३१६	१६
प्रेमपूर्णतामें वार्ताओं दृष्टान्त ... ..	३२८	२२
गुरुकी उपासना तथा भगवान्की मूर्तिसेवाको प्रकार ... ..	३३६	३
मानसी सेवाको वर्णन ... ..	३३७	२३
सेवाके विरोधिन को त्यागवर्णन ... ..	३४८	२१
सेवाके उपयोगी पदार्थनकी शुद्धि वर्णन ... ..	३५०	१
भक्तिमार्गानुसारी उपदेश ... ..	३६५	६
तीर्थ पर्यटनको प्रकार ... ..	३७५	६
कर्ममार्गकी गहनता को वर्णन ... ..	३८५	३
योग सांख्यको फल तथा निषिद्ध योगको फल ... ..	३९०	१
वाममार्गके सात भेद ... ..	३९८	१४
दुःख सुखके भेद सत् चित् आनंद सों सृष्टि वर्णन तथा इच्छा ... ..	४००	२
कांम द्वेष क्रोध लोभ मोह राग भय आदिकनके स्वरूप ... ..	४०१	१९
कर्मके फल को नाश तथा कार्यके स्वरूपनाश होयवेको प्रकार ... ..	४३७	१७
सुख दुःखादिक अन्तःकरणके धर्म हैं आत्माके नहीं हैं यामें प्रमाण ... ..	४७१	५
मन एकाग्र राखके सेवा करवेमें वार्ता को दृष्टान्त ... ..	४१०	२५
भक्ति मार्गमें प्रवेश होयवेको क्रम वर्णन ... ..	४११	१०
भगवान्की प्राप्तिमें साधनको वर्णन ... ..	४२२	२५
ज्ञानसों भगवत् प्राप्ति तथा दुःखनाश होयवेको प्रकार ... ..	४३४	२३
भक्तिसों भगवत्प्राप्तिको प्रकार ... ..	४३४	८
भगवान्के दर्शनहोयवेको विशेष उपाय दिखायो है ... ..		
भक्तिमार्गका, उपसंहार तथा भक्ति उत्पन्नहोयवेमें श्रीभागवतश्रवण मुख्य साधन है ... ..		
उत्तम वक्ताके मुखसों सुबोधिनी तथा श्रीभागवत रूप प्रकरणके अनुसार श्रीभागवत श्रवणसों अवश्य भक्ति प्रकट होवे है यामें संदेह नहीं है ... ..		

## श्रीतत्वदीपनिबन्धकी छपाईमें जिन महाशयोंने सहायता देवेकी प्रतिज्ञा की है उनके नाम

- ३००) - पुष्टि मार्गाचार्य कोटास्थ श्री १०८ रणछोडलाल जी महाराज ।  
 ६००) - झालावाडराणीजी अखंड सौभाग्यवती श्रीमती कृष्णगडवाई  
 साहिब कृष्ण कुँवर बाई.  
 २००) - अलवर माजी साहिब श्रीमती कृष्ण गडवाई साहिबा शृंगार  
 कुँवर बाई.  
 २००) - श्रीमथुरेशजीके मुखियाजी साचोरा स्वर्गवासी गोवर्द्धनदासजी.  
 १००) - अमदाबादके हरि वल्लभ मूल चंदवाले मणि भाई अचरज भाई.  
 १००) - लाभचंदजी सेठ बीकानेर

पहले प्रकरण की छपाईमें ७३५॥ )

दूसरे प्रकरणकी छपाईमें ८९३ )

एकून जोड़ १७२८॥ )

## अधिक पुस्तकलेनें द्वारा सहायता देनेवालेके नाम पुस्तककी संख्या अङ्क.

- ११-नरसिंहसाह मदन गोपाल सेठ जमना दासजी बीकानेर.  
 ५-राजा बाबू दामोदरदासजी कलकत्ता.  
 ५-पद्मवन दास द्वारकादासवाले सेठजी श्यामदासजी बनारस.  
 ५-दीवान कुँवर फोलालजी उदेपुर.  
 ५-गोवर्धन दासकी बहु गंगाबाई मुंबई.  
 १०-नाथा कृष्णदासजी मुंबई.  
 ५-सेठ नरसिंहदासजी कोटा.  
 ३-सेठ माधोलालजी कोटा.  
 ५ माणिकलालद्वारकादासवाले गुजरात.  
 ५-लक्ष्मी नारायणजी भंडारी कोटा.  
 ५-सेठ धीरजराजजी कोटा.  
 ५-श्रीमान् वेगू रावजी साहिब.  
 २-महाराजा बलभद्र सिंहजी झालावाड.  
 २-बीजोलया रावजी साहिब.  
 ५-श्रीनाथदासजी कृष्णगड.  
 ५-जाम नगरसे नारायणजी लालजी.

श्रीकृष्णायनमः ।

भाषाभूमिका.

विज्ञापनम्.

हे सज्जन पुरुषो ! जीव मात्रके यह अभिलाषा रहती है कि हमारे दुःख कभी न हों सदा सुखही बना रहें और यही इच्छा पूर्ण होनेके लिये हमेशा प्रयत्न भी करते रहते हैं तथापि आनन्दनिधि श्रीपुरुषोत्तम परब्रह्मकी प्राप्ति बिना पूर्ण आनन्द नहि मिलता सर्वथा दुःखभी नहि मिटता ऐसी दशा देखके परमात्माने अपनी प्राप्तिके उपाय बतानेके लिये वेदस्मृति पुराणोंको स्वयं तथा ऋषियोंके द्वारा प्रगट किये जिनमें कर्म ज्ञान भक्ति योगादि अनेक मार्ग तथा अनेक देवताओंकी उपासना बताई है उनको देखकर कलियुगके मंद बुद्धिवाले मनुष्योंको संदेह होता है कि हम किस देवता की उपासना करें और कौन मार्गका आश्रय करें तहां अपार सुखके अनधिकारी आसुर जीव तो ऐसे संदेह को देखकर शास्त्रको छोड़कर छोटे मार्गमें चलते हुवे "मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्" अर्थ—हे अर्जुन! आसुरजीव मुझको बिना पाये नरकको प्राप्त होते हैं, इस गीतावाक्यके अनुसार अधम गतिको पाते हैं और सुखाधिकारी दैव जीव तो संदेह दूर करनेकी तथा भगवान्की प्राप्तिके मुख्य साधन जाननेकी बहुत अभिलाषा रखते हैं उन जीवोंके लिये परब्रह्मके सुखाम्भिरूप श्रीवल्लभाचार्यजीने सर्वनिर्णय नामके ग्रन्थको प्रगट किया है इस ग्रन्थके देखनेसे सब संदेह दूर होते हैं इसमें लिखे साधनोंके करनेसे अवश्य भगवान् प्राप्त होते हैं ( रसं लब्ध्वानन्दी भवति ) उनको प्राप्त होकर भक्त परमसुखी होजाताहै, इस ग्रन्थमें पृष्ठ ३०६ तीनसौ छह पृष्ठसे लेकर समाप्ति पर्यन्त भक्तिमार्ग का वर्णन है वह अवश्य देखने योग्य है विशेष करके श्रीवल्लभाचार्यजीके संप्रदायवाले वैष्णवोंसे हाथ जोड़के यह प्रार्थना है जो आप श्रीवल्लभाचार्यजीके मतके अनुसार साधन करके भगवान्की प्राप्ति चाहते हो तो इस ग्रन्थको अवश्य देखिये इस ग्रन्थके बिना देखे भक्ति मार्गके सिद्धान्त को नहीं जानसक्ते हैं इस मार्गमें परब्रह्मकी प्राप्तिको मुख्य फल माना है 'परंब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते' इत्यादि श्रुतियोंके अनुसार कृष्ण यह परब्रह्मकाही नाम है न्यारे न्यारे कल्पोंमें न्यारे २ गणेश देवी आदि देवताओंका रूप धारण करके परब्रह्मही सृष्टि कर्ता है इससे उन उन पुराणोंमें उन २ देवताओंको परब्रह्मही कहा है, परब्रह्म स्वतन्त्र है प्रेम सहित सेवा ( टहक ) करनेसेही प्रसन्न होताहै इसका नामही भक्ति है इसका

स्वरूप इस ग्रन्थके देखनेसे ठीक मालूम होता है इस प्रकरणके आगे इससे दुगुना श्रीभागवतरूप प्रकरण है उसमें श्रीभागवतकी लीलाओंके तात्पर्य तथा शास्त्र स्कन्धप्रकरण अध्यायोंके अर्थ लिखे हैं जिनोके जाननेसे अवश्य दृढ भक्ति सिद्ध होवे ऐसी श्रीवल्लभाचार्यजीने प्रतिज्ञा करी है परन्तु डेढ़ हजार रुपैया बिना श्रीभागवतरूप प्रकरण नहीं छप सक्ता इसकारण पाँचसौ या चारसौ ग्राहक बननेसे छपाया जायगा जिनको ग्राहक बनना हो वे यह सूचना देसकर ग्राहकोंमें नाम लिखवा दें इस पुस्तकके मिलनेका पता—बम्बई पं० श्रीधर शिवलालजी “ज्ञानसागर” छापाखाना श्रीकृष्णगंज, पता—दूसरा-कोटा राजपूताना बड़ा मथुरानाथजीके मंदिरमें विठ्ठलनाथ पाठशाला कार्याधिकारी पं० गोकुलदास.

ब्रह्मवैवर्तपुराणान्तर्गत कृष्णजन्मखण्डाध्याय ४१

हिमाचलं प्रति वसिष्ठवाक्यम् ।

श्रीकृष्णमाहाम्यम् ।

निर्गुणः परमात्मा च ईशः प्रकृतेः परः । स एकः सृष्टिसंहारे स सर्वः सृष्टि-  
कर्मणि ॥ सृष्टिस्थित्यन्तकरणे ब्रह्मविष्णुशिवाभिधः । ब्रह्मा च ब्रह्म लोकस्थो  
विष्णुः क्षीराब्धिवासकृत् ॥ शिवः कैलासवासी च सर्वाः कृष्णविभूतयः ।  
श्रीकृष्णश्च द्विधा भूतो द्विभुजश्च चतुर्भुजः ॥ चतुर्भुजश्च वैकुण्ठे गोलोके द्विभुजः  
स्वयम् ॥ केचिद्देवाः कलास्तस्य कलांशाश्चापि केचन ॥ कृष्णः सृष्ट्युन्मुखश्चा-  
पि प्रकृतिं तत्र निर्ममे ॥ निर्मायताश्च तद्योनौ वीर्याधानं चकार ह ॥ ततोर्द्विभः  
समुद्भूतस्तन्मध्ये च महाविराट् ॥ महाविष्णुः सविज्ञेयः श्रीकृष्णः षोडशांशकः ।  
नाभिपद्मोद्भवो ब्रह्मा तस्यैव जलशायिनः । तस्य भालोद्भवः स्रष्टुः शंकरश्चन्द्र-  
शेखरः ॥ महाविष्णोर्वामपार्श्वोत्संभूतो विष्णुरेव च । कृष्णवामाङ्गसंभूताराधारासे-  
श्वरी स्वयम् ॥ वक्षस्थलोद्भवा लक्ष्मीः सर्वसंपत्स्वरूपिणी ॥ इति शुभम् ।

अर्थ—श्रीकृष्णचन्द्र निर्गुण परमात्मा है प्रकृति (माया) सों परे है प्रलयमें एक-  
रूप है सृष्टिके समय वेही श्रीकृष्ण सर्वरूप है सृष्टिकी उत्पत्ति पालन नाश  
करनेके लिये ब्रह्मा विष्णु शिव नामवाले हैं ब्रह्मा विष्णु शिव उनकी विभूति हैं  
वेही श्रीकृष्ण गोलोकमें द्विभुज वैकुण्ठमें चतुर्भुजरूप हैं कितनेक देवता कला  
हैं कितनेक देवता उनकी कलाके अंश हैं जब श्रीकृष्णचन्द्रकी सृष्टि करनेकी  
इच्छा हुई तब प्रकृति को प्रगट किया आपने उस प्रकृतिमें महाविराट् महाविष्णु  
प्रकट किया वह आपका सोलवाँ अंश है उन महाविष्णुकी नाभिसे ब्रह्मा  
ललाटसे शिव, वामपार्श्वसे विष्णु प्रगट हुये कृष्णके वामाङ्गसे रासेश्वरी श्रीरा-  
धाजी सदा प्रगटे रहे हैं वक्षस्थलसों श्रीलक्ष्मीजीका उद्भव है “एते चांशकलाः  
पुंसः कृष्णस्तु भगवान्स्वयम्” भ्रम प्रमादसे जो इस पुस्तकमें न्यूनाधिक हो  
सारग्राही पुरुष क्षमा करेंगे, प्रार्थक—साचोरा, पं० गोकुलदास.

## जाहिरात-

**गोवर्द्धनोद्धरणकथावर्णन**—यह ग्रन्थभी भागवतकथा कहनेवालोंको परमोपयोगी है मूल्य १ रुपयाडा. म. ३ आना.

**मथुराप्रवेशवर्णन**—मूलभाषाटीकासह—यहभी श्रीमद्भागवतकी कथा कहनेवालोंके परमोपयोगी है मू. ४ आ. डा. म. १ आना.

**गोचारणकथा भा. टी.**—यहभी श्रीमद्भागवतकी कथा कहनेवालोंको परमोपयोगी है मूल्य ६ आना. डाक महसूल १ आना.

**चहार दर्वेश**—इसमें चार फकीरोंने अपनी २ कहानी सुनाई हैं जिन्हें पढकर मन अत्यन्त प्रसन्न होता है मूल्य १२ आना.

**ताजिकनीलकंठी भाषाटीकासह**—यह ग्रंथ ताजिक विषयमें सर्वोत्तम है, अधिक प्रशंसा करना व्यर्थ है मू. १॥ रु.

**गर्भविचार**—यह पुस्तक गृहस्थियोंके बड़े उपयोगका है इसमें स्त्रियोंकी रक्षा, गर्भाधान, बालककी रक्षाआदि अनेक अनेक उपयोगी विषय हैं मू. १२ आ.

**डाकके पोष्टकार्ड**— ३॥ इंच चौड़े और ५॥ इंच लंबे पोष्टकार्ड तरहतरहके रंगीन चिकने मोटे कागजपर छपेहुए जिनपर एक ओर अनेकों देवताओंके चित्र छपे हुए हैं मू. ४ आ. सैकड़ा है. डा. म. जुदा देना होगा.

**श्रावणमाहात्म्य भा. टी.**—श्रावण मासकी कथा लेने योग्य है मू. १ रु.

**पशुचिकित्सा**—इसमें सर्व पशुओंकी उत्तम २ दवायें अति उपयोगी हैं मू. १॥ रु जिसके घरमें गौ बैल हों उसको अवश्यही लेना चाहिये.

**मनुस्मृति**—सान्वय भाषाटीका ग्लेज सर्वोत्तम ३) रु. तथा रफ. २॥) रु.

**वैष्णव सूरद्रुम मंजरी**—इसमें वैष्णवोंके संप्रदायके अनुसार सर्वत्र व्रतोंका निर्णय है मूल्य ॥) आना. तथा रफका ६) रु.

**शिवस्वरोदय भाषाटीका सहित**—यह योगसाधनमें सर्वोपरि है मूल्य ॥) आना.

**श्राद्धप्रयोगावली** सब श्राद्धोंके प्रयोग हैं १) रुपया.

**भागवतदशमस्कंध**—भाषाटीका दृष्टांत ग्लेज ४) रु.

**श्रीमद्भागवतएकादशस्कंध**—भा.टी.सहितरफ ३॥) रु.

**अध्यात्मप्रकाश**—भाषा ( वेदान्त ) की. ३ आना.

**राशिमाला**—मूल्य २ आना.

**संतानगोष्मल भाषाटीका**—मू. ३ आना.

**पुस्तक मिलनेका पत्ता—**

**पं० श्रीधर शिवलालजी**

**“ज्ञानसागर” छापाखाना श्रीकृष्णगंज पो० माहिम**

**( बम्बई )**



## तत्त्वदीपनिबन्धका शुद्धिपत्र ।

शुद्धम्	अशुद्धम्	पृ०	पं०
मित्येव	मिबत्येव	२	१०
यज्ञः पञ्च	यज्ञः । यञ्च	६	१०
सेवायाम्	सेवाय	८	१३
माहेत्यर्थः	मोहर्त्यर्थः	९	११
मोक्षम्	मोक्षे	१०	२८
हेसोतो	हेतो	१२	८
शिष्टाहतो	शिष्टाहत	१३	१५
होजायवेसों	होजावेसों	१३	१९
कूर्म	कूर्व	१५	२२
तद्वत्वा	तद्वत्वं	१५	२४
एवोक्त	एवाक्त	१६	९
बालो है	बालोहैं हैं	१८	१८
शुद्धित्वेन	शुद्धित्वन	१८	१२
दापस्तम्भ	दाआपस्तम्ब	२१	१६
सम्भवदुक्तिकत्वां	संभवदुक्तिसीत्तावा नग्निष्टोमकत्वात्	२१	२२
दग्निहोत्रमासीत्तावान निष्टोमइति	दग्निहोत्रमा इति	२१	२३
तच्चात्म	तपच्चात्म	२१	२५
तात्पर्य	तात्पर्य	२६	१०
आधिक्य है	आधिक्य	२७	६
साक्षादङ्गं धर्मः ॥	साक्षादङ्ग धर्मः	२७	२३
द्रव्याग्नानाच्च	द्रव्यग्नानाच्च	२८	२३
जपतीर्थ	जपतीर्थ	२८	२५
अग्निदग्नीन्	अग्निदग्नीन्	३३	७
गदानिविदा	गदा-निविदा	३३	८
अवाधिताज्ञात	अवाधिताज्ञान	३४	४
मुख्यता”	मुच्यते”	३६	१६
सर्वसाक्षात्	सर्वसाक्षात्	३७	४
तदुक्तिर्ननु	तदुक्तिर्ननु	४०	२१
स्मृतिश्च	स्मृतिश्च	५५	१७
तदतिरिक्ताः । ५	तदतिरिक्तभाव	५६	२८
वाक्यकहे हैं	वाक्यहै	५८	७

शुद्धम्	अशुद्धम्	पृ०	पं०
नापीष्टकोपधान	नाप्पवीष्टकोपधान	६१	१५
भिन्नशेषाणाम्	भिन्नशिष्याणाम्	६१	१८
पातकादीनाम्	प्रायश्चित्तादीनाम्	६३	५
वेदभागमें	वेदमार्गमें	६५	२
कर्तव्यम्	कृतव्यम्	६५	२२
समंविभागम्	सम्विभागम्	६६	१९
यातयेदित्यादि	पातयेदित्यादि	६६	२५
निर्दयपणों	निर्दयप्रणों	६७	१८
स्थलमें	स्थालमें	६९	१२
परिचर्यार्थम्	परिचर्यार्थम्	७०	१४
भेदाद्वैजात्यतः	भेदद्वैजात्यतः	७१	९
स्मार्तकल्पसूत्रवदेवहि	स्मार्तकल्पसूत्रवदेवहि	७२	१९
बिम्बवदाभासो	बिम्बवेदाभो	७३	१
तादृशस्याभासः	तादृशस्याभासः	७३	१
सर्व आश्रमाः	सर्वा आश्रमाः	७३	९
रूपेथे	रूपेरसे	७४	१७
प्रसङ्गः	प्रङ्गः	७४	८
दर्पणकोमुखमुखको	दर्पणको मुखको	७४	२५
उपनिषत्त्व	उपनिषदत्त्व	७५	२३
ब्रह्मविद्या	ब्रह्मविद्या	७७	१८
नराधमाः	नरधमाः	७७	२०
नित्यकामो	नित्यकाम्यो	७८	५
क्वचित् क्वचिन्	क्वचिन्	७९	२१
दाशंक्येत्यर्थः	दशंक्येत्यर्थः ॥	८०	२
विकृतियज्ञसाध्योर्थः	यज्ञाविकृतिसाध्योर्थः	८०	१२
तत्पुराणप्रकारतः	तत्प्रकारपुराणतः	९५	५
नविकृतित्वम्	नवीकृतित्वम्	९७	१६
परिपाकएकम्	परिपाके एकं	१०३	६
रजसस्तु	रजसस्तु	१०५	१३
नकल्पप्रतिपादकता	कल्पप्रतिपादकता	१०७	९
परम्परा है	परम्पार है	११७	१४
पुराणत्वेन	पुराणार्थत्वेन	११८	१७
सौख्यश्च	सौख्यश्च	१२२	२२
सर्वोपनिषद्	सर्वोपनिषद्	१२४	२१

शुद्धम्	अशुद्धम्	पृ०	पं०
स्वरूपरक्षा अर्थरक्षा	स्वरूपरक्षार्थरक्षा	१२५	१७
व्ययन्दोषः	व्ययन्दोषः	१२९	६
लक्षणञ्च	लक्षणञ्च	१३१	१६
असत्यत्व	सत्यत्व	१३२	२२
परमाण्वन्त	परमाण्वन्त	१३८	१८
प्रमाविषय	प्रमाविषय	१४४	१८
प्रविष्टत्वंस्फुट	प्रविष्टत्वंस्फुट	१४४	२७
प्राप्नुतः	प्राप्नुमः	१४५	५
लोकादर्धम्य विना	लोकादर्धम्य विना	१४४	२४
प्रत्ययार्थः प्रेम । धात्वर्थः सेवा ।	प्रत्ययार्थः प्रेम धात्वर्थः ॥ सेवा १४६	१४६	२४
मत्पादसेवा	मत्पादिसेवा	१४७	२७
शक्तोपिक्तिन्	शक्तोप्यक्तिन्	१४७	२०
अनीश्वरकपिले	अनीश्वरकपिले	१५१	१०
ऐवासन्यावतारो	ऐवासन्यावतारो	१५१	२६
तादृगाकारा	तादृगकरा	१५२	१६
प्रकृति भर्तुः	प्रकृति भर्तुः	१५६	७
स्त्वचरणारविन्द	स्त्वचरणारविन्द	१५८	१
णाविर्भवतीति	णाविर्भतीति	१५८	२१
बहिरन्तस्तु	बहिरन्तस्तु	१६०	१०
सदशशक्तिरिति	सदशक्तिरिति	१६१	६
कछुमिदि	कछुमिदि	१६२	९
तच्छक्तिः	तच्छक्तिः	१६२	१६
सर्वस्येति	सर्वस्येति	१६४	२२
प्रतिकर्म	प्रतिसम्म	१६५	२०
भोगानन्तर	भोगानन्तर	१६६	१
प्रायः पाठ	प्रायपाठ	१६६	१४
स्वभावोदृष्टानां	स्वभावोदृष्टानां	१६७	२२
ध्वंसश्चापि	ध्वंसश्चापि	१७१	४
स्वरूपएव	स्वरूपमेव	१७१	१७
ननुसंख्यादयो	ननुसंख्यदयो	१७१	२२
सकलकपाल	सकलपाल	१७२	१४
ईशो	इशो	१७७	२२
ब्रह्माण्ड	ब्रह्मार्थण्ड	१७९	२२
जीवकार्यं नहि है	जीवका नहि है	१७९	७

शुद्धम्	अशुद्धम्	पृ०
नोक्ताअप्येव	नोक्ताऽप्येव	१८२
विधयाअविद्याया	विधीया विद्याया	१८३
तूलाविधा	तूलविद्या	१८३
भेदोक्तेरेवात्र	भेदोक्तेरेवात्र	१८८
समायाति	सपायाति	१९५
वक्ष्यमाण	वक्ष्यपाण	१९६
ध्वनिद्वय	ध्वनिदय	१९६
सार्वज्ञ्या	सार्वज्ञा	१९८
विद्योपहित	विद्यापहित	१९८
प्रकाशितान्त	प्रकाशितान्त	१९८
तदवभासे	तदाभासे	१९८
जीवाभिन्नं	जीभिन्नं	१९८
समारूढा	समारूढा	१९८
मप्रकाशमानतया	मप्रकाशमानतयावि	
विषया	द्याकारकज्ञानापत्तिरधि-	
	काया याविषया	१९९
विषयाप्रमिति	विषयाग्रमिति	२०१
सावृत्तिः	यावृत्तिः	२०२
जन्यज्ञान	जन्मज्ञान	२०२
तदननुभवेनेन्द्रियेपि तदभावात्	दतननुभवेनेन्द्रियेपि दतभावाद्	२०३
घटकुटी	भटकुटी	२०३
वाभावात्	वाण्यात्	२०३
अविद्या	विद्या	२०४
वाधक रह्योनहि	वाधकह्योनहि	२०४
हीच्छा दीनाम	हिच्छादीनाम्	२०६
सेत्स्यति	तह्येत्यति	२०७
भौतिकबुद्धि	भौतिकबुद्धि	२०८
पेक्षाबुद्धिरिति	पेक्षाबुद्धिरिति	२०९
नन्दमाने	नन्दभावे	२०९
तारतम्यादुक्त	तारम्यायुक्त	२०९
नानानुव्यवसाय	नानानुव्यवसाय	२१०
ननुस्वरूपे	ननस्वरूपे	२११
कारण	कारण	२१२
धर्मीवाच्यएव	धर्म्येवाच्यएव	२१२

शुद्धम्	अशुद्धम्	पृ०	पं०
जातेत्यादि	जानेत्यादि	११२	२९
भाविनीमत्ता	भाविनमत्ता	२१३	५
विषयत्व	विषयात्व	२१४	१७
दोषभावार्थ	दोषभावार्थ	२१८	१६
रूपैवाविर्भाव	रूपीवाविर्भाव	२१९	१
विजातीयाभिति	विजातीमिति	२२१	९
भावस्तुतथेच्छाभावान्	भावस्तुतथेच्छाभा वस्तुतथेच्छाभावान्	२२१	१७
सत्यापुन	सत्यपुन	२२१	१७
प्युच्यते	ण्युच्येत	२२२	८
याथार्थ्य	यथार्थ्य	२२४	१
सीम्य	सीम्य	२२४	८
साधारणो	साधाणो	२२५	३
मेककाला	मेककाला	२२५	१७
सर्वतोतां	सर्वतोतो	२२८	२१
एषा	एषां	२३०	३
अजः	अण्डः	२३०	७
प्रयत्नविशेषेण	प्रयत्नविशे	२३०	१०
संदब्धानि	संदब्धानि	२३०	१३
तारतारतर	तारतर	२२६	४
अशरीरिण्या	शरीरिण्या	२३४	१
सार्वदिकत्वा	सार्वदिकत्वा	२३६	२४
अक्षरपाठान्	अक्षरपादान्	२३८	२
रज्जल	रज्जल	२३८	४
दोषटथम्	दोषटयम्	२३८	१०
योन्यक्त	ऽन्यक्त	२३८	२४
नामधेयं	नामधेय	२३९	४
कांक्षतायाम्	कांक्षतायाम्	२३९	२३
नैयायिक	नैयायक	२४१	१८
सत्त्व	सत्त्व	२४२	१९
लक्षणीय	लक्षणीय	२४२	३
पत्न्यादे	पत्न्यादे	२५२	३
वेदस्य गदे	वेदस्य गदेश्व	२५२	५
वाक्यार्थः	वाक्यार्थ	२५२	२२

शुद्धम्	अशुद्धम्	पृ०	पं०
याप्रकार	प्रकार	२५४	९
निर्माण	निमाण	२५८	१२
विभेदतः	विभेतः	२६३	३
प्रवर्तकत्व	प्रतर्वकत्व	२६४	९
वृत्त्यन्तरस्य	वृत्त्यस्तरस्य	२६५	३
साहाय्येन	सहीप्येन	२६६	५
तेनैवनान्यथा	तेनैवन्यथा	२७२	६
त्यवोचाम	त्यवोचामः	२७३	१८
भागवत	भागवत्	२७६	५
एकादशाध्याय	एकाशाध्य	२७७	३
नैकदण्डस्य	दण्डस्यैकस्य	२७८	१०
स्ववृत्त्यन्नस्य	स्ववृत्त्यन्यस्य	२७९	७
स्थितेः प्रतिपत्तिः	स्थितिः प्रतिपत्ति	२७९	१७
स्मृतिपुराणादिषु	स्मृपुराणादिषु	२८०	१९
कालादीनाम्	कलादीनाम्	२८०	२४
मयथात्वेनुकल्पै	पयाथात्वेतुकल्पै	२८०	२४
लक्षणधर्महान्या	लक्षणमहान्या	२८१	४
ब्रह्मभावोभक्तेरपि	ब्रह्मभावभक्तेरपि	२८८	५
वाकीभी	वाकोभी	२९७	११
नरकस्त्वन्यथा	नरकस्त्वन्यथा	२९८	११
भक्तानाजन्म	भक्तानाजन्म	३०४	११
भगवतोक्तेन	भगतोक्तेन	३०५	११
स्थिति	स्थित	३०६	१७
वाक्याच्चाबुद्धि	वाक्याच्चबुद्धि	३०६	६
परस्यमेते	परस्वमेते	३०७	१६
संशयादप्यमे	संशयावनपगमे	३१३	४
भक्तिभावतः	भक्तिभावितः	३१३	९
स्वस्यवेदार्थ	स्वस्ववेदार्थ	३१३	१३
दवोचाम	दवोचामः	३१९	६
फलमुखाधिकारः ।	फलमुख्याधिकारः ।	३२०	६
करणेननफलसिद्धिः	करणेनफलसिद्धिः	३२०	१२
भगवतीकृतं भवति	भगवतीकृतंभवति	३२०	१७
भगवदलंकरणम्	भवदलंकरणम्	३२१	३
परंनिवृत्ते	परंनिविद्यते	३२१	११

शुद्धम्	अशुद्धम्	पृ०	पं०
तदिदम्	तदितम्	३२१	१६
आत्माशब्दको	आत्माकूंशब्दको	३२७	१०
पापनाशहोजवेहीहै	भुक्तहोजवेहीहै	३२८	५
भगवानकेस्वरूपमें	भगवानकीस्वरूपमें	३२९	१५
राजाधिराजको	राजाधिराजका	३३०	२०
परुषम्	पुरुषम्	३३१	९
प्याहारशुद्धौ	प्याहारेशुद्धौ	३३३	२२
वयमिति	यवमिति	३३४	१५
प्रतिपत्ति	प्रतिपःत्ति	३३४	३०
पेक्षांपरित्यज्य	पेक्षपरित्यज्य	३३५	७
इत्यादिप्रमाणा	इयादिप्रमाणां	३३६	१०
सबजीव	पव जीव	३३६	१४
भिसंहितत्वात्	भिहितत्वात्	३४१	२३
विस्तारस्यात्र	विसारत्वस्यात्र	३४१	२४
यह बात हमकूँ	याबातहमकूँ	३५०	५
लियेभी	लियेकभी	३५१	१४
नित्येत्तु	नित्येपि	३५३	९
मन्त्रोच्चारणमात्रसौस्त्रीपुत्र	स्त्रीपुत्र	३६२	१३
भजने	भजनं	३६६	२४
निवृत्ति	निवृत्त	३८१	७
पदार्थेन्यथा	पदार्थअन्यथा	३८८	१४
दुर्वेशास्तु	दुर्वेषांस्तु	३८९	२८
दृष्टफल	दृढफल	३९०	१३
जिननें	जिमतें	३९२	१
सार्वदिकत्वाद्येन	सार्वदिक्त्वाद्येन	३९६	२६
मविपकानि	मविपकानि	३९६	३१
वहाँसर्वात्मा	वहसर्वात्मा	३९८	११
एकडालसों	एकलसों	४००	१
रयिकस्यपामा	रयिकस्ययामाः	४०६	२६
शब्दस्यासहकारिसंपन्नस्य	शब्दस्यसहकारिसंपन्नस्य	४०६	२९
निकटवर्तीन्द्रियाणाम्	निकटवर्तिमिन्द्रियाणाम्	४०७	११
अवयुत्स	अवयुज्य	४०२	१३
करण	शब्दकरण	४११	२५
ऐसेशब्दसों	ऐसोंशब्दसों	३१२	२०



शुद्धम्	अशुद्धम्	पृ०	पं०
शरीरस्थजीव	शरीरजीव	४१५	५
कहेहै	कहावेहै	४१५	२२
देहसौभिन्न	देहाभिन्न	४१३	२०
योग्यतानुसारेण	योग्यानुसारेण	४१९	१२
माक्षिपति	माक्षिपोते	४२०	९
तत्वभावात्	तत्वाभावात्	४२०	३१
वरणश्च	आवरणंच	३२१	२७
विचारेणासाधनम्	विचारेण साधनम्	४२२	१
योग्यतातश्चा	योग्यतश्चा	४२२	६
भवतोग्रन्थस्य	भगवतः	४३०	१६
सेवाभिरतामदीहाः	सेवाभिरतिर्मदीहाः	४३१	५
लोकप्रसादः	लोकप्रवाहः	४३१	१७
साधनसौ	साधनौ	४३३	२१
वहाँवर्णन	यहाँवर्णन	४३३	२३
प्रेमसेवासौ	प्रेमसे वासौ	४३४	८
याप्रेमसौवशहोयवेभे	यावाक्यभे		



श्रीमद्वल्लभाचार्यविरचितनिबन्धस्य सर्वनिर्णयाख्यं द्वितीयं  
प्रकरणमारभ्यते ।

## तत्त्वदीपनिबन्धः ।

पंचात्मकं द्विरूपश्च साधनैर्बहुरूपकम् ॥  
स्वानन्ददायकं कृष्णं ब्रह्मरूपं परं स्तुमः ॥ १ ॥  
अग्निहोत्रं तथा दर्शपूर्णमासः पशुस्तथा ॥  
चातुर्मास्यानि सोमश्च क्रमात्पञ्चविधो हरिः २

तत्त्वदीपप्रकाशः ।

श्रीकृष्णाय नमः ॥ प्रमाणेन प्रमेयेन फलतः साधनेन च ॥ सर्व-  
निर्णयबोधाय द्वितीया प्रक्रियोच्यते ॥ तत्र प्रथमं वेदार्थरूपं भगवन्तं  
संगलार्थं स्तौति ॥ पंचात्मकमिति ॥ अग्निहोत्रादिभेदेन पञ्चरूपत्वम् ।  
तेषां प्रकृतिविकृतिभेदेन द्विरूपत्वम् ॥ उभयोरनेकरूपत्वं वक्तुं साधनैर्ब-  
हुरूपत्वमाह ॥ साधनैरिति ॥ सर्वेषां समुदायफलमाह ॥ स्वानन्द-  
दायकमिति ॥ धर्मस्वरूपेणैव फलदानं भविष्यतीत्याशङ्क्येश्वररूपेणै-  
व फलदानमित्याह ॥ कृष्णमिति ॥ उत्तरकाण्डार्थमाह ॥ ब्रह्मरूप-  
मिति ॥ स्वानन्ददायकं कृष्णमित्यत्रापि तयो रूपयोरुत्तरं श्रेष्ठमित्या-  
ह ॥ परमिति ॥ स्तुमः स्तोत्रमेव यथाज्ञानं कुर्मो न तु स ज्ञायत  
इत्यर्थः ॥ १ ॥ पञ्चरूपाणि गणयति ॥ अग्निहोत्रमिति ॥ प्रमेयं  
निर्णीय हि बलं वक्तव्यम् । तच्च प्रमेयं द्विविधं प्रमाणानुरोधि स्वतन्त्रं  
चेति ॥ तत्राद्यान्निरूप्यते ॥ दर्शपूर्णमासावेकः “ परमेष्ठिनो वा एष  
यज्ञ ” इत्यत्र तयोरेकत्वनिर्णयात् ॥ पशुर्निरूढः ॥ चातुर्मास्यानि स्व-  
तंत्राणि ॥ सोमोऽग्निष्टोमः ॥ एते क्रमेणैव कर्त्तव्याः ॥ एतेषां क्रियारू-

सिपी चाल सुबई, पोष्ट नं. २

पत्वेन भगवत्प्रीतिसाधकत्वं न भगवत्वमित्याशंक्याह ॥ पंचविधो  
हरिरिति ॥ २ ॥

॥ आवरणभंगः ॥

श्रिकृष्णाय नमः ॥ करेण स्वीयानां हृदयमिव हैयङ्गवमयन्दधानः संप्रीणन्नमृ  
तमधुरैर्बालचरितैः ॥ हसन्नल्पैर्दन्तैः करचरणजान्वञ्चनपरः शिशुः कृष्णोऽस्माकं  
दिशतु दृशमीशः स्वाविषयाम् ॥ १ ॥ पूर्वप्रकरणे एतन्मतमज्ञात्वा सात्त्विका अपि  
हरिन्न सेवन्ते येऽपि सेवन्ते तेऽपि मतान्तरैरेव सेवन्त इति तन्निवारणार्थमबुध्यम  
इति प्रतिज्ञाय प्रयत्नसाफल्याय “प्रपञ्चो भगवत्कार्य” इत्यादिना जडजीवान्तर्यामि-  
णां स्वरूपन्तेषां भगवदंशत्वं भगवत्स्वरूपसामर्थ्यं भगवतः परमफलत्वञ्चोक्त्वा  
भगवद्भजनमेव जीवानां परमफलावान्तरफलसाधनमिति तदेव जीवैः कर्तव्यमि-  
वत्ये सर्वेषां श्रुत्यादीनां पूर्वोक्तप्रमाणानां तदविरुद्धानामन्येषां यथार्हमभिधेयस्ता-  
त्पर्यगोचरश्चार्थ इति निर्द्धारितम् ॥ तदिदं मंदमध्यमानां हृदये तदा स्थिरीभवति  
यदा तेषां प्रमाणानामैदम्पर्यमुपपाद्योच्यते ॥ नत्वन्यथापि ॥ असम्भावनाविपरीत-  
भावनाभ्यां व्युत्थानसम्भवात् ॥ व्युत्थानप्रकारस्तु पूर्वप्रकरणे जीवजडान्तर्यामि-  
णां भगवदंशत्वन्तदभिन्नत्वं च यत्प्रतिपादितं तच्छ्रुत्यादिबलेनेति शब्दादेव सि-  
द्धम् ॥ शब्दश्च मानान्तरविरोधे आदरणीयत्वन्नार्हति । न खलु प्रत्यक्षविरुद्धं  
श्रुतिशतैरपि निर्णेतुं शक्यते । नहि प्रत्यक्षतो निर्णीतोश्चः शब्दशतैरपि गोत्वेन  
प्रत्याययितुं शक्यते तस्मान्न तद्युज्यते ॥ किंचास्तिकानां श्रुत्यादौ प्रामाण्यनि-  
र्धारे सत्यपि तदर्थस्यास्मदाद्यविषयत्वेन तदर्थनिर्णेतारः सर्वज्ञाः स्मृतिकारास्त  
निर्णयायाश्रयणीयाः । पूर्वप्रकरणोक्तं तु तद्विरुद्धत्वाद्श्रौतमित्यपि संभाव्यत  
इत्याद्याकारः । अतस्तदुभयनिवृत्त्यर्थं द्वितीयप्रकरणमावश्यकमिति तद्व्याचि-  
ख्यासवः पूर्वप्रकरणविवृत्तिसमाप्तौ कृतायाः सर्वनिर्णयकथनप्रतिज्ञाया युक्तिस-  
म्बन्धकथनमुखेन प्रकरणसंगतिमपि बोधयन्ति ॥ ॥ प्रमाणेनेत्यादि ॥ ॥ तथा  
च प्रमाणादिचतुष्करूपया युक्त्या ज्ञानादेर्मर्गस्य प्रापञ्चिकपदार्थस्य प्रमाणादेश्च  
स्वरूपयाथात्म्यनिश्चयात्मको बोधस्तेन चासंभावनादिनिवृत्त्या मन्दानां मध्य-  
मानां च हृदये पूर्वप्रकरणोक्तार्थस्थैर्येण शास्त्रनिरूपणसाफल्यम् । मुख्यानां तु  
योर्यः पूर्वमुत्पत्त्या निरूपितः सोत्रोपपत्त्या निरूप्यत इति स्थूणाखननवद्दार्ढ्य-  
मित्येककार्यत्वं सङ्गतिः । प्रमाणादीनां यथासम्भवं साङ्गानां युक्तत्वेन प्रतिपाद्यत्व-  
न्तेषाञ्च धर्माङ्गपदार्थादिस्वरूपबोधहेतुत्वन्तस्य चासंभावनादिनिवर्त्तकत्वमिति  
सम्बन्धघटना च बोध्या । प्रमाणादिचतुष्केन निरूपणं तु चतुर्लक्षण्यनुसारित्वबो-

धनार्थम् ॥ किञ्चोक्तरीत्या असम्भावनाद्युदये तन्निवृत्त्यर्थमप्रमाणानामवच्छेद-  
निर्णयम् ॥ तच्च प्रमाणस्वरूपादिनिर्णयाधीनमतः प्रमाणप्रकरणमावश्यकम् ।  
ततस्तेन सिद्धे वेदादेर्वलिष्टत्वे पुनराशङ्कान्तरमुदेति ॥ जीवादयस्त्रयोऽपि चेद्व्या-  
शास्त्रार्थं कुतस्तेषु तारतम्यमिति ॥ सर्वं चेद्व्याभिन्नवर्ति को विशेषो ब्रह्मर्णोति च  
तन्निवृत्त्यर्थं हेतुपूर्वस्य स्वरूपनिरूपणं कर्तव्यमिति प्रमेयप्रकरणमावश्य-  
कम् ॥ ततस्तत्तमभावे बृद्धेऽपि श्रौतानां साधनान्तराणामपि विद्यमानत्वाद्भक्तौ  
कुत आधिक्यमिति शङ्काऽवतिष्ठते तन्निवृत्त्यर्थं सर्वेषां साधनानां फलतः सुख-  
दुःखमाध्यतया च तारतम्यबोधनाय फलप्रकरणमप्यावश्यकम् ॥ तेन फलतः  
सुखमाध्यतया च भक्तेराधिक्ये सिद्धेऽपि यथैव वेदोक्तेमार्गादिकैः साधनेः फलं  
तथैव भक्त्यापि चेन्न कश्चिद्विशेष इति फलतो विशेषं वक्तुं साधनस्वरूपनि-  
र्णयाय साधनप्रकरणमप्यावश्यकम् ॥ एवञ्चतुर्भिः पूर्वाक्ते दृढीकृते ततस्तन्नि-  
मने तेन सर्वनिर्णयबोध इति तदप्यावश्यकमित्यनोऽप्येवन्निरूपणमिति बोध्यम् ॥  
एवमुपदेशान्प्रेक्षावतीऽभिमुखीकृत्य पूर्वप्रकरणे “ वेदाः श्रीकृष्ण ” इत्या-  
दिना वेदादिशब्दात्मकस्य प्रमाणस्य तन्मध्येऽपि वेदस्य प्रथमोद्दिष्टत्वात्तस्य  
च सविषयत्वात्तत्प्रमेयं तत्स्वरूपादिकश्च निर्णिनीयन्तो मङ्गलमाचरितुमवतार-  
यन्ति ॥ ॥ तत्रेत्यादि ॥ ॥ तत्रेति सर्वस्मिन्निर्णयव्ये । एतेन सर्वभूतभूतत्वाद्दे-  
दस्य तदर्थ एव मङ्गलत्वेन प्रथममुपनिबन्धनीय इत्योचित्यमपि दर्शितम् । तत्र  
सम्पूर्णस्य वेदस्य काण्डद्वयात्मकत्वात्प्रथमस्यादत्रयेणोक्तं पूर्वकाण्डार्थं विग-  
दीकुर्वन्ति ॥ ॥ अग्निहोत्रेत्यादि ॥ ॥ तेषामिति ॥ अग्निहोत्रादीनाम् ॥ ॥ उभ-  
योरिति ॥ ॥ प्रकृतिविकृतिरूपयोः ॥ ॥ साधनेरिति ॥ ॥ आत्माभेदेन  
नानाप्रकारोक्त्यर्थः ॥ तथाच पूर्वमीमांसायां “ अथातो धर्मजिज्ञासा ” इति  
आत्माधिकरणे वेदार्थस्वरूपधर्मजिज्ञासाम्प्रतिज्ञाय को धर्म इत्याकाङ्क्षायां “ चोद-  
नालक्षणोऽर्थो धर्म ” इति समनन्तराधिकरणे चोदनालक्षणपदेन लौकिकमर्थ-  
पदेनार्थभूतमौदिकं श्येनादिकश्च व्युद्भयोभयवर्धविशिष्टोऽर्थो द्वादशलक्ष-  
ण्याम्प्रकृतिविकृतिभेदेन द्विरूपोऽग्निहोत्रादिपञ्चात्मको यज्ञस्वरूपो विचारितस्तेन  
स एव पूर्वकाण्डार्थः । तत्रैव आत्मान्तराधिकरणे किञ्चित्साधनभेदेन आत्मान्तरी-  
ययाणां द्विलक्षणस्वरूपसंस्थानत्वेऽपि सुप्तान्धितोषविग्रहपुरुषवत्तत्वेन प्रतीयमानैः  
स एव आत्मा इति विचारितम् ॥ तेन काण्डार्थविशेष एव आत्मा इति  
साधः । एवं प्रमाणप्रमेयसाधनेः पूर्वकाण्डार्थ उक्तः ॥ एतमेव फलेन वक्तुमाहुः ।  
॥ सर्वेषामित्यादि ॥ ॥ स्वानन्ददायकमिति ॥ ॥ स्वानिपश्वादीन्यान्न्द-  
आत्ममुखं तयोर्दायकम् ॥ एतावान् पूर्वमीमांसासिद्धोऽर्थः । उन्नरविचारं तु

“ एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति ” इति श्रुतेः ॥ स्वांशो  
 य आनन्दस्तस्य दायकमित्यर्थः ॥ इति फलतः स उक्तः ॥ फलमत उपपत्तेरिति  
 न्यायमनुसृत्य जैमिनीयमतनिराकरणायाहुः ॥ ॥ धर्मेत्यादि ॥ ॥ काण्ड-  
 भेदायाहुः ॥ ॥ उत्तरेत्यादि ॥ ॥ काण्डद्वयस्यैकवाक्यत्वायाहुः ॥ ॥ स्वान-  
 न्देत्यादि ॥ ॥ अत्रापीति ॥ ॥ उत्तरकाण्डे । तथा च उत्तरकाण्डे ब्रह्मरूपेण  
 प्रतिपाद्यत्वे फलदानमीश्वररूपेणैव ननु ज्ञानादिरूपेण पूर्वोक्तन्यायात् ।  
 तेन काण्डभेद एकवाक्यत्वं चेत्यर्थः ॥ उभयो रूपयोर्वेदार्थत्वाविशेषेऽपि  
 तारतम्यज्ञापनायाहुः ॥ ॥ तयोरित्यादि ॥ ॥ उत्तरस्योत्कृष्टत्वे गमकमाहुः ।  
 ॥ स्तुम इत्यादि ॥ ॥ “ यतो वाचो निवर्तन्ते ” इत्यादिश्रुतेस्तथेत्यर्थः ॥  
 एवं मङ्गलमुखेन सर्ववेदार्थकथनात् प्रमाणतो निर्णय उक्तः । अतः परं प्रमेयेणैत-  
 न्निर्णिनीषन्त आहुः ॥ १ ॥ ॥ पञ्चेत्यादि ॥ ॥ पूर्वोक्तप्रतिज्ञासिद्धयर्थमाहुः  
 ॥ प्रमेयमित्यादि ॥ ॥ हिर्हेतो यतः प्रमेयनिर्णयाभावे तद्वलनिर्णयाभा-  
 वस्तदभावे सर्वनिर्णयाभावः । अतोहेतोः ॥ प्रमाणानुरोधीति ॥ ॥ शब्दै-  
 कसमाधिगम्यं शब्दोक्तसाधनाभिव्यङ्ग्यमिति यावत् ॥ ॥ स्वतन्त्रमिति ॥ ॥  
 तद्व्यतिरिक्तम् ॥ ॥ निरूप्यतइति ॥ ॥ इत आरभ्य विचार्यत इत्यर्थः ॥  
 तत्र “ यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति ” इत्यादिवेकत्वसंख्यायाः स्फुटत्वेऽपि “ दर्श-  
 पूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत ” इति वाक्येन दर्शपौर्णमासयोर्द्वित्वात्पञ्चत्वसं-  
 ख्यायाविरुद्धत्वमाशङ्क्य परिहरन्ति ॥ ॥ दर्शेत्यादि ॥ ॥ तथाच यथा  
 “ यदाग्नेयोऽष्टाकपालोमावास्यायां पूर्णमास्यां चाच्युतो भवति । तावब्रूतामग्नी-  
 षोमावाज्यस्यैवोपांशुपूर्णमास्यां यजन्ति । ताभ्यामेतमग्नीषोमीयमेकादशकपालं  
 पूर्णमासे प्रायच्छत् । ऐन्द्रं दध्यमावास्यायामैन्द्रं पयोमावास्यायाम् ” इति षड्वा-  
 क्योक्तानां यागानां दर्शपूर्णमासाभ्यामिति श्रौतं द्वैवचनानुरोधादेकैकस्य त्रिकरू-  
 पतामङ्गीकृत्य द्वावङ्गीक्रियेते ॥ तथैष यज्ञ इत्येकवचनानुरोधादुभावेक इत्यङ्गी-  
 क्रियत इति न संख्या न्यूनेत्यर्थः ॥ अत एवं द्वितीयस्य तृतीयपादे दाक्षाय-  
 णाधिकरणे “ दाक्षायणयज्ञेन सुवर्गकामो यजेत ” इति दर्शपूर्णमासप्रकरणी-  
 यवाक्येऽपि “ द्वे पौर्णमासे यजेत द्वे अमावास्ये ” इत्यादिवाक्यशेषोक्तप्रकारे  
 णावर्त्यमानावपि दर्शपूर्णमासावेकवचनेनैव निर्दिष्टाविति युज्यते । वायव्यादयो-  
 ऽनेके पशुयागाः सन्ति तेभ्यः परिछेत्तुमाहुः ॥ ॥ निरूढ इति ॥ ॥ निरूढत्वेन  
 यः प्रसिद्धः स इत्यर्थः ॥ चातुर्मास्यानि सोमाङ्गभूतान्यपि संतीति तेभ्यो विवक्तु-  
 माहुः ॥ ॥ स्वतंत्राणीति ॥ ॥ चातुर्मास्यानि च वैश्वदेवरूपप्रघाससाकमे-  
 धसुनासीरीयाख्यचतुःपवात्मकानि ॥ तान्यपि प्रतिपर्वसु नानायागविशिष्टान्येको

यागः ॥ ॥ सोमोऽग्निष्टोम इति ॥ ॥ एवं सोमपदस्य यागनामत्वबोधनेन  
सोमेन यजेतेत्यत्र न मत्वर्थलक्षणेति बोधितम् ॥ नच द्रव्यलाभाभावः  
शङ्क्यः ॥ सोमसंस्कारादिबोदनार्थापत्त्यैव तत्प्राप्तेः ॥ यद्वा सोमोऽस्मिन्नस्तीति  
सोमवानिति मतुर्वर्थे “ अर्शआदिभ्योऽच् ” इत्यनेनाचि कृते सोम इति  
भवति ॥ एवं योगसिद्धेः प्रसिद्ध्या रूढेरपि निश्चयान्निर्णय न्यायेन योगरूढः  
सोमशब्द आदरणीयः ॥ एवं च “ यद्वाग्निष्टोमः सोमः पुरस्तात्स्यादुक्त्यं कुर्वीत  
तथान्यत्रापीति न काप्यनुपपत्तिरित्यर्थः ॥ यद्युक्त्यः स्यादतिरात्रं कुर्वीत ”  
इति श्रुतिरपि संगता भवति ॥ अग्निष्टोमोक्त्यादीनां संस्थात्वेन संस्थावतो  
यागस्य नामकथनस्यावश्यकत्वात् ॥ “ देवा वै ययज्ञम कुर्वन्त तदसुरा अकु-  
र्वन्त ते देवा एव तं महायज्ञमपश्यन् ” इत्युपक्रम्य “ आग्नेय एवं विद्वान् सोमेन  
यजेत ” इति विधानदर्शनस्यैवमेव साम अस्याच्चेति ॥ ॥ क्रमेणवेति ॥ ॥ यथा-  
संभवं श्रुतेन कल्पायनुमितेन वेत्यर्थः ॥ सचैवं बोध्यः । अग्निसिद्धिमन्तरेण यागा-  
सम्भवात्प्रथमत आधानं कर्तव्यम् ॥ ततः सायंप्रातरग्निहोत्रं जुह्यादिति वाक्या-  
त्सायमाग्निहोत्रारम्भः ॥ होमश्च यावज्जीववाक्यान्नित्यः ॥ उक्तवाक्यान्नित्यतकाल  
इत्यादि बोध्यम् ॥ ततो दर्शपूर्णमासौ क्रमेण । यदि मुमुहूर्त्तदिवशात्पूर्णमासः प्रथ-  
ममापतेत तदा सारस्वतो होमो अपक्षयपरिहारार्थं विधाय पूर्णमासः कार्यस्ततो  
दर्श ततो दर्शपूर्णमासाभ्यामिष्ट्वा सोमेन यजेतेति श्रुत्या सोमप्राप्तावप्यनुष्ठाने  
कल्पस्य नियामकत्वात्तत्र चातुर्मास्यपशुमोमक्रमदर्शनात्तदुभयानन्तरं सोमः ।  
कात्यायनशांखायनादिकल्पे चातुर्मास्यानन्तरं पशोर्दर्शनेऽपि “ ते देवा एतं महा-  
यज्ञमपश्यन् ” इति श्रुतावसुरेभ्यो गुप्तयानुष्ठानबोधने “ पौर्णमासं यज्ञमग्नीषोमीयं  
पशुमकुर्वत, तदाशं यज्ञमाग्नेयं पशुमकुर्वत, वैश्वदेवं प्रातःसवनमकुर्वत, वरुणप्र-  
यासान्माध्यंदिनः सवनं साकमेधान्पितृयज्ञाः स्त्रियंवकाः स्तृतीयसवनमकुर्वत ”  
इति पौर्णमासादिकं बहिःप्रसार्याग्नीषोमीयादिपश्वोर्वैश्वदेवादिकं प्रसार्य प्रातरा-  
दिमवनानां करणानुवादाद्दर्शपूर्णमासपश्वोश्चातुर्मास्यसोमयोश्च सामीप्यप्रतीतिः  
पश्वनन्तरं चातुर्मास्यप्रतीतिश्च तथा क्रमः ॥ अतएवापस्तम्बेन कल्पसूत्रे पशुबंधं  
व्याख्याय तदनन्तरं चातुर्मास्यानि व्याख्यातानि ॥ अतोऽसुरेभ्यो गोपनेऽभिप्रेते  
तथाक्रमः ॥ अनभिप्रेते त्वन्यः । अतएव श्रीभागवते पंचमस्कन्वे भरतचरिते श्रद्धया  
दृताग्निहोत्रदर्शपूर्णमासचातुर्मास्यपशुसोमानां प्रकृतिविकृतिक्रम उच्यते । अतस्त-  
त्तत्कल्पशिष्टाचाराभ्यां व्यवस्था द्रष्टव्या । अत्र प्रमेयनिरूपणस्य सर्वसाधारणत्वेन  
क्रमोक्तेरपि तथात्वात् ॥ ॥ एतेषामित्यादि ॥ ॥ अग्निहोत्रादीनामिज्यारूप-  
त्वेनेज्यप्रतीतिसाधकत्वं युक्तं न भगवत्वम् ॥ इज्यायामिज्यरूपत्वस्य प्रत्यक्षविरु-



द्धत्वादित्यर्थः ॥ ॥ हरिरिति ॥ ॥ “यज्ञो वै विष्णुः” इति श्रुतेः “मां विधत्ते ऽभि धत्ते माम्” इत्येकादशे भगवद्वाक्याच्च सिद्धे यागस्य भगवत्वे तद्विरुद्धं प्रत्यक्षं नादरणीयमित्यर्थः ॥ नचाग्निहोत्रस्य जुहोति चोदनासिद्धत्वेन होमत्वात्पञ्चानां न भगवत्वमिति शङ्क्यम् । “यस्य भूयाः सो यज्ञकृतव” इत्यत्र देवतोद्देशेन हविस्त्यागस्यैव यज्ञनामकत्वेनाङ्गीकारात् ॥ नच जुहोतेस्त्यागार्थत्वे मानाभावः । तदुक्तेः “श्रवणाज्जुहोति रासेचने स्यात्” इति जैमिनिसूत्रस्यैवात्र मानत्वात् । भाष्यकारादिभिरपि तथाङ्गीकारात् । नवीनैरपि यजति जुहोत्योः प्रक्षेपविशिष्ट- त्यागार्थत्वं तुल्यमङ्गीकृत्य प्रक्षेपस्य यजनावद्भूतत्वं जुहोतौ प्राधान्यमिति विशेषा- भ्युपगमाच्च ॥ अतो हविस्त्यागरूपेण यज्ञत्वस्याग्निहोत्रे ऽप्यक्षतत्वम् । स एष यज्ञः । पञ्चविधोऽग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासौ” इति मीमांसकप्रसिद्धश्रुतेश्चेति ॥ २ ॥

ब्रजभाषाटीका ।

प्रथम शास्त्रार्थप्रकरणमें सात्विक दैव जीवनकी भगवत्सेवामें प्रवृत्ति होयवेकेलिये जडजीव अन्तर्यामिनको स्वरूपवर्णन कियो तथा भगवान्को भजनही ऐहिकपारलौकिक फलको देवेवारो है तथा उत्तमाधिकारीनको भगवान्ही फलरूप माननेचाहिये यह बात वेदभागवतादिग्रन्थनसों सिद्धकरी, तासों उत्तमाधिकारी तो भगवत्सेवामें प्रवृत्त होजायगे परन्तु मन्दमध्यमाधिकारीनके हृदयमें यह सिद्धान्त स्थिरकरवेकेलिये प्रमाणप्रमेयफलसाधनके द्वारा ज्ञानादिकमार्गनको तथा जगत्के पदार्थनको यथार्थस्वरूप- निश्चयार्थ सर्वनिर्णयप्रकरणनामसों प्रसिद्ध जो दूसरो प्रकरण है ताको प्रारम्भ करें हैं । तहाँ कितनेक वादी शब्दप्रमाणवेदादिकनकी अपेक्षा प्रत्यक्षप्रमाणकूं बडो माने हैं उनके सन्देह दूरकरवेकूं प्रमाण- नको बलाबलरूप निश्चितकरवेकेलिये प्रथम प्रमाणप्रकरणको प्रारम्भ करतेभये मङ्गल होयवेकेलिये वेदार्थरूप भगवान्की स्तुति करें हैं ॥ अग्निहोत्र दर्शपूर्णमास पशु चातुर्मास्य सोम इन भेदन- करके पांचरूपवाले प्रकृतिविकृतिभेदकरके दोरूपवाले तथा अनेक शास्त्रोक्तसाधननके भेदकरके बहुरूपवाले तथा स्वरूपानन्दके



देववारे ब्रह्मरूप पर जे श्रीकृष्ण हैं उनकी स्तुति करूं हुं ॥ उनकी अपने ज्ञानके अनुसार स्तुतिही होयसकेहै ॥ याश्लोकमें स्वानन्द-  
दायकपदकरके स्वपशुपुत्रादिक आनन्द अर्थात् आत्मसुखके देववारे श्रीकृष्णचन्द्रको बताये हैं तासों धर्मरूपसों फलदान नहीं होय है किन्तु ईश्वररूपकरकेही आप फलदे हैं, ऐसेही उत्तरकाण्ड-  
मेंभी ज्ञानादिरूपसों फल नहीं मिले है किन्तु ईश्वररूपसोंही फल-  
दान होवेहै । इनदोनोरूपमें उत्तरकाण्ड वेदान्तप्रतिपाद्य जो रूप है वह श्रेष्ठहै, पहले पांचरूपवाले भगवान्कूं बताये उन पञ्चरूपनकी दृग्श्लोकमें गणना करी है ॥ १ ॥ प्रमेयको निर्णय करके वाको बल कहना चाहिये । वह प्रमेय दोप्रकारको है एक प्रमाणके अनुसार प्रमेय होय है, एक स्वतन्त्रप्रमेय होयहै, तहां प्रमाणके अनुसार जो प्रमेय है ताका निरूपण करें हैं । अग्निहोत्र भगवान्को प्रथमरूप है, याकूं वेदमें जहांतक जायें तहांताई करनोलिख्यो है । दर्शपूर्णमास भगवान्को दृग्गं रूप है । निरूढपशुयज्ञ आपको तीसरोरूप है । वै-  
श्वदेवादिचारों पर्वरूप जे चातुर्मास्य हैं ते भगवान्को चोथोरूप है । सोम जां अग्निष्टोमयज्ञ है वह भगवान्को पंचमरूप है ॥ या क्रम-  
सोंही इनयज्ञनकां कियेजायें । प्रतिदिन अग्निहोत्र प्रतिमास दर्श-  
पूर्णमास ऋःमहीनामें पशुयज्ञ वर्षकेवर्ष सोमयज्ञ करनोलिख्यो है ॥ शंका—ये यज्ञ तो क्रियारूप हैं इनकरके भगवान्की ईज्या अर्थात् पूजा कर्गजाय तो भगवान् प्रसन्न होतेहोंयगे तासों भग-  
वान्की प्रार्तिके माधक इनयज्ञनकूं कहनो चाहिये इनकूं भगवान्-  
को रूप कैसे समुझलें ॥ उत्तर—पंचविधो हरिरिति ॥ “ यज्ञो वै विष्णुः ” ॥ “ मां विधत्तेऽभिधत्ते माम् ” ॥ इत्यादिश्रुति भांगव-  
तादिवाक्यनमें यज्ञको भगवद्रूपता लिखी है तासों वेदादिविरु-  
द्धमत आदरणीय नहीं है ॥ २ ॥

तत्साधनं च स हरिः प्रयाजादि सुगादि य-  
त ॥ प्राकृतं रूपमेतद्धि नित्यं काम्यन्तु वैकृ-  
तम् ॥ ३ ॥ ज्ञानिनस्तदभिव्यक्तौ कर्तुर्मोक्षः  
क्रमाद्भवेत् ॥ अन्यथा स्वर्गसौख्यन्तु द्विरूपं  
तत् क्रमाद्भवेत् ॥ ४ ॥

तत्त्वदीपप्रकाशः ।

साधनसाध्यरूपता नैकस्येत्याशङ्क्य सर्वत्र भगवत एव द्विरूप-  
त्वमिति वक्तुमाह ॥ तत्साधनञ्च स हरिरिति ॥ साध्यरूपः स एव  
हरिः साधनरूपोऽपि ॥ चकारात्साधनसाधनरूपोपि ॥ साधनद्वैरूप्य-  
न्निरूपयन्ति ॥ प्रयाजादिसुगादीति ॥ यत्किञ्चित् तत्फलोपकारि  
स्वरूपोपकारि वा नातोऽन्यदस्तीत्यर्थः ॥ गणितानां नाम्ना प्रसिद्धानां  
प्रकृतिरूपत्वमित्याह ॥ प्राकृतमिति ॥ एतदेव नित्यं कर्म नित्यका-  
म्यव्यवस्था एषैव ॥ यद्यावदुक्तं कर्त्तव्यं नियतफलं तन्नित्यम् । नतु  
फलरहितम् । अकरणे राजदण्डवत् प्रत्यवायः ॥ नहि राजसेवाय  
फलाभावः ॥ एतत्प्रतिपादकत्वमेव मुख्यतया वेदस्य ॥ द्वितीयं रूप-  
माह ॥ काम्यन्तु वैकृतमिति ॥ कामनायामेव फलदं विकृतत्वात्स्व-  
भावतो न नित्यफलं प्रयच्छति ॥ ३ ॥ एवमुद्देशतो रूपद्वयं निरूप्य  
फलं निरूपयति ॥ ज्ञानिन इति ॥ भगवदानन्दरूपं फलं ब्रह्मज्ञान-  
युक्तस्य यथोक्तकर्मकर्तुरेव । तत्र हेतुः ॥ तदभिव्यक्तौ सत्यां षोढा  
विहितश्चेदभिव्यक्तो भवति तदैव फलं प्रयच्छतीति भावः ॥ मर्या-  
दायां क्रममोक्ष एव फलं सद्योमुक्तिस्त्वतिकृपया ॥ ब्रह्मज्ञानाभावे तु  
पञ्चात्मकात् भगवतः स्वर्गसुखं भवति भिन्नवाक्येष्वपि फलत्वेन  
निरूपणात् ॥ ४ ॥

आवरणभंगः ।

साधनेत्यादि ॥ ॥ पूर्वमानन्दस्यैव फलत्वेन कथनात्प्रीतिर्व्यापारत्वमेव वाच्य-  
म् । आनन्दश्च भगवान् यज्ञश्च स एवेति साधनसाध्यरूपता एकस्य हरेर्न वक्तुं श-  
क्येत्याशङ्क्य सर्वत्र यागविषये प्रपञ्चादौ च भगवत एव तथात्वमिति वक्तुं सांप्रतं  
यागविषये तथात्वमाहेत्यर्थः ॥ ॥ साध्यरूप एवेत्यादि ॥ ॥ साधनानामपि  
यागप्रकरणएवश्रावितत्वेन पुरुषसूक्ते तद्विवरणरूपद्वितीयस्कन्धाध्याये च तेषां  
भगवदवयवत्वस्य निर्णीतत्वेन यथैकस्यैव रूपभेदाद्विरूपत्वं तथान्यत्रापीति न  
काप्यनुपपत्तिरित्यर्थः । एवं पञ्चात्मकत्वं सपरिकरं विवृतम् ॥ अतः परं द्विरूपत्वं  
विवरीतुमाहुः ॥ ॥ गणितानामित्यादि ॥ ॥ अग्निहोत्रमित्यादीनां संख्यातानां  
नाम्ना प्रसिद्धानां कौण्डपायिनामयनेति वायव्यपशुरित्येवं नामान्तरादिना न किन्तु  
स्वनाम्ना प्रसिद्धानां प्रकृतिरूपत्वं निखिलमङ्गजातं यत्र निरूप्यते सा प्रकृतिस्ता-  
दृशत्वमोह्यत्यर्थः ॥ ननु नित्यकाम्यभेदेनापि द्वैरूप्यं दृश्यत इति तत्कुतो नोच्यत  
इत्याहुः ॥ ॥ एतदेवेत्यादि ॥ ॥ तथाच पर्यायमात्रमेव भिद्यते नतु स्वरूपमि-  
त्यर्थः ॥ ॥ एवेति ॥ ॥ उच्यमानप्रकारिका । प्रकृतेः कथन्नित्यत्वमित्याकाङ्क्षायां  
नित्यलक्षणकथनमुखेनोत्तरमाहुः ॥ ॥ यदित्यादि ॥ ॥ यत् यावदुक्तं तत्प्रकरणे  
कृत्स्नमुक्तमङ्गजातं कर्तव्यं ॥ यत्र तादृशं नियतफलं अवश्यं भाविफलं यस्य  
तादृशं च तन्नित्यमित्यर्थः ॥ एकदेशिभिर्नित्ये फलनाद्रियत इति तन्निराकर्तुमाहुः ।  
॥ नत्वित्यादि ॥ ॥ नन्वकरणे प्रत्यवायजनकत्वमेव नित्यत्वमस्तु “ आश्विनं  
धूम्रललाममालभेत यो दुर्ब्राह्मणः सोमं पिपासेत ” “ वीरहा वा एष देवानां  
योऽग्निमुद्रासयते ” इत्यादिष्वकरणोद्भासनादिना दौर्ब्राह्मण्यवीरहत्यादिश्रावणात् ।  
नतु फलवत्त्वमपि काम्ये व्यभिचारादित्यत आहुः ॥ ॥ अकरण इत्यादि ॥ ॥  
अयमाशयः ॥ वेदानां भगवन्निश्वासरूपत्वात्प्रवर्त्तको विधिस्तदाज्ञारूपः । “ श्रु-  
तिस्मृती ममैवाज्ञे ” इति स्मृतेश्चायजधातोः पूजार्थत्वाद्यागः पूजारूपः । ईज्य-  
श्च भगवानेव । “ यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः ” । “ मां यजेताहरेत् क्रतून् ” ।  
“ नतु श्रौतेन पशुना मां यजेत वनाश्रमी ” इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यः ॥ एवं सति  
यागो भगवदाज्ञसत्तत्पूजारूप इति सिद्धयति । तथासति तदकरणे प्रत्यवायः  
करणे फलं चोक्तन्यायेन युक्तमिति ॥ नच यत्र यजतिर्नश्यतस्तत्र पूजारूपत्व-  
व्यभिचार इति शङ्क्यम् । “ ईजे गुं यज्ञं विधिवदग्निहोत्रादिलक्षणैः ॥ प्राकृतै-  
र्वैकृतैर्यज्ञैर्द्रव्यज्ञानक्रियेश्वरम् ॥ ” इति दशमस्कन्धीयवाक्येन तादृशैरन्यैश्च स-  
र्वेषां पूजात्वनिर्णयात् ॥ एवमेव स्मार्त्तिकर्मण्यपि बोध्यम् ॥ “ सन्ध्योपास्त्यादि-

कर्माणि विधिना नोदितानि मे ॥ पूजां तैः कल्पयेत्सम्यक् ” इति तत्रापि तथावा-  
क्यात् ॥ नन्वेवंसति काम्येऽपि यजत्यादिश्रवणेनोक्तरूपतायास्तुल्यत्वात्तदकर-  
णेऽपि प्रत्यवायापत्तिः । नचेष्टापत्तिः कर्तुं शक्या । तथावाक्याभावात् । अतः  
पूर्वोक्तवसंगतमित्याशंकायामाहुः ॥ ॥ एतदित्यादि ॥ ॥ इदमनुपदमेव व्यु-  
त्पाद्यम् । एवञ्चाकरणे प्रत्यवायजनकत्वे सति नियतफलत्वं नित्यत्वमित्येव  
नित्यलक्षणम् । यावदुक्तेत्यादि तु प्रकृतित्वबोधनायेति बोध्यम् ॥ काम्यन्तु  
वैकृतमित्यत्र वैकृतमित्युद्देश्यम् ॥ ॥ फलनिरूपयतीति ॥ ॥ “ जनको ह  
वैदेहो बहुदक्षिणेन यज्ञेनेजे ” । “ कर्मणा मृत्युमृषयो निषेदुः प्रजावंतो द्रवि-  
णमिच्छमानाः । अथापरेमनीषिणः कर्मभ्योऽमृतत्वंमानशुः ” इत्यादिश्रुतिभ्यो  
“ ज्ञात्वाऽज्ञात्वा च कर्माणि जनोऽयमनुतिष्ठति ॥ विदुषः कर्मसिद्धिः स्यात्तथा  
नाविदुषो भवेत् ॥ ” इति भगवद्वाक्याच्चाधिकारिभेदात्फलभेद इत्यधिकारिणं  
व्यापारं कर्मस्वरूपञ्च ज्ञापयितुं नित्यानां यागानां फलं निरूपयतीत्यर्थः ।  
॥ भगवदानन्देति ॥ ॥ एतेन सिद्धान्ते मोक्षस्वरूपमधिकारी चेति द्वयं विवृतं  
ज्ञेयम् ॥ एवञ्च भवाय नाशयेति पञ्चमस्कन्धे प्रियव्रतं प्रति ब्रह्मवाक्येन देह-  
योगस्य भगवद्विचारितकार्यार्थत्वादेते ब्रह्म ज्ञात्वा निष्कामा अपि कर्म कुर्व-  
न्वित्येवंरूपेण ये विचारितास्तेषामिदम्फलम् । अयं चार्थ उत्तरमीमांसायां साध-  
नाध्यायतुरीयपादे जैमिनिमतन सिद्धयति ॥ ‘ तत्र पुरुषार्थोऽतः शब्दादिति  
वादरायणः ’ इति सूत्रे केवलविद्यायाः वेदनविषयात्केवलाद्भगवत् एव वा पुरुषार्थो  
मोक्षादिर्नतु कर्मणः “ ब्रह्मविदाप्नोति परं नायमात्मा ” इत्युपक्रम्य “ यमेवैष  
वृणुते तेन लभ्यः ” इत्यादिशब्दादिति सिद्धान्तमुक्त्वा शेषत्वात्पुरुषार्थवादो  
यथान्येष्विति जैमिनिरित्यादिसूत्रेषु विद्यायाः कर्मागत्वात्कर्मणो वा विद्यासमुच्चि-  
तात्कर्मणो वा पुरुषार्थ इति जैमिनिमतस्य दर्शितत्वात् ॥ ॥ हेतुरिति ॥ ॥  
व्यापारः ननु ज्ञानाभावेऽपि यागत्वस्याविशिष्टत्वाज्ज्ञानिनं प्रत्येव तदभिव्यक्तौ  
को हेतुरित्यत आहुः ॥ ॥ षोढेत्यादि ॥ ॥ औपनिषदं शाब्दमग्निहोत्रादि  
पञ्चकम्पूर्वकाण्डोक्तमित्येवं षोढा विहितश्चेत्तदा वेदार्थरूपो भगवान् व्यक्तो भवति  
“ यथा विश्वसृजः प्रथमाः सत्रमांसत ” इति सहस्रसमे सत्रे “ ततो ह जज्ञे भुवन-  
स्यगोपाः । हिरण्यः शकुनिर्ब्रह्मनामा ” इत्यत्र तदैव फलं मोक्षरूपं प्रयच्छति  
नान्यथेत्यर्थः ॥ नन्वभिव्यक्तश्चेत्तस्य एव मोक्षे कुतो न प्रयच्छतीत्यत आहुः ।  
॥ मर्यादायामित्यादि ॥ ॥ एवञ्च पूर्वकाण्डेऽपि विराजमभिसम्पद्यते ।  
अमृतीभवतीत्येवं जातीयकेषु वाक्येषु यो मोक्ष उक्तः सोऽपि ज्ञानसाहित्य

एवेति ज्ञेयम् । कमिकत्वं चार्चिरादिमार्गबोधकश्रुतिभ्य इति च तत्प्रकारस्त्वग्रे  
साधनप्रकरणे सर्वं जानन्नित्यारभ्य तथाविधानित्यन्तेन स्फुटीकरिष्यते ॥ ननु यदि  
मर्यादायां कममुक्तिरेव तदा सद्योमुक्तिर्योगादिनापि न स्यात् । मर्यादायास्तत्रापि  
तुल्यत्वात् । तथाच तद्बोधकवाक्यविरोध इत्यत आहुः ॥ ॥ अतिकृपयेति ॥ ॥  
तथाच वाक्यानि पुष्टिमार्गपराणीति न विरोध इत्यर्थः ॥ एवमुक्तमाधिकारणां  
फलमुक्त्वा मध्यममन्दयोः क्रमेण फलमाहुः ॥ ॥ ब्रजेत्यादि ॥ ॥  
॥ भिन्नवाक्येष्विति ॥ ॥ ज्ञानमन्तरेण यत्र केवलो यागो बोध्यते तादृशेषु  
स्वर्गकामादिवाक्येषु । तथाच तदन्यथानुपपत्त्या मध्यमादेरपि फलमङ्गीक्रियत  
इत्यर्थः ॥ एवञ्च द्विरूपं तत्कमाद्भवेदित्यत्र अधिकारिकमादित्यथा बोध्यः ॥ ४ ॥

व्रजभाषाटीका ।

माध्यरूप तथा साधनरूप तथा साधनके साधनरूपर्भा ह-  
रिही हैं क्योंकि “ यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः ” या मन्त्रमें तथा  
यामन्त्रके विवरणरूप “ पुरुषावयवैरेते संभाराः संभृता मया ” ॥  
इत्यादि भागवतद्विर्तायस्कन्धश्लोकमें माध्यसाधनरूपता भगवा-  
नकहाँ वर्णनकर्गह । साधन दो प्रकारके होवे हैं, प्रयाजादिक तथा  
सृकआदि ॥ फलको अथवा स्वरूपको उपकारकस्वेवागे जो कोई  
पदार्थ होय वामों साधन कहनो । गिनेभये अग्निहोत्रादिक जे पाँच  
हैं ये प्रकृतिरूप कहाँवहें इनमोंही नित्यकर्म कहें हैं । नित्यकर्म  
वाहीमों कहें हैं जो कर्म वेदमें जितनो सम्पूर्ण कहाँहोय वितनों  
समग्र करनापडे तथा जाको फल अवश्य होतोहोय और जेमें  
राजाकी आज्ञा नहिं करवेवागैँ राजा दण्ड देतहें ऐमेंही जाकर्मके  
नहीं करवेमें प्रायश्चित्त लगतोहोय यह नित्यकर्मको लक्षणह । यहाँ  
फलहितकर्मसुं नित्यकर्म नहिं कहें हैं, जेमें राजमेवामें फलको  
अभाव नहिं होय तेमें नित्यकर्मको फलभी अवश्य होयहीह ॥ वे-  
दभी मुख्यताकरके नित्यकर्मकोही प्रतिपादन करें हैं, जो काम्य-  
कर्म है वाहीमों विकृति कहें हैं, काम्यकर्म है सो कामना होय तो

रुक्त्वात् ॥ ६ ॥ अतः पारिशेष्यादात्मसुखमेव वाक्यार्थः ॥ अत एव स्वर्गशब्दः स्वसाधने भगवता प्रयुक्त इत्याह ॥ तत्सत्त्वतो भवेत् ॥ सत्त्वगुणप्रवृद्धावेव तदात्मसुखम्भवेत् ॥ सत्त्ववृद्धिश्च शुद्ध्या ॥ अतः पञ्चानामावृत्तेः स्वसाधने भगवदुक्तेश्चोपयोगः ॥ भगवद्वाक्यमाह ॥ स्वर्गः सत्त्वगुणोदय इति ॥ सत्त्वगुणाद्वा उदयो यस्येति ॥ ७ ॥

आवरणभंगः ।

नन्वत्र लोकविशेष एव तादृशं सुखमुच्यतामात्मसुखे किं मानमित्याकांक्षायां वाक्यं व्याकुर्वन्तस्तद्वदन्ति ॥ ॥ दुःखेत्यादि भवतीत्यन्तम् ॥ ॥ तथाच दुःखासंभिन्नत्वे सति ध्वंसाप्रतियोगित्वे सत्यभिलाषातिरिक्तासाधरणकारणसम्पाद्यं सुखं स्वर्ग इत्यर्थः । अत्र प्रथमं सत्यन्तं लौकिकसुखवारणाय । द्वितीयन्तु नित्यत्वबोधनायैव विशेष्य दलम्परमानन्दवारणायेत्येवं द्वयोर्वारण आत्मसुखमेव पारिशेष्यात्सिध्यतीति श्रुतार्थापत्तिरेव मानमित्यर्थः ॥ ॥ तदाहेति ॥ ॥ तस्माद्धेतोः पारिशेष्यं व्युत्पादयितुं लोकेषु तदभावं सार्द्धेनाहेत्यर्थः ॥ ॥ स्पृहादिकं श्रूयत इति ॥ ॥ “देवासुराः संयत्ता आसन् । तदग्निं न्यकामयत तेनापाकामत् ॥ तदिन्द्रो चायत् । आदित्या वा अस्माल्लोकादमुं लोकमायन् । तेऽमुं लोकं गत्वा पुनरिमं लोकमभ्यव्यायन् ” इत्यादिषु श्रूयत इत्यर्थः ॥ नन्वेवं सति पूर्वोक्तदोषाणां ब्रह्मलोके अभावात् स एव स्वर्गत्वेन वाच्य इत्यत आहुः । नचेत्यादि ॥ ॥ प्रवृत्तीत्यादि ॥ ॥ फलशेषिणः कर्तुरित्यर्थः ॥ तावता कथन्तस्य स्वर्गत्वेनाग्रहणमित्याहुः ॥ ॥ अतएवेत्यादि ॥ ॥ अयमाशयः । द्विविधो हि ब्रह्मलोकः । प्रवृत्तिमार्गगम्योनि वृत्तिमार्गगम्यश्च । तत्राद्यः क्षयादिदोषवान् । तस्य तादृशत्वं स्कांदे कुमारिकाखंडे इंद्रद्युम्नकथायां प्रसिद्धं । स हि मार्कण्डेयतालजंघादीनां स्वनामयशः पृष्ट्वा तैर्न जानीम इत्युक्ते पाताङ्गीतो मार्कण्डेयाद्युपदेशेन कश्चिद्बहुकल्पजीविनं कूर्मं पृष्ट्वा तेन तद्यशस्युक्ते भूमौ यशः-सत्त्वेन पुनर्ब्रह्मलोकं जगामेति कथनात् । रामायणेऽपि अन्नदानाभावेन ब्रह्मलोके क्षुधापीडितस्य कस्यचित्सहस्राश्वमेधयाजिनः पुनर्भूमावागत्य तद्वत्त्वं पुनस्तत्र गमनोक्तेश्च ॥ द्वितीयस्तु वेदान्तविज्ञानेति श्रुत्या अक्षयः पूर्वोक्तदोषरहितः । तत्र यथा योगयुक्तस्य परिव्राजो रणभिमुखे हतस्य च सूर्यमण्डलमभित्वा मार्गस्तथा कर्ममुक्तिगन्तुर्ध्रुवं नीचैः कृत्य तदुपरिमार्गस्तेन पथा द्वितीये मार्गे गम्यते । स च प्रवृत्तिमार्गनिष्ठस्य कर्तुस्तादृशाधिकाराभावादगम्य इति तन्मार्गगमनाभावान्न-



तस्य तत्प्राप्तिः । अत एव तदभिलाषेण न तस्योपनय इत्यभिलाषोपनीतत्वा-  
भावान्न-स स्वर्गशब्दवाच्य इति ॥ प्रथमस्योक्तस्कान्दादिसिद्धस्वरूपत्वमभिस-  
न्धायाहुः ॥ ॥ नापीत्यादि ॥ ॥ अनुपपत्तेरिति ॥ ॥ दुःखसम्भेदादिरूपा-  
यास्तस्या इत्यर्थः ॥ ६ ॥ ॥ अत इति ॥ ॥ लक्षणाप्रवेशात् । नन्वात्मसुखं  
जैवानन्द एव भवतु तस्य आन्तःकरणत्वे किं मानमित्याकांक्षायामुक्तार्थदाढ्याय  
गमकमाहुः ॥ ॥ अत एवेत्यादि ॥ इत्याहेति ॥ ॥ अनेनाशयेनाहेत्यर्थः । ननु  
लक्षणानुरोधाद्भवत्वेवं तथापि प्रवृद्ध एव सत्त्व आत्मसुखं भवति नाप्रवृद्ध इत्यत्र  
किङ्कमकमतआहुः ॥ अतः पञ्चानामित्यादि ॥ ॥ अन्यथा फलस्य विधि-  
वाक्येवाक्तेत्वादेकस्यैव करणे सकृदेवच करणे फलावश्यंभावादर्शपूर्णमासा-  
भ्यामिष्टा सोमेन यजेत । “यावज्जीवमग्निहोत्रञ्जुहोति प्रतिसम्बत्सरं सोमः पशुः  
प्रत्ययनन्तथेत्यादिवाक्यबोधितम्पञ्चानाङ्करणमनावर्त्तनञ्च व्यर्थमेव स्यादतः  
प्रवृद्धिरेव भगवद्वाक्येऽभिप्रेतेत्यर्थः । पुरः स्फूर्तिकार्यकथने भगवद्वाक्ये लक्षणाप-  
त्तिरिति तत्परिहारायाहुः ॥ ॥ सत्त्वगुणादिति ॥ ७ ॥

ब्रजभाषाटीका ।

शङ्का । स्वर्गशब्दसों आत्मसुखको ग्रहण करोहो तैसें स्वर्गश-  
ब्दसों ब्रह्मलोकको ग्रहण करना चाहिये क्योंकि पहिले कह्यो दोष  
ब्रह्मलोकमें नहीं है ॥ उत्तर । प्रवृत्तिमार्गनिष्ठत्वादिति । ब्रह्मलोक  
दोषहैं जो प्रवृत्तिमार्गीनकरके जावेजोग्य है वो क्षयादिदोषवालोहै,  
हैं इन्द्रद्युम्नराजाने मार्कण्डेयतालजंवादिऋषिनसों पूछा मेरो यश  
पृथ्वीमें है या नहीं ? उननैं कहा राजा ! हमकूँ खबर नहिं है यह  
सुनिकें राजाकूँ भय भयो जो मेरो यश नहिं होयगो तो मैं ब्रह्म-  
लोकसों गिरिजाउँगो, फिर राजानें बहुतकल्पजीवी कूर्मसों पूछा  
वानें कही तेरो यश है तब राजा ब्रह्मलोकमें गयो, ये बार्ता स्का-  
न्दकुमरिकाखण्डमें प्रसिद्ध है, तासों ब्रह्मलोक नाशशाली है तासों  
स्वर्गशब्दवाच्य होयनहींसके और जो अक्षय ब्रह्मलोक है तामें  
योगयुक्त ब्रह्मज्ञानी परित्राट् तथा रणमें सन्मुख मरवेवालो ये  
दोनों .सूर्यमण्डलको भेदकरके जावें हैं, अथवा जो ब्रह्मज्ञानी कर्म



करे है वो ऋषिगर्गकारिकें ध्रुवके ऊपर होयकरके जावेहै. वा  
अक्षय सत्यलोकमें ऋषिगर्गवालो मध्यमाधिकारी नहींजाय-  
सकें है तासों मध्यमाधिकारीकेलिये स्वर्गलोकमें आत्मसुखकोही  
ग्रहणकरनो ॥ ऐसैही इन्द्रलोकभी दुःखमिश्रितसुखवालो है तासों  
वहभी स्वर्गपदको अर्थ नहीं होयसकैहै ॥ ६ ॥ तहाँ आत्म-  
सुखसों अन्तःकरणके सुखकोही ग्रहण करनो याहीसों ( स्वर्गः  
सत्त्वगुणोदयः ) इत्यदिवाक्यमें भगवानने अन्तःकरणके सुखको  
साधन जो सत्त्वगुणको उदय है तासों स्वर्ग कह्यो है, सत्त्वगुण बढे  
है तब आत्मसुख होवैहै और अन्तःकरण शुद्ध होयवेसों सत्त्वगुण  
बढेहै. अग्निहोत्र दर्श पूर्णमास चातुर्मास्यशु सोम इन ऋषिगर्गकी  
प्रवृत्तिसों अन्तःकरण शुद्ध होय है ॥ ७ ॥

अतस्तदेव हि फलङ्कामाभावेऽपि सिध्यति ॥  
यागादेर्भगवद्रूपात्कामितं फलति स्फुटम् ॥ ८ ॥  
श्लिष्टप्रयोगाद्वेदस्य परोक्षकथनं मतम् ॥ बा-  
लानुशासनार्थाय रोचनार्थं तथा वचः ॥ ९ ॥

तत्त्वदीपप्रकाशः ।

एतदात्मसुखस्वस्वरूपफलं नित्यमाह ॥ अतस्तदेवेति ॥ तैः स्व-  
भावत एव शुद्धिः सम्पाद्यत इति भोजने दृष्टिवन्न कामनामपेक्षते ॥  
तर्हि विकृते कथं कामनापेक्षा अधिभौतिकं वा फलं कथमित्याकांक्षा-  
यामाह ॥ यागादेरिति ॥ भगवद्रूपत्वात् काम्यो नित्यो वा यागादिः  
कामितम्फलति ॥ स्फुटमिति ॥ लौकिकम्फलं यतः स्पष्टमेव कारी-  
र्यादेः फलमनुभूयते ॥ ८ ॥ ननु स्वर्गी नाम लोक एव ॥ “ सुवर्गाय  
वा एतानि लोकाय हूयन्ते ” इति ॥ “ देवेभ्यो वै स्वर्गी लोकस्तिरो-  
भवत् ” इति “ सुवर्गो वै लोको नाकः ” इति सर्वत्र स्वर्गलोक एव

स्वर्गशब्दार्थस्तत्कथमुच्यत आत्मसुखं स्वर्ग इति ॥ सत्यम् ॥ अङ्गेषु  
स्वर्गशब्देषु लोकसामानाधिकरण्यात्तद्वाचकत्वम् ॥ प्रधाने च वाक्य-  
शेषस्य विद्यमानत्वादात्मसुखवाचकत्वमेव ॥ अन्यथा वाक्यशेषो व्यर्थः  
स्यात्सन्देहाभावात् ॥ अतः स्वर्गशब्देनोभयमपि ग्राह्यं ॥ तर्हि वेदे प्रधा-  
नवाक्येषु निःसंदिग्ध एव स्वर्गशब्दः कथं न प्रयुज्यते । तत्राह  
॥ श्लिष्टप्रयोगादिति ॥ श्लिष्टप्रयोगार्थन्तथा न प्रयोगः श्लिष्टप्रयो-  
गस्य च फलम्परोक्षकथनम् ॥ परोक्षकथनस्यापि प्रयोजनम्बालानु-  
शासनम् ॥ तेषामनुशासनं रुच्युत्पादनमेव ॥ अतस्तथा वचनं श्लिष्ट-  
प्रयोगद्वयार्थः ॥ ९ ॥

आवरणभङ्गः ।

॥ नित्यमिति ॥ ॥ कामनासहकराभावेऽपि यागस्वरूपमर्वाद्या जायमान-  
मित्यर्थः ॥ एतत्कथनप्रयोजनमाहुः ॥ ॥ तैरित्यादि ॥ ॥ तर्हीति ॥ यदि  
यागत्वेन शुद्धित्वं कार्यकारणभावात्प्रकृतौ कामनानपेक्षा तर्हीत्यर्थः ॥ ॥ वेति ॥  
वाशब्दः समुच्चये ॥ ॥ अधिभौतिकमिति ॥ ॥ लोकात्मकं ॥ ॥ कथमिति ॥  
कामनासद्भावेऽपि यागत्वेन शुद्धित्वेन यागत्वेनात्मसुखत्वेन च यः कार्यकारणभा-  
वस्तस्याभङ्गाभित्ययागस्वरूपस्य च तुल्यात्वाभित्यं फलं विहाय कामितम्फल-  
ङ्कृतौ जायत इत्यर्थः ॥ मूले भगवद्रूपादिति प्रयोगो भावप्रधान इति ज्ञापयेत्तमाहुः  
॥ भगवद्रूपत्वादिति ॥ ॥ तथाच भगवतः सर्वफलदातृत्वात्तत्कामानुरोधात्त-  
थेत्यर्थः ॥ ननु भगवद्रूपत्वस्य कामनाभावेऽपि तोल्यात्तदापि कामितं कुतो न  
फलतीत्याकांक्षायां युक्तिं समाधायिकामाहुः ॥ ॥ स्फुटमित्यादिना ॥ अयमर्थः  
यथा नित्यकरणे यावज्जीवादिवाक्यं नियामकं न तथा विकृतिकरणे किमपि  
नियामकमस्ति । अतस्तत्र कामनयैव प्रवृत्तिरिति निश्चीयते । सा चेत्कामना या-  
गेन न पूर्येत तदा विश्वासाभावे पूर्वकाण्डमेवोच्छिद्ये ततः कामितमेव तस्माद्भ-  
वति नतु सत्त्वशुद्धिरपीति भगवत्कृता मर्यादा तादृशफलदर्शनानुरोधाज्जायते ॥  
अतो विकृतौ कामनापेक्षा । तत एव चाधिभौतिकात्प्रकृतिरूपादपि लोकरूपम्फ-  
लमिति दृष्टानुरोधादेवासन्देह इत्यर्थः ॥ ८ ॥ पुनः किञ्चिदाशङ्क्य परिहरामि  
॥ ननु स्वर्ग इत्यादि ॥ ॥ लोकसामानाधिकरण्यादिति ॥ लोकशब्दसामानाधि-  
करण्यादित्यर्थः ॥ ॥ सन्देहाभावादिति ॥ प्रधानवाक्ये लोकपदसामानाधि-

करण्याभावेन “स्वर्गः संवशुणोदयः” इति भगवद्वाक्ये च सन्देहाभावादित्यर्थः ॥ सिद्धमाहुः ॥ ॥ अत इति ॥ भगवद्वाक्यस्य लौकिक फलस्य च दर्शनादुक्तरीत्या व्यवस्थासामञ्जस्याच्चेत्यर्थः ॥ तर्हीति ॥ यद्युभयमपि वेदाभिप्रेतं तदेत्यर्थः ॥ परोक्षकथनमित्यादि ॥ ॥ तदुक्तमेकादशस्कन्धे “परोक्षवादो वेदोऽयं बाला-  
नामनुशासनम् ॥ कर्ममोक्षाय कर्माणि विधत्ते ह्यगदं यथा ” इति फलश्रुतिरियं  
नृणां न श्रेयोरोचनम्परं श्रेयोविधिस्तथा प्रोक्तं यथा श्रेयस्यरोचनमिति च ॥ ९ ॥

ब्रजभाषाटीका ।

अर्थात् वर्षके वर्ष सोमयज्ञ कियोजाय, छःमहीनामें पशुयाग कियोजाय नित्य अग्निहोत्र कियोजाय, याप्रकार बारंबार आवृत्ति करवेसों अन्तःकरणशुद्धिकी वाञ्छा जानराखीजाय तोभीकर्मके स्वभावसोंही अन्तःकरण शुद्धहोजाय है । जैसे तृप्तिकी कामना न राखकेभी जो भोजन कियोजाय तो तृप्ति स्वतः होजायहै ॥ शङ्का—प्रकृति अग्निहोत्रादिकनकारिकें अन्तःकरणशुद्धिरूप कार्य होयवेमें कामनाकी अपेक्षा नहीं है तो विकृति कारीर्यादियागमें कामनाकी अपेक्षा क्यों होनीचाहिये, तथा प्रकृतियाग अन्तःकरणकी शुद्धिकेप्रति कारण है तो कामनावारे हीनाधिकारीकीभी अन्तःकरणशुद्धि होनीचाहिये वाकूँ आधिभौतिकयज्ञकारिकें वांछित स्वर्गलोकादिदिक्की प्राप्ति कैसे होयजावें है ? उत्तर—यागालेखिति ॥ यागादिः भगवान्को रूप है, भगवान् सब फलके दाता हैं तासों कामनाकी अनुसार फल देंहै अर्थात् नित्ययाग अग्निहोत्रादिकनमें तो “यावज्जीवं अग्निहोत्रञ्जुह्यात्” इत्यादिवाक्य नियामक है तासों वेदकी आज्ञासों प्रवृत्ति होयगी परन्तु वृष्टिपुत्रादिकनकेलि-  
ये कियेजाँय जो कारीरीआदि याग हैं उनमें तो कामनासोंही प्रवृ-  
त्ति होयहै, यदि उनसों कामना नहीं सिद्धहोय तो विश्वास नहीं रहेगो तो कोईकी प्रवृत्ति नहींहोयगी तथा पूर्वकाण्ड उच्छिन्न हो-  
जायगो ॥८॥ शङ्का—“सुवर्गाय वा लोकाय ह्यन्ते” इत्यादि अने-

कवाक्यनमें सुवर्गलोककोही नाम स्वर्गलोक है यहां स्वर्गनामसों आत्मसुख कैसे कहोहो ॥ उत्तर—अङ्गनमें स्वर्गलोक लिख्योहै “सोमेन यजेत स्वर्गकामः” इत्यादि मुख्यवाक्यनमें केवल स्वर्ग लिख्योहै, वाक्यशेषसोंभी आत्मसुखकोही वाचक स्वर्ग मालुमहोवे है । “स्वर्गः सत्त्वगुणोदयः” इत्यादिभगद्वाक्यसोंभी आत्मसुख-ही स्वर्गशब्दको अर्थ निःसन्देह मालुमपडेहै परन्तु लोकमें हीनाधिकारीनकूँ स्वर्गलोकभी प्राप्तहोजावेहै तासों स्वर्गशब्दके दोनोंही अर्थ हैं ॥ कदाचित् कहोगे वेदमें ऐसो सन्देह क्यों राख्यो सन्देहरहित स्वर्गशब्द क्यों नहीं उच्चारणकियो तहाँ कहें हैं सन्देहसहित स्वर्गशब्दको जो प्रयोग है सो परोक्षकथनके लिये है । परोक्षकथन बालानुशासनार्थ है अर्थात् हीनाधिकारीकी रुचि बढायवेकेलिये है ॥ ९ ॥

“पशुबन्धयाजी सर्वलोकानाम्प्रोति निश्चयः” ॥  
अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतम्भव-  
ति ॥ १० ॥ अक्षय्यं सर्वलोकाख्यमात्मरूपं नचा-  
न्यथा ॥ नित्ये स्वर्गः फलं नान्यत्पश्वादिर्वि-  
कृतौ फलम् ॥ ११ ॥ रूपन्तदेव विकृतेः किञ्चि-  
त्साधनमन्यथा ॥ विकृताद्धि हरेः किञ्चिद्विकृ-  
तम्फलमीर्यते ॥ १२ ॥

तत्त्वदीपप्रकाशः ॥

पञ्च कर्माणि नित्यानि तत्र त्रिषु स्वर्गः फलम् ॥ यथा “अग्नि-  
होत्रञ्जुहुयात्स्वर्गकामः” “दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत” ॥  
“उद्योतिष्ठोमेन स्वर्गकामः” इति ॥ पशुबन्धचातुर्मास्ययोस्तु न स्वर्गः

फलं श्रूयत इति वक्तुं वाक्यद्वयमाह ॥ सर्वलोकानिति ॥ १० ॥ समाधानमाह ॥ अक्षय्यमिति ॥ “अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतम्भवति” इत्यत्र “सर्वलोकान्पशुबन्धयाज्यभिजयति” इत्यत्रापि यदक्षय्यशब्देन सर्वलोकशब्देनोच्यते तदात्मसुखमेव वाक्यशेषोक्तम् ॥ तदेव पञ्चानां नित्यानामेकं फलं भवति ॥ इतोऽपि हेतोः स्वर्गशब्देनात्मसुखम् । पञ्चात्मकस्य भगवत एकत्वादप्यथा लोकपक्षे नैतदुपपद्यत इत्यर्थः ॥ उपसंहरति ॥ नित्ये स्वर्गः फलमिति ॥ बालाबालभेदेनोभयमपि ॥ अन्यत्पश्चादिकं न नित्यस्य फलं विकृतौ तत्फलम् ॥ ११ ॥ विकृतस्य कथं फलसाधकत्वमित्याशंक्याह ॥ रूपं तदेव विकृतेरिति ॥ तदेव भगवद्रूपं विकृतेरपि परं साधनं किञ्चिदन्यथा भवति ॥ तेन विकृतत्वं स च विकारो वेदोक्त इति सफलः ॥ तर्हि नित्यमेव फलं कुतो न साधयति तत्राह ॥ विकृतादिति ॥ १२ ॥

आवरणभंगः ।

स्वर्गविषये पुनः किञ्चिदाशङ्कन्ते ॥ ॥ पञ्चेत्यादि इति वक्तुमिति ॥ अनेन हेतुना वाक्यशेषस्य निर्णायकत्वं वक्तुं ॥ तथाच निःसंदिग्धेन संदिग्धनिर्णयः ॥ वाक्यशेषोऽपि स्वर्गशब्दमात्रयुक्तत्वेनात्मसुखस्य न विनिगमकः । अनुपपत्त्यन्तरस्य विद्यमानत्वादतो न तेन निर्णय इत्यर्थः ॥ वाक्यद्वयं चैतदापस्तम्बकल्पस्थम् ॥ तथाच चतुर्थे लोकपदात्पञ्चमे चाक्षय्यपदेन ध्वंसप्रतियोगित्वनिवारणाद्वाक्यशेषोक्तसुखत्वं लोकनिष्ठसुखस्य वक्तव्यं तावता प्रसिद्धिरपि न विरोत्म्यत इति भावः ॥ १० ॥ सुखमेवेत्येवकारेण लोकसुखव्यवच्छेदः ॥ तत्र युक्ति माहः ॥ तदेवेत्यादि ॥ ॥ पञ्चकर्तुरेकं फलं वक्तव्यम् ॥ नानात्वे कस्य फलमप्ययं कस्य पश्चादिति निर्णेतुमशक्यत्वात् । नच यज्ञक्रमाभिर्णयः “अन्युग्रपुण्यपापानामिहैव फलमश्रुते” इति न्यायेन पूर्वं महायागफलस्यापि संभवदुक्तिमौत्तवानभिष्टोम कत्वात् । नच तस्यैवेत्यपि “प्रजापतिर्यज्ञानमृजत” इति श्रुतौ यावदग्निहोत्रमा इति तुल्यत्वोक्तेः पौष्कल्यस्य तदप्रयोजकत्वात् ॥ न च यत्पश्चात्तस्यैवेत्यपि । नियामकाभावात् ॥ अत एकमेव निश्चयं । त्वच्चात्मसुखमेवेति तत्रापि हेतुः ॥ पञ्चात्मकेत्यादि ॥ ॥ स एव यज्ञः पञ्चविधोऽग्निहोत्रं दर्शपूणमासाविति श्रुतावे-

कत्वेनैव निरूपणादित्यर्थः ॥ नन्वकएव लोकस्तादृशः स्वीकार्य इति शंकायामाहुः ॥ अन्यथेत्यादि ॥ ॥ एतस्यैव विवरणं ॥ ॥ लोकेत्यादि ॥ सर्वान् लोकानित्यत्र सर्वपदस्यासङ्गुचितवृत्तिकत्वे लोकान्तरस्यापि प्राप्तेः पंचकर्तुः स्वर्गो न नियतः स्यात् ॥ स्वर्ग एव संकोचे उक्तरीत्या क्रमविरोधः । एकोत्तरं द्वितीयभवनादक्षय्यपदविरोधः ॥ यजमानार्थं तल्लोकागमनाभावेनाभिलाषोपनीतत्वविरोधश्च । अतः फलस्यैक्यं वाच्यम् ॥ तदात्मसुखानुक्रीकारेनोपपद्यत इत्यर्थः ॥ नच वाक्यविरोधः । विश्वेदेवा इतिवत्पदद्वयेन नानाविधात्मसुखानाङ्गयनेनाविरोधात् ॥ तस्मादात्मसुखमेव वाक्यशेषार्थ इति निश्चयः ॥ अतएवार्थवादाधिकरणे “सर्वत्वमाधिकारिकम्” इति सूत्रे यथाधिकारं सर्वत्वं ग्राह्यमिति बोधितम् ॥ तेन पूर्णाहुत्या सर्वान्कामानाप्नोतीत्यत्र यथा तदधिकारापेक्षं तथात्रैतदधिकारापेक्षमिति निष्कामाधिकारे आत्मसुखानुकूलं सकामाधिकारे च सङ्गुचितं तद्ग्राह्यमस्ते न तद्विरोधः ॥ भाष्यकारमतन्त्वत्र नादरणीयम् ॥ तदस्मभ्यः पूर्वप्रकरण एवोपपादितमिति न दोषः । तर्हि प्रसिद्धेः का गतिः ॥ इन्द्रादीनाञ्च कथं लोकप्राप्तिरित्यत आहुः ॥ ॥ बालेत्यादि ॥ ॥ नेति ॥ ॥ प्रधानवाक्ये ऽनुक्तत्वात्तथेत्यर्थः ॥ ११ ॥ एवं प्रकृतिरूपं विचारितम् ॥ अतः परं विकृतिरूपं विचारयितुं फलकथनमुखेनोपक्षिपन्ति ॥ ॥ विकृताविति ॥ ॥ तदेवेति ॥ ॥ अग्निहोत्राद्यात्मकम् ॥ ॥ तर्हीति ॥ ॥ अवेदोक्तत्वे यागत्वे च तुल्य इत्यर्थः । मूले किञ्चित्पदं विकृतविशेषणं किञ्चिद्विकृतादित्यर्थः ॥ १२ ॥

ब्रजभाषाटीका ।

प्रकृतिरूप जे नित्य पांच कर्म बताये उनमें तीन कर्मको स्वर्ग फल लिख्यो है, चातुर्मास्यको अक्षयसुकृत तथा पशुबन्धयज्ञको सर्वलोकजय फल लिख्यो है । अब यहां वाक्यशेषकारिके पांचों नित्यकर्मनको आत्मसुखरूप एकही फल मानें तबतो एकवाक्यता होयसकें है, जो लोकान्तरवाचक स्वर्गादिशब्दनकुं मानें तो न्यारे २ फल होयवैसों एकवाक्यता नहिं होयसकेगी, या कारणसोंभी स्वर्गशब्दसों आत्मसुखकोही ग्रहण करनो ॥ १० ॥ उपसंहार करें हैं नित्ययज्ञको स्वर्ग फल है । बाल जो ब्रह्मज्ञानरहित आधि-



भौतिक यज्ञ करवेवालो है वाकूँ इन्द्रादिलोक रूप स्वर्ग मिले है  
तथा आध्यात्मिक यज्ञ करवेवालो है वाकूँ आत्मसुख रूप स्वर्ग  
मिले है । अबाल जो ब्रह्मज्ञानी आधिदैविक यज्ञ करवेवारो है वाकूँ  
परब्रह्मपुरुषोत्तम मिले होय है । पशुधनादिकनकी प्राप्ति होनों तो  
नित्य यज्ञको फल नहीं है । विद्वत्पुत्रको फल है तहाँ विकृति-  
यज्ञ कैसे फल देते होंगे यह शङ्का नहीं करनी ॥ ११ ॥ रूपन्तदेवेति ।  
विकृतिरूप यज्ञभी भगवान्कोही स्वरूप है तासों फल देवेमें कछु  
आश्चर्य नहीं, प्रकृतियज्ञ जे अग्निहोत्रादिक हैं वेही साधनके थोड़े  
फर्कसों विकृतिरूप होजावें हैं । जैसे प्रकृतियज्ञमें जो जलकृंचममक-  
रके लावनों पशुकी कामना होय तो दुग्धदोहवेके पात्रसों जल  
लावै प्रतिष्ठाकी कामना होय तो मिट्टीके पात्रमें जल लावै और सब  
कर्म वैसोही करें इत्यादि थोड़ेसे विकारसों विकृतिरूप होजावें है  
परन्तु वे विकार वेदोक्त है । तासों फल है । वेदमें तो नहीं लिखो होय  
स्वेच्छाकरिकेही चमससों जल नहिं लावै और पीतलके पात्र वगैरे-  
सों जल लेआवै तौ प्रकृतिरूप तथा विकृतिरूप इन दोनोंमेंसों  
एकरूपभी नहिं होवै परिश्रम निष्फल होजावै । और विकृतिया-  
गसों विकृतही फल होवे है नित्यफल नहिं होवे है ॥ १२ ॥

नित्यकर्मप्रसिद्धयर्थं काम्यादीनां विधिः श्रु-  
तौ ॥ पशुपुत्राद्यभावेपि न नित्यकर्म सिध्य-  
ति ॥ १३ ॥ अङ्गेऽपि तत्फलं नित्ये ज्ञानादिभि-  
रुदीर्यते ॥ यथाकथञ्चिन्नित्यस्य सिद्धिर्वेदेन  
बोध्यते ॥ १४ ॥ ध्यानादिभिर्यथामूर्तरभि-  
व्यक्तिः परात्मनः ॥ आधानादिक्रियातोभि-  
व्यक्तिर्यज्ञस्वरूपिणः ॥ १५ ॥

तत्त्वदीपप्रकाशः ।

ननु वेदे किमिति विकृतं विकारफलं चोक्तमित्याशङ्क्याह ॥ नित्य-  
कर्मप्रसिद्ध्यर्थमिति ॥ तत्र साधकमाह ॥ पशुपुत्राद्यभाव इति ॥ १३ ॥  
नन्वेवमेव श्रुत्यभिप्राय इति किम्प्रमाणन्तत्राह ॥ अङ्गेपीति ॥ यतो  
वेदे नित्याङ्गेषु अपःप्रणयनादिष्वपि पश्चादिकम्फलमुदीर्यते ॥ नहि  
एकस्य कर्मणः फलद्वयं सम्भवति ॥ अत एकस्यामावृत्तौ यजमान-  
कामनया साङ्गस्यैव तस्य पश्चादिकफलम् ॥ तथा ज्ञानादिभिरपि फल-  
मुदीर्यते ॥ “य एवं वेद स पशुमान् भवति” इति ॥ तत्रापि काम-  
नायामेव भवतीति मन्तव्यं ॥ तच्च ज्ञानं कर्मागम् ॥ ननु कथमेवं वे-  
दस्याभिप्रायोध्यवसीयते स्वतन्त्रतयैव पश्चादीनाम्फलतास्त्विति चेत्त-  
त्राह ॥ यथाकर्थादिदिति ॥ नित्यस्याविकृतस्य भगवतो रूपस्य  
सिद्धिर्निष्पत्तिर्वेदेन बोध्यते ॥ १४ ॥ ननु कृतिसाध्यो यागादिः  
कथन्नित्य इति चेत्तत्राह ॥ ध्यानादिभिरिति ॥ यथा ध्यानधारणादि  
भिर्भगवन्मूर्तेरानन्दरूपस्याभिव्यक्तिस्तथा आधानादिसोमान्तक्रिया-  
भिर्वेदबोधितदेहचेष्टारूपाभिर्ध्यानादिसहिताभिर्यज्ञरूपिणोऽपि भगव-  
तोभिव्यक्तिरित्यर्थः ॥ १५ ॥

आवरणभङ्गः ।

॥ पशुपुत्राद्यभाव इति ॥ ॥ फलाकांक्षाविरहस्य स्वर्गकामनायाश्च सर्वकाम-  
भावाद्यदि कामितफलार्थं साधनं वेदेन नोच्येत ततः फलञ्च यदि न स्यात्तदा  
वेदे अनाश्वासप्रसङ्गान्नित्ये प्रवृत्तिः कुण्ठिता स्यादतस्तथेत्यर्थः ॥ हविःसहायादि-  
सापेक्षत्वाद्यथाश्रुतो वार्यः ॥ १३ ॥ ॥ अङ्गेपीति ॥ ॥ मूलस्थोऽपिशब्दो  
ज्ञानादिभिरित्यनेनाप्यन्वेति ॥ ॥ उदीर्यत इति ॥ ॥ “चमसेनापः प्रणयेत्  
गोदोहनेन पशुकामस्य मृण्मयेन प्रतिष्ठाकामस्य कांस्येन ॥ १४ ॥ ॥  
इत्यादिषु वाक्येषूच्यते ॥ तथाच विकृतौ यत्प्रधानफलन्तन्नित्ये अङ्गफलत्वे-  
नोच्यते तेन विकृतापेक्षया प्रकृतस्याधिक्यं बोध्यते ततश्च विकृतेस्तादर्थ्यं ज्ञायते ॥  
यथा अर्थवादस्य ॥ अतो न विकृतेर्नित्यफलसाधकत्वमित्यर्थः ॥ ननु चतुर्थस्य  
तृतीये विचारितं । द्रव्यसंस्कारकर्मसु परार्थत्वात्फलश्रुतिरर्थवादः स्यात् । “यस्य



पर्णमयी जुह्वर्भवति न स पाप ५ श्लोकं शृणोति यदाङ्गे चक्षुरेव भ्रातृव्यस्य वृद्धे ।  
यत्प्रयाजानुयाजा इज्यन्ते वर्म वा एतद्यज्ञाय क्रियते वर्म यजमानाय ” इत्यादिषु  
द्रव्यसंस्कारकर्मसु या फलश्रुतिः सार्यवादः । एतेषां कृत्वर्थत्वात् तन्निवर्तनाति-  
रिक्तस्य कामादिपदाभावेन कल्पयितुमशक्यत्वात् प्रकृते वर्तमानप्रयोगाच्च ।  
ऋतुसम्बन्धश्चैषां वाक्यादिगम्यः । नैमित्तिके विकारत्वात्कृतुप्रधानमन्यत्स्यादित्य-  
धिकरणे अपःप्रणयनादिवाक्यान्मुदाहृत्य तेषां पात्राणां नैमित्तिककाम्याङ्गत्वेव  
व्यवस्थापितेति जुह्वादिषु फलाभावात्तादृशापःप्रणयनादिषु नित्याङ्गत्वाभावाच्च  
कथमेवमुच्यत इति चेन्मैव । एतस्य फलवादस्य गुणवादत्वेन जुह्वादिप्राशस्त्ये  
गौणत्वेऽपि तद्विशिष्टयागगुणबोधने बाधकाभावात् । असद्गुणस्य सद्बोधने तद्भा-  
गस्य प्रताणरत्वापत्तेर्विध्यंशेष्युपप्लवाच्च । अतो यागस्यैव तत्फलमित्यदोषः ॥ एवम-  
ग्निहोत्रादीनां नित्यत्वेऽपि “ अग्निहोत्रजुहुयात्स्वर्गकामः प्रजाकामः पशुकामः  
सर्वेभ्यो वै कामेभ्यो दर्शपूर्णमासौ ” इत्यादिवाक्यान्तरेण काम्यत्वस्यापि  
भावणान्नित्यानामेव कामनामात्रेण काम्यत्वमिति स्वरूपभेदाभावान्नित्याङ्गत्व-  
मप्यपःप्रणयनादीनामदुष्टमेवेत्येवमुच्यत इति गृहाण ॥ नन्वेवंसति काम्य-  
विधिवैयर्थ्यापत्तिः । नित्याङ्गादिभिरेव तत्फलसिद्धेस्तथैव नित्यप्राशस्त्यस्यापि  
सिद्धेऽपि चेत्तत्राहुः ॥ ॥ नहीत्यादि ॥ ॥ द्वितीयस्य चतुर्थे यावज्जीवपादे  
चिन्तितम् । “ अग्निहोत्रजुहुयात्स्वर्गकामः प्रजाकामः पशुकामः ” इति । यावज्जी-  
वमग्निहोत्रजुहोतीति च । एवं “ दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत ” इति काम्यं  
प्रयोगं विधायाप्रायते यावज्जीवं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेतेति । तत्र किं काम्यो  
नित्यश्च प्रयोगो भिन्न उत नित्यकाम्ये कर्मणी भिन्ने अथवा काम्यस्यैवाभ्यासो  
विधीयत इति संशयः । यावज्जीवशब्दस्य मरणावधिकालवाचकत्वात् । तस्य च प्रकृते  
काम्याग्निहोत्रादौ पूर्वमप्राप्तत्वाज्जुहोति यजेतेत्यनेनानूदिते तस्मिन् कर्मणि स का-  
लो विधीयते ॥ न च सकृदनुष्ठानेनैव फलसिद्धेरेतदङ्गीकारो व्यर्थ इति वाच्यम् । तस्य  
काम्यवाक्येनैव सिद्धत्वादत्रैतत्कालानङ्गीकारे विधिवैयर्थ्यप्रसङ्गात् । अग्निहो-  
त्रवाक्ये प्रकरणभेदेऽपि दर्शपूर्णमासवाक्ये तदभावेन कर्मभेदाङ्गीकारे प्रकरणबा-  
धापत्तेश्च । अतः काम्यकर्मणोभ्याससिद्धये तत्रायङ्गालरूपधर्मविधिरिति  
पूर्वपक्षः ॥ सिद्धान्तस्तु जीवनकात्स्न्यवाचकस्य यावज्जीवपदस्य न कालवाच-  
कत्वमपि तु लक्षकत्वम् । जुहोतियजत्योरप्यभ्यासलक्षकत्वमेव न तु वाचकत्वं ।  
जीवनञ्च पुरुषधर्मो न कर्मतया विधातुं शक्यः । प्रकरणवशेन श्रुतेर्लक्षणाप्य-  
न्याभ्या । अतोऽत्र जीवनं पुरुषधर्मं निमित्तीकृत्य प्रयोगभेदएव विधीयते कर्मभे-  
दकानां शब्दान्तरादीनामभावात् ॥ निमित्तविशेषसद्भावेनाविशेषः पुनः । श्रुतेरभाव-

नाभावस्यापि तथात्वाभावात् ॥ अतोऽत्र जीवनस्य निमित्तत्वेन तास्मिन् सति  
 नैमित्तिकत्यागायोगात्तस्य नित्यत्वमर्थसिद्धम् ॥ नच प्रयोगनैरन्तर्यापत्तिः ॥ सायं-  
 प्रातर्वाक्यस्य अमावास्यायाममावास्यायां यजेतेत्यादेश्च नियामकत्वात् ॥  
 तस्मान्नित्यकाम्यप्रयोगो भिन्नाविति । तदेतदुक्तम् ॥ नहीत्यादिफलमित्यन्तेन ॥  
 उक्तं न्यायं ज्ञानफलेऽपि स्मारयन्ति ॥ ॥ तत्रेत्यादि ॥ ॥ ज्ञाने ब्रह्मज्ञानत्वभ्र-  
 मवारणाय तत्स्वरूपं परिच्छिन्दन्ति ॥ ॥ कर्माङ्गमिति ॥ ॥ जैमिनीयमर्तं  
 निरासितुं तन्मतेनाशङ्कन्ते ॥ ॥ नन्वित्यादि ॥ ॥ अस्त्विति ॥ ॥ विधिवाक्ये  
 दर्शनादस्त्वित्यर्थः ॥ ॥ यथाकथञ्चिदित्यादि ॥ ॥ तथाच काम्यफलानां नित्याङ्गेषु  
 श्रावणान्नित्ये यावज्जीवाधिकारस्याकरणे प्रत्यवायस्य च श्रावणान्नित्य एव श्रुते-  
 स्तात्पर्यं ज्ञायते । तत्रच स्वर्ग एवात्मसुखात्मा फलत्वेन प्रतिपाद्यते न पश्चादि-  
 कमतो न तेषां स्वतन्त्रतया फलत्वमित्यर्थः ॥ १४ ॥ यज्ञेषूक्तस्य भगवद्रूपत्वस्य  
 दृढीकरणाय नित्यत्वं परिच्छेदुं शङ्कन्ते ॥ ॥ ननु कृतीत्यादि ॥ ॥ यथेत्यादि ॥ ॥  
 तथाच तेषु यावज्जीवाधिकारकत्वादिरूपमेव न नित्यत्वङ्किन्तु त्रैकालिकाबाधवि-  
 षयत्वरूपमतो यज्ञेषु भगवद्रूपत्वं निराबाधम् । मुख्येष्वधिकारिषु तथाभिव्यज्यत  
 इति भावः ॥ अत्र ध्यानादिभिरित्यर्द्धेन दृष्टान्तमुखेनोत्तरकाण्डीयसाधनं व्यापा-  
 रश्चोक्तः ॥ फलन्तु ज्ञानिनस्तदभिव्यक्तावित्यनेनैवोक्तम् ॥ १५ ॥

ब्रजभाषाटीका ।

शङ्का-वेदमें पशुपुत्रादिक तुच्छफल देवेवारे विद्वत्पुत्रादिक  
 क्यों फल कियो ताको उत्तर देहैं ॥ नित्यकर्मैति ॥ पशुपुत्रादिक न-  
 हिं होय तो नित्य अग्निहोत्रादि कर्म नहिं बनसकें तथा पशुपुत्रादिक  
 यालोकके फल नहिं सिद्धहों ॥ तो परलोकके विनादेखें स्वर्गादि-  
 फलमेंसों विश्वास जातोरहैगो तो कोई वेदके कर्ममें प्रवृत्त नहिं होय-  
 गो तासों पशुपुत्रादिक विकृतफलभी वेदसों सिद्ध होवे है ॥ १३ ॥  
 ऐसोही श्रुतिको अभिप्राय है तामें कहा प्रमाण है तहाँ कहेंहैं  
 ऐसो वेदको अभिप्राय नहिं होयतो नित्यकर्मके अङ्ग जे अपःप्र-  
 णयनादिक हैं उनके पशुपुत्रादि आदि फल क्यों बतावते क्योंकी  
 ॥ कर्मके दो फल नहिं होयसकें हैं तासों साङ्गनित्यकर्मकीभी यज-

मान जो पशुपुत्रादिकी कामनासों एक आवृत्ति करें तो वोभी फल सिद्ध होय ॥ ऐसैही कामनाकरके ज्ञानके सिद्धकरे तो ज्ञानसोंभी पशुआदिकी प्राप्ति होय “ य एवं वेद पशुमान् भवति ” परन्तु कामनार्थ होयतो होय वो ज्ञान कर्मको अङ्ग है विकृतियाग प्रकृतियागके फलहूँ नहिं सिद्धकरसकेहै और प्रकृतियागके तो अङ्गभी विकृतियागके फल देवेवारे कहेहैं येही प्रकृतिको आधिक्य तासों स्वतन्त्रतासों पशुपुत्रादिक फल नहिं है किन्तु जैसे बने तैसे नित्य अविकृत अग्निहोत्रादिक पञ्चात्मक भगवान्की सिद्धिही वेदनें जताई है ॥ १४ ॥ शङ्का । यज्ञादिक तो हमारी कृतिसों सिद्ध होयहैं अर्थात् हमारे बनाये बने हैं ये नित्य कैसें होयसकें ? उत्तर-ध्यानादिभिरिति ॥ जैसे ध्यानधारणादिकसों आनन्दरूपभगवान् मूर्तिमें प्रगटहोजावें हैं तैसें अग्निस्थापनसों आदिलेके यज्ञ पूर्ण होय जहाँताईकी ध्यानादिकनकरके सहित जे वेदकी बताईभई देहचेष्टारूप क्रिया तिनकरके यज्ञरूपी भगवान् प्रकट होवेहै अर्थात् नित्य सर्वदा विद्यमान जो यज्ञभगवान् हैं उनको वैदिकक्रियाकरके प्रकटहोनेमात्रही है उनकी उत्पत्ति नहिं है ऐसैं व्याख्यानकरवेको अभिप्राय वर्णनकरें हैं ॥ १५ ॥

**दुःखाभावः सुखं चैव पुरुषार्थद्वयं तम ॥ मोक्षः कामस्तयोरङ्गं धर्मो ह्यर्थेन साधितः ॥ १६ ॥**

तत्त्वदीपप्रकाशः ।

नन्वेवमर्थव्याख्याने कोभिप्रायस्तत्राह ॥ दुःखाभाव इति ॥ पुरुषार्थपर्यवसायी वेदः । पुरुषार्थाश्च चत्वारः ॥ तत्र साक्षात्पुरुषार्थद्वयं सुखं दुःखाभावश्चेति ॥ तत्र सुखं स्वर्गादिपदेनोच्यते ॥ दुःखाभावो मोक्षपदेन ॥ तयोः साक्षादङ्गधर्मः ॥ आत्मचिन्तनस्यापि धर्मत्वात् ॥ ज्ञान-

साध्यत्वं धर्मयोग एवेति मतम् ॥ अतएव न ज्ञानस्य पुरुषार्थेषु गणना धर्मस्य च साधनं अर्थः ॥ एवं साक्षात्परंपरया चत्वारः पुरुषार्था भवन्ति ॥ अतः पश्चादिरर्थो यागसाधनम् ॥ यागश्च धर्मः कामसाधनं ज्ञानसहितो मोक्षसाधनञ्च ॥ अत एव व्याख्यायत इत्यर्थः ॥ १६ ॥

भावरणभंगः ।

जैमिनीयमतमनादृत्य यज्ञानामधिकारिभेदेन मोक्षादिसाधकत्वं नतु लौकिकपरत्वं यज्ञानां भगवद्रूपत्वञ्चेत्येवं व्याख्याने इत्यर्थः ॥ कामपदस्य सुखवाचकत्वं “कामान् समर्धयंतु नः” “आत्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति” “गतागतङ्कामकामा लभन्ते” इत्यादौ काम्भते असौ काम इति योगेन सिद्धम् ॥ विधिवाक्यादौ तदेव स्वर्गाक्षय्यसर्वलोकपदैरुच्यत इत्याशयेनाहुः ॥ ॥ तत्र सुखमित्यादि ॥ ॥ मोक्षपदममृतादिपदसंग्राहकम् । तयोः साक्षादङ्गं धर्म इति क्लृप्तहारातिरिक्तानन्तरितत्वेन साधनतया शेषभूत इत्यर्थः ॥ ननु “आत्मा वारे द्रष्टव्यः” इत्यादिश्रुत्यात्मऽऽज्ञानादौ मोक्षसुखसाधनत्वोक्तेः कथन्धर्मएव तथात्वमत आहुः ॥ आत्मेत्यादि ॥ ॥ “अयं हि परमो धर्मो ययोगेनात्मचिन्तनम्” इति याज्ञवल्क्यस्मृतेस्तस्य धर्मत्वात्सुखमोक्षयोर्ज्ञानसाध्यत्वं ज्ञानस्य धर्मान्तःपातएव सर्वेषां संमत इत्यर्थः ॥ अत्र गमकमाहुः ॥ ॥ अतएवेत्यादि ॥ ॥ तथाच स्मृतिपुराणानां सर्वतन्त्रसाधारणत्वात्तेषु ज्ञानत्वेन पुरुषार्थत्वानुक्तेर्धर्मत्वस्य चोक्तेस्तेनैवंरूपेण पुरुषार्थत्वं निश्चीयत इत्यतस्तथेत्यर्थः ॥ नन्वस्तु धर्मस्य सुखमोक्षसाधकत्वन्त्यापि पश्चादीनां स्वतन्त्रफलत्वानङ्गीकारे किं बीजमत आहुः ॥ ॥ धर्मस्य चेत्यादि ॥ अयमाशयः । पश्चादीनां स्वतन्त्रफलत्वाभ्युपगन्तृमते तेषां न तेन रूपेण फलत्वं सर्वसाधारणत्वात् ॥ किन्तु स्वेष्टत्वेन रूपेण ॥ इष्टेस्तु मेऽस्तिवदमित्याकारस्तत्र प्रविष्टाया ममताया अविद्याकार्यत्वेन दुःखरूपत्वात्तत्सम्बन्धेन पश्चादीनामपि तथात्वात्तेषामनर्थरूपतया नार्थत्वम् ॥ किञ्च यागदानादौ धर्मत्वेनार्थत्वेन साध्यसाधनफलभावः प्रत्यक्षाद्व्यम्रानाञ्च निश्चितः ॥ अर्थत्वेन धर्मत्वेन तु शाब्दः । “को हि वेद यद्यमुष्मिंल्लोकेऽस्ति वा नवा” इति श्रुतेरन्तरायबाहुल्याञ्च सन्दिग्धोऽपि । एतेन जयतीर्थयात्रादार्थ्यनैरपक्ष्यमपि व्याख्यातम् ॥ अदृष्टाञ्च दृष्टं बलवत् । अत इदं धर्मस्य ह्यापवर्ग्यस्येत्यत्रोक्तं तदनङ्गीकारे बीजमित्यर्थः ॥ ॥ एवमिति ॥ ॥ अनेन प्रकारेण ॥ नतु “धर्मोदर्थश्च कामश्च” इत्याद्युक्तप्रकारेण ॥ नच ताद्विरोधःशङ्क्यः । तत्राऽपि काम्यकर्मत्यागएव व्यासचरणानान्तर्गतात् । भारतस्य वेदव्याख्यानरूपत्वात् । अभियवाक्ये-

“ धर्मो नित्यः सुखदुःखे त्वनित्ये ” इति निन्दाकथनाच्चेत्यर्थः ॥ अतोतिरागिणः कामाद्यर्थं काम्ये प्रवृत्तौ तत्फलानन्तरं धर्मे आदरोत्पत्तौ ततः सुखदुःखानामनित्यत्वदर्शनात्तत्परित्यज्य नित्यफलसांमुख्येन तत्करणे तत्सिद्धौ परम्ब्रह्माधिगच्छतीत्युपसंहारोक्तफलप्राप्तिर्मोक्षो वा भवतीति तत्तात्पर्यं बोध्यम् ॥ एवं तावत् पञ्चात्मकमिति मङ्गलकारिकायां भगवद्दूषो यो वेदार्थं उद्दिष्ट आसीत्स सर्वोऽपि अग्निहोत्रमित्यादिषु व्याख्यासहितासु कारिकासु यथाक्रमम्प्रकृतिस्वरूपनित्यकाम्यस्वरूपतत्तारतम्याधिकारभेदतत्फलोक्तिप्रयोजनविकृतिस्वरूपतत्फलसाधकत्वबीजयागनिष्ठभगवत्स्वाधकनिरासधर्मनिष्ठनान्तरीयकसाधनता चेत्येवमादिरूपेणोपपादितः ॥ १६ ॥

ब्रजभाषाटीका ।

दुःखाभाव इति ॥ वेद पुरुषार्थको सिद्धकरवेवारो है। पुरुषार्थ चार हैं तहाँ साक्षात् पुरुषार्थ दोय हैं। दुःखभाव दुःख नहीं होना सुखको प्राप्त होना तहाँ स्वर्ग अक्षय्य सर्वलोकादिपदनकरके सुख कह्यो है मोक्ष अमृतआदिपदनकरके दुःखाभाव कह्यो है इन दोनोंकी प्राप्ति धर्मकरके होवे है तहाँ “ अयं हि परमो धर्मो यद्योगेनात्मचिन्तनम् ” यावाक्यसों ज्ञानभी धर्ममेंही गतार्थ है याहीसों ज्ञानकी न्यारी पुरुषार्थमें गणना नहीं है। धर्मको सिद्धकरवेवारो अर्थ है याप्रकार साक्षात् परम्पराकरके चार पुरुषार्थ हैं ॥ यहाँ धर्म अर्थ काम मोक्ष इन चारपुरुषार्थनमें कामनाम सुखको है, मोक्षनाम सर्वथा दुःख दूरहोयेसों कहेहैं, तहाँ पशुपुत्रादिक अर्थ यज्ञरूप धर्मको सिद्धकरवेवारो है, ज्ञानरहित यज्ञरूपधर्म स्वर्गरूप कामको सिद्धकरवेवारो है, और ज्ञानसहित यज्ञ दुःखाभावरूप मोक्षको सिद्धकरवेवारो है ॥ तात्पर्य यह है अत्यन्त अनुरागी मनुष्य कामनासिद्धिके लिये कर्मकर्मनकूं करेगो वाकी कामना सिद्धभयेसों वाको धर्ममें विश्वास होयगो। फिर लौकिकसुखदुःखनको अनित्य देखके सगमकर्मनकूं छोडके नित्यफलप्राप्तिकेलिये नित्यकर्म करेगो, ज्ञानयुक्त नित्यकर्म करके परब्रह्मप्राप्ति होयगी १६

साधनञ्च फलञ्चैव हरिर्वेदे निरूप्यते ॥ तदभिव्यक्तिः सर्वं पुरुषार्थस्वरूपतः ॥ १७ ॥ रूपप्रपञ्चकरणादासक्तःस्वांशवारणे ॥ श्रुतिमात्मप्रसादाय चकारात्मानमेव सः ॥ १८ ॥

तत्त्वदीपप्रकाशः ।

उपसंहरति ॥ साधनञ्च फलञ्चैवेति ॥ उभयात्मको हरिर्वेदे निरूप्यते ततश्च वेदानुसारेण तदभिव्यक्तौ सत्यां सर्व एव पुरुषार्थः सिध्यति ॥ यतो भगवान् पुरुषार्थस्वरूपः ॥ १७ ॥ एवं वेदार्थं निरूप्य वेदस्य स्वरूपं विनिरूपयन् प्रयोजनञ्चाह ॥ रूपेति ॥ विचित्रो रूपप्रपञ्चः ॥ जीवाश्चांशाः । अल्पानां विचित्रे भ्रमो भवत्येवातस्तन्निवारणार्थं श्रुतिञ्चकार ॥ तस्याः स्वरूपमाह ॥ आत्मानमिति ॥ नन्वन्तर्यामिणैव कथं न निवार्यन्त इति तत्राह ॥ आत्मप्रसादायेति ॥ अन्तःकरणप्रसादाय जीवान्तर्यामिणौ पूर्वमेव हृदये प्रविष्टौ भोगभोजनार्थं तदनुभोगेन मालिन्यञ्चित्ते जातं नान्तःस्थितेन दूरीकर्तुं शक्यमतो बहिःस्थितेन प्रवेशसमर्थेन तददूरीकर्तव्यमिति श्रुतिनिर्माणमित्यर्थः ॥ १८ ॥

आवरणभंगः ।

तत्सर्वं संगृह्याहुः ॥ ॥ उपसंहरतीति ॥ ॥ यदीयपरिकरत्वेनेदं सर्वमुक्तं तं वेदार्थं सङ्गृह्य दर्शयतीत्यर्थः ॥ ॥ उभयात्मक इति ॥ ॥ द्रव्यदेवतासम्बन्धो देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागो वा याग इति लोके प्रसिद्धः ॥ तत्र देवतानाम्भगवद्रपत्सम्भगद्वयवत्त्वात् ॥ “ मूर्धेव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूप ” इत्यादिश्रुतिभ्यो “ नासत्यदसौ परमस्य नासे ” इत्यादि “ देवा नारायणाङ्गजाः ” इत्यादिवाक्यैः सिद्धयति ॥ भगवत् एव सर्वशब्दाभिधेयत्वेन च । “ इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः ससुपर्णो गरुत्मान् ॥ एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिवान्माहुः ” इति श्रुतेस्तल्लिङ्गाद्यधिकरणैश्च ॥ त्यागसम्बन्धकर्माणान्तु “ मां विधत्ते अभिधत्ते मां विकल्प्यापोह्यते ह्यहं ” इत्येकादशस्कन्धीयभगवद्वाक्यैः ॥ उपकरणस्य तु पुरुषसूक्तेन द्वितीयस्कन्धस्थपुरुषसूक्ताध्यायेन च सिद्धयति ॥ फलस्य भगवद्रूपता त्वा-



नन्दात्मकत्वादेव सिद्धा । एवं सति “सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति” “वेदैश्च सर्वैर-  
हमेव वेद्यः” इत्यादौ सर्वशब्दस्यासङ्कुचितवृत्तिकत्वाद्द्वैदिकैः सर्वैः शब्दैर्मुख्यवृत्त्या  
भगवानेव बोध्यते ॥ सङ्कुचितवृत्त्या च तत्तत्कार्यार्थं तत्तद्रूपः ॥ ॥ तदिदमुक्तं  
॥ हरिर्वेदे निरूप्यत इति ॥ ॥ सिद्धयतीति ॥ ॥ यथाधिकारं सिद्धयति ॥ तत्रहे-  
तुमाहुः ॥ ॥ यत इत्यादि ॥ ॥ यदि प्रकारान्तरेण सिद्धयेत् पुरुषार्थरूपो न  
स्यादत एव सिद्धयतीति सर्वोऽपि पूर्वोक्तार्थो सङ्गृहीतः । तेन बलनिरूपणार्थं  
प्रमाणानुरोधि प्रमेयमेकं निरूपितम् ॥ १७ ॥ अतः परम्प्रमाणस्य बलवत्वाय  
तत्स्वरूपं निरूपयितुमाहुः ॥ ॥ एवमित्यादि ॥ ॥ अन्यथा पूर्वप्रकरणोक्ते  
शब्दएव प्रमाणमित्यादिरूपे संदर्भासम्भावनाद्यनुपशमे ग्रन्थप्रयासवैफल्यमिति  
तत्प्रयोजनस्यान्तःकरणशुद्धिरूपस्य तत्स्वरूपादिकथनस्य चावश्यकत्वमिति  
भावः ॥ ॥ श्रुतिं चकारेति ॥ ॥ एतेनापौरुषेयवाक्यत्वं पौरुषेयत्वेनाभगवत्वं  
च वदन्तो निरस्ताः ॥ “एतस्यैव महापुरुषस्य निश्वासितं यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेद  
इति” “प्रचोदिता येन पुरा सरस्वती” इति “वेदो नारायणः साक्षात्” इत्यादिश्रुति-  
स्मृतिविरोधात् ॥ ॥ अन्तर्यामिणेति ॥ ॥ अल्पत्वेऽपि स्वरूपात्मकतयान्तरतया  
च व्यापकत्वाद्भ्रान्तत्वात्सम्भावितसामर्थ्येनेत्यर्थः ॥ ॥ भोगभोजनार्थमिति ॥  
“ऋतम्पिबन्तौ” इति श्रुतेः ॥ यद्यप्यनशनश्रुत्या जीववन्न भोगस्तथापि नियत-  
कार्यकत्वादसमर्थत्वम् ॥ तदेतदुक्तं ॥ ॥ अन्तःस्थितेनेति ॥ ॥ उक्तरीत्यान्तः-  
पातिनेत्यर्थः ॥ अत एव “परमात्मा मे शुद्धयन्ताम्” इति श्रुतिः ॥ “हृदि स्थितो  
पच्छति भक्तिपूतः” इति तृतीयस्कन्धे विदुरवाक्यश्चातो न चोद्यावकाशः ॥ १८ ॥

ब्रजभाषाटीका ।

वेदमें राध्यसाधनरूप करके हरिको निरूपण कियो है वेदा-  
नुसार बर्ताव करवेंसों साध्यसाधन भगवान्के प्रगट होयवेसों  
सब पुरुषार्थ सिद्ध होवें हैं क्योंकि भगवान्ही पुरुषार्थस्वरूप हैं । या  
प्रकार वेदके अर्थको निरूपण करके वेदके स्वरूपको निरूपण करते  
भये प्रयोजन कहें हैं ॥ १७ ॥ रूपेति ॥ भगवान्को जगतरूप बडो  
विचित्र है या विचित्र जगत्में अल्पभगवदंश जीवनकुं भ्रम होजावे  
है वा भ्रमके दूरकरकेलिये श्रुति वेदरूपकरके भगवान्ही प्रकटभये

तहाँ अन्तर्यामीरूपकरकेही जीवको भ्रम क्यों नहिं दूरकियो यह शङ्का नहिंकरनी क्योंकि जीव तथा अन्तर्यामी वे दोनों भोग-वेकेलिये हृदयमें पहिलेसोंही प्रविष्ट होरहेहैं तहाँ भोगकरके भई जो चित्तकी मलिनता है वाकूँ भीतरस्थित अन्तर्यामी नहिंदूरकर-सके है तासों भीतर हृदयमें धसवेकों समर्थ ऐसैं बाहिरस्थित वेद-रूपसों प्रकट होयके चित्त प्रसन्न होयवेकेलिये भ्रम दूरकरे हैं येही वेदको प्रयोजन है ॥ १८ ॥

इति नित्यः श्रुतेरर्थः सात्विकानाम्प्रकाशते ॥  
उत्पन्नास्त्रिविधा जीवा देवदानवमानवाः ॥ १९ ॥

तत्त्वदीपप्रकाशः ।

इदमेव श्रुतेः प्रयोजनमित्याह ॥ इतीति ॥ अध्यापनादिना धर्मा-  
दिकमपि साधयति परं नित्योयमेवार्थः प्रयोजनम् ॥ अथवा पञ्चात्म-  
को भगवान्वेदार्थ इति निरूप्य सर्वेषां तथा बुद्ध्यभावमाशंक्य तेषां  
दोषं कथयन् स्वोक्तमुपसंहरति ॥ इतीति ॥ सात्विकानामेवायमर्थः प्र-  
काशते न सर्वेषामित्यर्थः ॥ ननु सर्वे भगवदंशास्तत्र कथङ्केचन सा-  
त्विका अन्ये नेति व्येवस्था तत्राह ॥ उत्पन्ना इति ॥ “प्रजायेय” इति  
भगवदिच्छया विनिर्गताश्चिदंशा जीवास्तुल्या मा भवन्त्विति भगव-  
न्मायागुणैस्त्रिविधैस्ते व्याप्तास्त्रिविधरसभोगाय ॥ अन्यथा तामसवस्तू-  
नां भोगो न स्यात् ॥ अतएव श्रुतौ “त्रयः प्राजापत्याः” इति देवा  
मनुष्या असुरा गणिताः ॥ पञ्चरात्रेऽपि “त्रिविधा जीवसंघास्तु देव-  
मानुषदानवाः ॥ तत्र देवा मुक्तियोग्या मानुषेषूत्तमा अपि ॥ मध्य-  
मा मानुषा ये तु सृष्टियोग्याः सदैव हि ॥ अधमा निरयायैव दानवा-  
स्तु तमोलयाः” इति ॥ अतो जीवानान्त्रैविध्यात्तदनुगुणा एवान्तःक-  
रणादयोऽपि तेषां भवन्ति ॥ १९ ॥



आवरणभंगः ।

अर्थशब्दस्याभिधेयार्थकत्वमादाय किञ्चित्परिहर्तुं व्याख्यानान्तरमाहुः ॥ अथ-  
वेत्यादि ॥ स्वोक्तमिति ॥ वेदस्वरूपफलार्थविषये यदुक्तन्तदित्यर्थः ॥ सान्त्विकाना-  
मेव प्रकाशने हेतुरग्रेनुपदमेव व्युत्पायः । प्रसङ्गादेदविषये व्युत्पादनाय किञ्चि-  
त्परोक्तमेव लिख्यते । तत्रापि यो विशेषः क्वचित्सोऽपि तत्र प्रकाश्यते ॥ तथाहि ॥ स  
च वेदो मन्त्रब्राह्मणात्मकः । तत्र मन्त्रा अनुष्ठानप्रकारभूतद्रव्यदेवतादिप्रकाशकाः ।  
तेऽप्युत्सर्गतस्त्रिविधाः । ऋग्यजुःसामभेदात् । तत्र गायत्र्यादिछन्दोविशिष्टा ऋचः ।  
ता एव गानयुक्ताः सामानि । तदुभयविलक्षणादि यजुषि । अग्निदग्नीन्विहरेत्यादि-  
सम्बोधनरूपाणि गदानि विदादयश्चान्येऽग्रेवान्तर्भवन्ति ॥ ब्राह्मणमपि त्रिविधं  
विध्यर्थवादतदुभयविलक्षणभेदात् ॥ विधिरपि चतुर्विधः । उत्पत्त्यधिकारिविनियो-  
गप्रयोगभेदात् ॥ तत्र कर्मस्वरूपमात्रबोधको विधिरुत्पत्तिविधिः । “यदाग्नेयो-  
ष्टाकपालोमावास्यायां भवति” इत्यादिः । सेतिकर्तव्यताकस्य यागादेः फलसं-  
बन्धबोधको विधिरधिकारिविधिः । यथा “दर्शपौर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत”  
इत्यादिः । अङ्गसंबन्धबोधको विधिर्विनियोगविधिः । यथा “व्रीहिभिर्भ्यं जेत स-  
मिधो यजति” इत्यादिः ॥ साङ्गप्रधानप्रयोगैक्यबोधको विधिः पूर्वोक्तविधिचय-  
मेलनरूपः प्रयोगविधिः । स च श्रौत इत्येके कान्य इत्यपरे ॥ कर्मस्वरूपमपि च-  
तुर्विधम् । उत्पत्त्याप्रिविकृतिरसंस्कृतिभेदात् । तत्र “वमन्तेऽग्नीनादधीत” “यूप-  
न्तक्षति” इत्यादिना संस्कारविशेषविशिष्टाग्निश्रुपादेरुत्पत्तिः ॥ “स्वाध्यायोध्येत-  
व्यः” “गाभ्यो दोग्धि” इत्यादावध्ययनदोहनादिना वियमानस्यैवाध्ययनपयः-  
प्रभृतेराप्तिः । “सोममभिषुणोति व्रीहीनवहन्त्याज्यं विलापयति” इत्यादावभि-  
षवणावघातविलापनैः सोमादीनां विकारः । “व्रीहीन्प्रोक्षति” “पन्थवेक्षते” इत्या-  
दौ प्रोक्षणावेक्षणादिभिर्व्रीह्याज्यादिद्रव्यसंस्कारः । एतच्चतुष्टयं चाङ्गकर्मैव । तथा  
कर्तृकारकाण्यनाश्रित्य विहितमर्थकर्म । तच्च द्विविधम् । अङ्गप्रधानञ्च । अन्या-  
र्थमङ्गम् । अनन्यार्थप्रधानम् ॥ अङ्गमपि द्विविधम् । संनिपत्त्योपकारकमारादुपका-  
रकञ्च । तत्र प्रधानस्वरूपनिर्वाहकप्रथमम् । फलोपकारि द्वितीयम् । एवं सम्पूर्णा-  
ङ्गसहितो विधिः प्रकृतिः । विकलाङ्गमहितो विकृतिः । तदुभयविलक्षणो विधिरङ्ग-  
विधिः एवमन्यदप्युच्यते । तदेवं निरूपितो विधिभागः ॥ प्राशस्त्यनिन्दान्यतरल-  
क्षणया विधिशेषभूतं वाक्यमर्थवादः । स च त्रिविधः । गुणवादोऽनुवादो भूतार्थवाद-  
श्चेति । तत्र प्रमाणान्तरविरुद्धार्थबोधको गुणवादः । यथा आदित्यो यूप इत्यादिः ।  
प्रमाणान्तरप्राप्तार्थबोधकोऽनुवादः । यथाग्निर्हिमस्य मेघजमित्यादिः । प्रमाणान्तर-

विरोधतत्प्राप्तिरहितार्थबोधको भूतार्थवादः । इन्द्रो वृत्राय वज्रमुदयच्छदित्यादिः ॥  
 तदुक्तम् । “ विरोधे गुणवादः स्यादनुवादोऽवधारिते । भूतार्थवादस्तद्वानावर्थवाद-  
 स्त्रिधा मतः ” इति । तत्र त्रिविधानामप्यर्थवादानां विधिस्तावकत्वे समानेऽपि भूता-  
 र्थवादानां स्वार्थे प्रामाण्यं देवताधिकरणन्यायात् ॥ अबाधिताज्ञानज्ञापकत्वं हि  
 प्रामाण्यं तच्च बाधितविषयत्वाज्ज्ञातज्ञापकत्वाच्च न गुणवादानुवादयोः । भूतार्थवा-  
 दस्य तु स्वार्थे तात्पर्यरहितस्यापि औत्सर्गिकप्रामाण्यं न विहन्यते । तदेवं निरूपि-  
 तोऽर्थवादभागः । विध्यर्थवादोभयविलक्षणन्तु वेदान्तवाक्यम् ॥ तच्चाज्ञातज्ञापकत्वे-  
 प्यनुष्ठानाप्रतिपादकत्वान्न विधिः । स्वतः पुरुषार्थपरमानन्दविज्ञानात्मकब्रह्मणि  
 स्वार्थे उपक्रमोपसंहारादिष्विधतात्पर्यलिङ्गवत्तया स्वतः प्रमाणभूतम् । सर्वानपि  
 विधीनन्तः करणशुद्धिद्वारा स्वशेषतामापादयदन्यशेषत्वाभावाच्च नार्थवादः ॥ त-  
 स्मादुभयविलक्षणमेव वेदान्तवाक्यम् । तच्च क्वचिदज्ञातज्ञापकत्वमात्रेण विधिरिति  
 व्यपदिश्यते ॥ विधिपदरहितप्रमाणवाक्यत्वेन च क्वचिद्वृत्तार्थवाद इति व्यवहियत  
 इति न दोषः । तदेवं निरूपितं त्रिविधं ब्राह्मणम् ॥ एवमुभयकाण्डात्मको वेदो  
 धर्मार्थकाममोक्षहेतुः । स च प्रयोगत्रयेण यज्ञनिर्वहार्थमृग्यजुःसामभेदभिन्नः ।  
 तत्र होत्रे ऋग्वेदेन । आध्वर्यवे यजुषा । औद्गात्रे साम्ना । ब्राह्मयाजमानौ त्वत्रैवा-  
 न्तर्भूतौ ॥ अथर्ववेदस्तु यज्ञानुपयुक्तः शान्तिकपौष्टिकाभिचारिकादिकर्मप्रतिपाद-  
 कत्वेनात्यन्तविलक्षण एव ॥ एवमप्रवचनभेदात् प्रतिवेदं भिन्ना भूयस्यः शाखाः ।  
 एवञ्च कर्मकाण्डे व्यापारभेदेऽपि सर्वासां वेदशाखानामेकरूपत्वमेव ब्रह्मकाण्ड इ-  
 ति चतुर्णां वेदानाम्प्रयोजनभेदेन भेद उक्त इति मधुसूदनसरस्वती आह ॥ अत्रेया-  
 न्विशेषो बोध्यः ॥ मन्त्राश्चतुर्विधाः । आथर्वणानामपि मन्त्रत्वात् ॥ वेदेषु च यत्र य-  
 त्प्राचुर्यन्तत्र तन्नामकत्वं यथाऋग्वाल्लयेन ऋग्वेदः ॥ एवमन्येपि ॥ अथर्वलक्षणन्तु त-  
 था न प्रसिद्धम् ॥ तेनोक्तत्रयातिरिक्तो वेदोऽथर्ववेदो ज्ञेयः । अथर्ववेदस्य ब्रह्मत्व उपयो-  
 गः पूर्वमासीद्यज्ञस्य चानुर्होत्रत्वात्तेन यज्ञ उपयुक्तः ॥ इदानीन्तु सुमन्तुना ऋषीणाम-  
 पचारात्कुद्धेन स्ववेदमात्रादेवाथर्वणानामपृथक् यज्ञं कुर्वाणेनेतरोपयोगो निवारित  
 इत्यनुपयुक्त इत्याथर्वणेषु प्रसिद्धत्वाच्च ॥ किञ्च । गुणवादानुवादयोरपि वाचन्धेनु-  
 मुपासीतेतिवत् ॥ गो अश्वा एव पशवोऽन्ये त्वपशव इत्यादावपि अन्येषामपशुत्व-  
 ज्ञानपूर्वकं गोअश्वानामपशुत्वमनुसन्दधानेन तत्कर्म कर्तव्यम् ॥ तथा वायुर्वै क्षेपिष्ठे-  
 त्यादावपि शीघ्रगामिनीं देवतां ज्ञात्वा कर्म कर्तव्यमित्येवमाशयेनौत्सर्गिकप्रामा-  
 ण्यं न विहन्यत इति ॥ अन्यत्त्वाद्दृढमेव ॥ प्रकृतमनुसरामः ॥ इच्छयेति पदं व्याप्ता  
 इत्यनेनाप्यन्वेति ॥ अन्यथेत्यव्याप्तत्वे ॥ न स्यादिति ॥ तामसानामसमीचीनत्वेन

हेयत्वात्तद्योग्यभोक्त्रभावे वैयर्थ्यमेव स्यादित्यर्थः ॥ त्रिगुणव्याप्तत्वे किं मानमित्यत आहुः ॥ अतएवेत्यादि ॥ अन्यथा बृहदारण्यके स्तनयितुब्राह्मणे यत्रैविध्यमुक्तन्तत्तादृशगुणव्याप्तिं विना सम्भवद्वाधितमेव स्यादिति भावः ॥ ननु श्रुतौ देहत्रैविध्यमुक्तन्तु जीवत्रैविध्यम् ॥ असुरशरीरे प्रवेशान्यथानुपपत्त्या तथाकल्पनन्तु न युक्तिसहम् ॥ अदृष्टविशेषादप्युपपत्तेरित्याकांक्षायाम्पूर्वोक्तनिश्चायकं मानान्तरमाहुः ॥ पञ्चरात्रेपीति ॥ तदनुगुणा इति ॥ तथा चादृष्टस्य मनःसम्बन्धोत्तरभावि कर्मजन्यत्वात्ततः पूर्वन्तदसम्भवान्नादृष्टेनोपपत्तिरिति भावः ॥ अदृष्टानादित्वन्तु ब्रह्मवादविरोधादेवोपेक्ष्यम् ॥ १९ ॥

ब्रजभाषाटीका ।

वेदके पाठ करवेसों धर्मादिकभी मिद्ध होयहें ये नित्यप्रयोजन हैं । अथवा श्रीवल्लभाचार्यजी वेदार्थरूप जे पञ्चात्मक भगवान् हैं उनको निरूपण करके सदोप जीवनकैं याप्रकारको वेदार्थ नहिं मालुम पडेहें किन्तु सात्विक जीवनकैंही अर्थ प्रकाशमान होवेहें औरकैं नहिंहोवेहें तहाँ सब जीव भगवान्के अंश हैं ये कैसे मालुम होय यह सात्विकहै ये जीव सात्विक नहिं हैं ॥ तहाँ व्यवस्था केहें ॥ उत्पन्नेति ॥ जब भगवान्की क्रीडाकेलिये बहुतहोयके प्रकट होयवेकी इच्छा भई तब चिदंश जीव आपके स्वरूपमें प्रकटभये वे सब जीव तुल्यही नहिं होयजाँय याकेलिये त्रिविधगमभोग करवेकेलिये तीनप्रकारके मायाके गुणनकरके व्याप्तभये त्रिविध जीव प्रकटकिये । अन्यथा ताममवन्तूनको भोग नहिं होयगो याहीमें श्रुतिमें “त्रयः प्राजापत्याः” या वाक्यमें देव मनुष्य असुर तीन प्रकारके जीव गिनहें । नारदपञ्चरात्रमेंभी तीनप्रकारकेही जीव लिखेहैं । तहाँ देवजीव तथा मनुष्यनमेंमें उत्तम जीव सुक्तियोग्य हैं, मनुष्यनमेंमें मध्यमजीव संसारके योग्य हैं, मनुष्यमेंमें अधमजीव नरककेलिये हैं, असुरजीव तामिस्र अन्वतामिस्रमें लय होयवेकेलिये हैं ॥ १९ ॥

सर्वे वेदविदो जाताःस्वभावगुणभेदतः ॥ तेषा-  
म्प्रकृतिवैचित्र्याच्छ्रुत्यर्थो बहुधोदितः ॥ २० ॥  
भावस्याज्ञानतः कर्ममात्रङ्गेचिद्वदन्ति हि ॥  
लोकप्रतीतं स्वीकृत्य कदाचिद्भगवान् वदेत् २१

तत्त्वदीपप्रकाशः ।

ततः किमत आह ॥ सर्वे वेदविद इति ॥ यथार्थं श्रुत्वापि ते य-  
दा व्याचक्षते तदा स्वरुच्या वेदार्थं वर्णयन्ति स्वभावगुणानाम्भेदा-  
त् ॥ ततः किमत आह ॥ श्रुत्यर्थो बहुधोदित इति ॥ २० ॥ तानेव  
प्रकारानाह ॥ भावस्येति ॥ उपक्रमादिप्रकरणार्थस्य भावस्याज्ञानात्के-  
वलं वाक्यार्थमेवानुभूय क्रियामात्रं वेदार्थं इति केचिदाहुः ॥ ननु मह-  
तां वाक्यान्तथा न भविष्यतीत्याशङ्क्याह ॥ लोकप्रतीतमिति ॥ महा-  
न्तो हि भगवदनुगुणाः ॥ भगवाँश्च सर्वमार्गप्रवर्तकः ॥ अतः कर्ममार्गवक्तु-  
ननुसरति “ एवन्त्रयीधर्ममनुप्रपन्नाः ” इति । “ वेदवादरताः पार्थ ”  
इति “ त्रैगुण्यविषया वेदाः ” इति च ॥ अतो योगादिप्रचारार्थम्प्र-  
कारान्तरापन्नश्रुत्यर्थनिन्दया तथा बोधयतीति महान्तोऽपि तमर्थं न  
निवारयन्तीत्यर्थः ॥ २१ ॥

आवरणभंगः ।

यथार्थमित्यादि ॥ तदेतदेकादशस्कन्धे । “ वदन्ति कृष्ण श्रेयांसि बहूनि ब्रह्म-  
वादिनः । तेषां विकल्पप्राधान्यमुताहो एकमुच्यते ” इत्युद्धवप्रश्ने “ कालेन नष्टा  
प्रलये वाणीयं वेदसंज्ञिता ” इत्यादिषु भगवद्वाक्येषु चतुर्दशाध्यायस्थेषु स्फु-  
टति । “ तेषाम्प्रकृतिवैचित्र्याच्चित्रा वाचः स्रवन्ति हि ” इति तत्रोक्तेः ॥ बहु-  
धोदित इति ॥ तथाच बहुधा प्रसृतत्वान्न सर्वेषान्तदर्थबोधोऽपि तु सात्विकानामेवे-  
त्यर्थः ॥ २० ॥ प्रकारानिति ॥ “ धर्ममेके यशश्चान्ये कामं सत्यन्दमं शमम् ॥  
अन्ये वदन्ति वै स्वार्थमैश्वर्यं त्यागभोजनम् ॥ केचियज्ञन्तपो दानं व्रतानि नि-  
यमान् यमान् ” इत्यत्रोक्तानित्यर्थः ॥ एतेषु प्रथमोद्दिष्टमेव पक्षं लोकप्रसिद्धत्वाद-  
नुवदन्ति दूषणार्थम् ॥ भावस्येत्यादि ॥ उपक्रमेत्यादि ॥ अत्रैवम्भाति वेदस्योप-

क्रमो हि मन्त्रैर्देवतास्तुत्यादावुपयुक्तैः॥ प्रकरणञ्च यागस्य स च “यज्ञो वै विष्णुः” इति श्रुतेर्भगवद्रूपः ॥ देवताश्चाग्न्यादयो यागशेषा भगवदंगभूताः ॥ कर्ता पुरुषोऽपि यागशेषो भगवदंशः । पुरुषशेषभूतं फलमप्येतस्यैवानन्दस्यान्यानीत्यादिश्रुतेर्भगवदंशभूतम् । तथैवोपकरणान्यपि । एवं सर्वसाक्षात्परम्परया च भगवद्रूपमिति भगवत्येव श्रुतेस्तात्पर्यमिति प्रकरणार्थस्येत्यर्थ इति ॥ ननु यदि क्रियैव वेदार्थो न स्यात्फलञ्च लोकाद्यात्मकं यागानां न स्याद्देदार्थश्च यदि गुणातीतः स्यात्तदा त्रैगुण्यविषया वेदा इत्यादि भगवान्न वदेत् । यतो वदति ततः क्रियैव वेदार्थ इत्याशङ्कां हृदि निधायाहुः ॥ नन्वित्यादि ॥ महताऽऽमिन्यादीनां विचारकाणां वाक्याच्छास्त्ररूपात्तथा न भविष्यति क्रियावादिनां वेदार्थस्याज्ञानं न भविष्यतीत्याशंक्य महतामाशयमाहेत्यर्थः ॥ लोकप्रतीतिमिति ॥ क्रिया लौकिक्येव वेदार्थः फलञ्च लोकादिकमेवेत्येवं साधारणजनप्रतीतिं स्वीकृत्य कदाचित् योगादिप्रचारावसरे भगवान् वदेदित्यर्थः ॥ तथा बोधयतीति लोकसिद्धम्मतान्तरं वेदार्थत्वेन बोधयति ॥ एवं सति गीतावाक्येष्वयमर्थो बोध्यः ॥ ये त्रैविद्याः स्वर्गातिम्प्रार्थयन्ते ते एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्नाः लोकप्रतीतिप्रकारन्त्रयीधर्मपरम्परया प्रपन्ना नतु मदुक्तप्रकारकम् । अतएव कामकामा लौकिकसुखेप्सवो गतागतं लभन्ते नतु मुच्यन्ते इति ॥ वेदवादरता इत्यत्रापि वेदे ये वादरताः नतु तात्पर्यज्ञातारः । अतएव “नान्यदस्तीति वादिनः” इत्यादिरूपास्तेषाञ्च समाधौ न बुद्धिरिति त एव निश्च्यन्ते ॥ त्रैगुण्यविषयेत्यत्रापि त्रैगुण्यं गुणत्रयसमुदायः विषयो बोध्यो येषान्ते तथा इत्यलौकिकीम्प्रतीतिमादायैव वक्तीति ज्ञायते ॥ “वेदास्त्रिकाण्डविषया ब्रह्मात्मविषया इमे ॥ परोक्षवादा ऋषयः परोक्षञ्च मम प्रियम्” इत्येकादशस्कन्धीयभगवद्वाक्यात् ॥ अस्य गीतावाक्यस्य सांख्यस्तावकतायाः प्रकरणेन निश्चयाच्च । एवञ्च प्रथमवाक्यमप्यनन्याश्चिन्तयन्तो मामित्यग्रिमग्रन्थस्वारस्यादुपासनास्तावकम् ॥ तथैव द्वितीयं योगस्येति न तैः कृत्वा क्रियार्थोपष्टम्भ इति भावः ॥ २१ ॥

व्रजभाषाटीका ।

उन त्रिविधजीवनके अन्तःकरणभी गुणनके अनुमार न्यारे २ हे तासों ये सब जीव वेदके अर्थकं यथार्थ सुनकें जब अपने सुखसों वर्णन करेहैं तब अपनी अपनी रुचिके अनुमार न्यारे २ वेदार्थ वर्णनकरे हैं, क्योंकि इनके स्वभावगुणनके भेदसों वेदार्थ बहुतप्रकारको होजावेहै ॥ २० ॥ उन प्रकारनकें कहे हैं ॥ भावस्येति ॥ उनप्रका-

रनको वर्णन भागवत ११ स्कन्धमें “ धर्ममेके यशश्चान्ये ” इत्यादि-  
 श्लोकमें है ॥ उपक्रम उपसंहार करके प्रकरणार्थको विनाजाने केव-  
 ल वाक्यार्थको अनुभव करके क्रियामात्र वेदार्थ है ऐसे कितने क  
 कहे हैं ॥ शङ्का-जैमिन्यादिक ऋषिके वाक्यसों भी तो क्रियाही वेदार्थ  
 सिद्ध होते हैं तामें और क्रियावादिन कैं भी अन्तर्ग रहि लोगगो ? ॥

अचिरादिमार्गो धूमादिमार्गस्तृतीयो मार्गश्चेति ॥ अतो वेद एव तथा  
तथा वदतीति मन्तव्यमित्याशंक्याह ॥ यथोक्त इति ॥ नात्र वेदा-  
नुसारेण मार्गद्वयं किन्त्वेक एव मार्गो वेदोक्तस्तमाह ॥ यथोक्ते ह्यपुन-  
र्जन्म ॥ अयथाज्ञानतः कर्मकरणाद्धूमादिमार्गो इत्याह ॥ अन्यथे-  
ति ॥ अनेन जायस्वेत्यपि मार्गः सङ्गृहीतः ॥ “ येन स्यात् सृष्टिरे-  
षोत्तरोत्तरा ” इति ॥ एवमेव शास्त्रकारैर्भगवता चाभिप्रेत्य मार्गद्वयमु-  
दीरितं नतूभयमपि साक्षाद्देवाभिप्रेतमित्यर्थः ॥ नन्वस्य धूमादि-  
मार्गस्य कथने किम्फलं नहि भ्रममार्गाः केनचिदुच्यन्ते किञ्च धूमा-  
दिमार्गीयकर्मणोऽविहितत्वे तत्फलं न स्यान्न ह्यविहितस्य भ्रमप्र-  
तिपन्नस्य फलं सम्भवतीत्याशंक्याह ॥ वैराग्यार्थमिति ॥ तदपि  
भ्रमत्वेन प्रतिपन्नमपि जगति तस्य मार्गस्य प्रतीयमानत्वात् ॥  
किञ्च पञ्चाग्निख्यापने श्रुतौ पञ्चाग्निख्यापनार्थन्तदुक्तम् ॥ पञ्चाशुपा-  
सकस्य फलसिद्धये यथा वेदे लोकमिहोऽनूद्यते “ यन्वाग्निं प्रपा  
असि ” इत्यादौ तथा भ्रममिहोऽप्यनूद्यते इति ॥ यदुक्तं हि ज्ञेयं  
तत्रोच्यते ॥ न ह्यत्रावैदिकत्वमुच्यते किन्तु कर्मण्येव पश्चादावेव ता-  
त्पर्यं श्रुतेरिति प्रकारकस्तात्पर्यभ्रमः ॥ एतस्य भ्रमत्वं “ वेदवादनताः ”  
इत्यादिवाक्यैर्निन्दितत्वेन ज्ञायते ॥ एवं सति तदुक्तिस्तु सर्वथा सन्मा-  
र्गविमुखस्यातिरागिणः पुंसः कथञ्चित्सन्मार्गो प्रवृत्त्यर्थः ॥ तदुक्तं “ रो-  
चनार्था फलश्रुतिः ” “ यथा भैषज्यरोचनम् ” इत्यादि ॥ तथाच तत्फलस्य  
निरूपणे तुच्छत्वज्ञानेन वैराग्यार्थं तन्निरूपणमिति ॥ २३ ॥

आवरणभंगः ।

ननु फलसम्वादे निदानवसर इत्यत आहुः ॥ ननु नित्यन्तर्दिनि ॥ ननु त-  
थापि लोकसिद्धस्य वेदार्थत्वाभावे गीतायाद्विज्ञमकामित्यत आहुः ॥ ॥ अ-  
न्यथेत्यादि ॥ अत इति ॥ यतस्तत्र नित्यं नापि पावनं वेदार्थस्तु तद्विलक्षणः  
अत इत्यर्थः ॥ तथाच गीतायामपीदमेव तात्पर्यमतो न सन्देह इत्यर्थः ॥ २२ ॥



किञ्चिदाशङ्कन्ते ॥ ॥ ननु वेदार्थ इत्यादि ॥ ॥ फलत्वेनेति । श्रद्धातपआदि-  
फलत्वेन प्रतिपाद्यमाना इत्यर्थः ॥ ते च त्रयो मार्गाश्छान्दोग्ये “ य इत्थं  
विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते तेऽर्चिरभिसम्भवन्ति ” इत्यादिना “ दे-  
वयानः पन्थाः ” इत्यन्तेन “ अथेमे ग्रामे इष्टापूर्त्ते दत्तामित्युपासते ते धूममभिस-  
म्भवन्ति ” इत्यारभ्य “ चाण्डालयोनिं वा ” इत्यन्तेन ॥ अथैतयोः पथोर्नेकतरेण  
च नेत्यारभ्य तृतीयं स्थानमित्यन्तेन पञ्चाग्न्युपासनकरणे प्रतिपादिताः ॥  
अत इति ॥ ॥ इष्टापूर्त्तकर्तृधूममार्गगमनप्रतिपादनादित्यर्थः ॥ समादधते ॥  
नात्रेत्यादि ॥ ॥ यथोक्ते ह्यपुनर्जन्मेति ॥ हि शब्दो हेतौ ॥ श्रुतावर्चिरादिमार्-  
गस्य ज्ञानफलत्वकथनादितरयोश्च जघन्यतया निन्दनाद्रीतायाङ्गामनिषेधकथ-  
नात् ॥ श्रीभागवते च ‘ कर्ममोक्षाय कर्माणि विधत्त ’ इति ॥ भिदां मायामात्रमनृत्या-  
न्ते प्रतिषिध्य प्रसीदतीति कथनादेवमवसीयते तस्मादित्यर्थः ॥ ॥ संगृहीत  
इति ॥ अनभिप्रेतत्वेन संगृहीत इत्यर्थः ॥ ॥ एवमिति ॥ येन लोको न पूर्यते  
सृष्टिश्चोत्तरोत्तरा स्यादित्यर्थः ॥ किञ्चिदाशङ्क्य परिहरन्ति ॥ ॥ नन्वस्येत्यादि ॥  
यद्ययं वेदानभिप्रेतस्तर्हीति शेषः ॥ किञ्चेत्यादिनोक्त आभासग्रन्थः प्रभूणाम् ॥  
॥ तत्फलमिति ॥ अधिकारविध्युक्तफलमित्यर्थः ॥ प्रतिपन्नमपीति पदं उक्त-  
मिति मूलस्थपदेनान्वेति ॥ ॥ जगतीत्यादि ॥ जगत्केशस्यानुभवसाक्षिकत्वा-  
त्तदनुवादेन जुगुप्सोत्पादनाय धूमादिमार्गकथनमिति तेनासौ लोको न सम्पूर्यते  
तस्माज्जुगुप्सेतेति तदुपसंहारग्रन्थादवसीयतेऽतस्तादृशकर्मणस्तत्फलेभ्यश्च वेतृ-  
ण्यार्थान्तदुक्तिरिति सापि नित्यफलादिपोषणार्थेवेति भावः ॥ तत्प्रकरणमनुरु-  
द्धच प्रयोजनमप्याहुः ॥ ॥ किञ्चेत्यादि ॥ ॥ पञ्चाग्निकलस्योत्कृष्टत्वकथ-  
नाय तदुक्तिर्न न तु तस्य तत्र तात्पर्यम् ॥ नहि निन्दान्यायादिति भावः ॥  
ननु तथापि प्रतिपन्नस्य कथं श्रुतावनुवाद इत्यत आहुः ॥ ॥ यथेत्यादि ॥  
अनूयत इति ॥ ॥ “ त्वष्टा हतपुत्रो वीन्द्र ५ सोममाहरत् ” इत्यादावनूयते ॥  
नहि वीन्द्रः सोमो विहितो नवोच्छिष्टसोमहवनत्रवा मन्त्रस्वरत्यागः ॥ तथाच  
यथा तत्र तथात्रापीति नायन्दोष इति यदुक्तमित्यादिर्निरूपणमितीत्यन्तः  
प्रभूणां ग्रन्थो निगदव्याख्यातः ॥ २३ ॥

ब्रजभाषाटीका ।

यद्यपि नित्यफलमेंही वेदको तात्पर्य है तथापि वैसे अधिकारीकों  
अनित्य काम्यफलमेंभी फरक नहीं आवेहै क्योंकि याग भगवदंश है



तासों सब अभिलषित फलभी होयजाय है ॥ वह फल नित्य नहिं है परन्तु या प्रकारको लोकसिद्ध वेदार्थ नहिं है । जो क्रियामात्रही वेदार्थ होय तो स्वर्गलोकादिकहीमात्र फल होय तब तो “ एतान्यपितु कर्माणि संगं त्यक्त्वा फलानि च ” इत्यादिगीतावाक्यमें कामनाको निषेधकरके कर्म करवेको उपदेश नहिं करते ॥ २२ ॥ शङ्का—वेदको अर्थ एकही होय तो फलरूप मार्ग न्यारे २ क्यों होने चाहिये. जैसे श्रद्धा तपश्चर्या इष्टापूर्ति आदिकनके फलरूप अर्चिरादिमार्ग जामार्गकरके जीव सूर्यलोकमें होयके गयो-भयो फिर नहिं आवेहै धूमादिमार्ग जामार्गकरके गयो जीव चन्द्रलोकमें जावेहै और धर्मक्षयहोवेंमें पीछोभी चलो आवेहै तथा तीसरो मार्ग ये तीनों मार्ग छान्दोग्य उपनिषदमें लिखेहैं तासों वेदही न्यारे २ फल तथा न्यारे २ साधन बतावेहैं तब आत्मसुखकी प्राप्ति तथा नित्यकर्मकी प्रवृत्ति करवेंमेंही वेदको तात्पर्य है ॥ ये बात कैसे बनमके ॥ उत्तर वेदके अनुभागों दो मार्ग नहिं हैं किन्तु वेदोक्तमार्ग तो एकही है. ज्ञानरहित यथार्थकर्मकरके जामार्गमें गयो जीव पीछो जन्म नहिं ग्रहण-करें है और जो जीव यथार्थज्ञानविना कर्म करेहै वाको फेर जन्म होवेहै ॥ ऐसेही ज्ञानरहित सकाम कर्म करवेवालेकें सृष्टि-वृद्धिकेलिये “ जायस्व म्रियस्व ” इति वाक्यानुसार अपनेही वशमें बारम्बार जन्ममरणको प्राप्त होनों पड़ेहै याहीमें अभिप्रायहैं विचारिके शास्त्रकारनने तथा भगवाननेभी गीतामें दो-मार्गको वर्णनकियो है, परन्तु वेदको साक्षात् अभिप्राय दोमार्गमें नहिं है । वेदको अभिप्राय तो यथार्थज्ञानमें कर्म करवायेकें “ अपुनर्भव ” फिर जन्म न हिं होय ऐसे अर्चिरादिमार्गमें

जीवको प्रवेश करवायवेमें है ॥ अब जो जीव यथार्थज्ञानसों कर्म नहिंकरेहै वाकूँ पुण्यक्षय भयेसों पीछो जन्म लेनोपडेहै ॥ तहाँ शङ्का होयहै धूमादिमार्ग वेदमें क्यों वर्णनकियोहै जो कहोगे धूमादिमार्ग वेदमें विहित नहिंहै ताको यह उत्तर है जो विधान नहिंहै तो केवल भ्रममात्रसों जानेभये मार्गको फल कैसे होजायहै ताको उत्तर देवैहै ॥ वैराग्यार्थमिति ॥ भ्रमसों प्रतिपन्नभी धूमादिमार्ग वेदमें वैराग्य होयवेकेलिये कह्योहै अर्थात् वारम्बार जन्ममरणादिक्लेश देखकै वैराग्य आवेगो तब नित्यकर्म करवेमें प्रवृत्त होयगो याकेलिये पञ्चाग्निविद्याके उपासकों फल सिद्धहोयवेकेअर्थ कह्योहै । जैसे अग्निकी स्तुतिके लिये “ धन्वन्निव प्रया असि ” इत्यादिकनमें लोकसिद्ध मारवाडदेशकी प्याऊको अनुवाद है तैसे भ्रमसिद्ध धर्मादिमार्गकोभी वेदमें वैराग्य होयवेकेलिये अनुवाद है यासोंही पशुपुत्रादिक तथा स्वर्गादिकनमेंही वेदको तात्पर्य है यारीतिको जिनकूँ भ्रम है उनकी गीताजीमें “वेदवादरताः पार्थ” “कामात्मानः स्वर्गपराः” इत्यादिश्लोकमें निन्दा लिखीहै ॥ भ्रमसिद्धकी उक्ति तो अत्यन्त विमुख अनुरागी मनुष्यकूँ कोईप्रकारसों सन्मार्गमें प्रवृत्तिकरवेकेलिये है जब उनफलनसों वाकी तृष्णा मिटजायगी तब तुच्छ समुद्रके उनसों वैराग्य होयजायगो तापीछे जन्ममरण छूटवेकेलिये नित्यकर्ममें प्रवृत्त होयगो । तात्पर्य यह सिद्धभयो अनेकप्रकारके विकृतियाग तथा अनेकफलनको निरूपण वेदमें कियोहै सो पञ्चात्मकनित्यकर्ममें प्रवृत्तिकेलियेही कियोहै ॥ २३ ॥

बहुप्रकारमेकं हि कर्म वेदे प्रकाश्यते ॥ भगवन्मूर्तितासिद्धयै ते सर्वे पूर्वजैर्धृताः ॥ २४ ॥ अल्प-

ज्ञत्वादाधुनिकाः पाठज्ञानाक्षमा द्विजाः ॥ म-  
न्दाः सुमन्दमतयो मन्दभाष्या ह्युपद्रुताः ॥ २५ ॥  
द्वापरान्ते हरिव्यासस्तदर्थम्प्रथमं पृथक् ॥  
चातुर्होत्रविभागेन न्यस्तवान् वेदरूपतः ॥ शा-  
खाभेदास्तु तच्छिष्यैस्तेनैव प्रेरितैः कृताः ॥ २६ ॥

तत्त्वदीपप्रकाशः ।

एवं वेदं वेदार्थञ्च निरूप्य शाखाभेदानां रूपमर्थञ्चाह ॥ बहुप्रकार-  
मिति ॥ एको ज्योतिष्टोमो भगत्वात्सहस्रमूर्तिर्यावता वेदेनोच्यते सैका  
शाखा ॥ सर्वेषां सर्वशाखाज्ञानन्नास्तीति सामान्यधर्मसहित एव विशेषः  
सर्वत्रोच्यते ॥ तेन न सामान्यकथनेन पुनरुक्तिः ॥ यज्ञेषु भगवहु-  
द्धिसिद्धयर्थमनेकरूपेण निरूपणं ते सर्वे विशेषप्रकाराः पूर्वजैर्मरीच्या-  
दिभिर्धृताः ॥ २४ ॥ आधुनिकानान्तथा सामर्थ्याभावात् शाखाप्रण-  
यनम् ॥ तत्राप्येका मूर्तिर्यावता वेदभागेन निरुक्ता भवति तावतो-  
प्यध्ययनं दुर्लभमिति प्रथमतश्चतुर्धा मूर्तेश्चतुर्थोऽंशो यावता प्रतिपाद्यते  
तावन्तं व्यासः पृथक् कृतवान् ॥ तस्य खण्डस्य सहस्रमूर्त्तावप्युपयोग  
इति स एवांश एको यावता निरुक्तः सन् ऋगादीनामेका शाखेति  
तथा व्यासशिष्यैः कृतमित्यर्थः ॥ २५ ॥ २६ ॥

आवरणभंगः ।

अवसरसङ्गत्या साधनैर्वहुरूपमित्यस्यार्थं वक्तुमाहुः ॥ ॥ एवं वेदमित्यादि ॥  
चाहेति चकारः प्रयाजनेस्यानुष्ठानप्रकारादेश्च संग्राहकः ॥ ॥ बहुप्रकारमित्या-  
दि ॥ ॥ तथा च यदि भगवत्त्वं यज्ञस्य नाभिप्रेयात्तदैकमेव तं नानारूपेण न  
ब्रूयात् ॥ एकेनैव रूपेण तस्य फलस्य सिद्धेः ॥ यद्यशक्तार्थं रूपान्तरन्तर्हि  
तेनैव शक्तस्य फलसिद्धेस्तदेव ब्रूयात् ॥ यदि पौष्कल्यार्थं रूपान्तरन्तर्हि  
तदेव फलत्वेन वदेन्नतु सर्वत्रैकफलं वदेत् । तस्माद्भगवन्मूर्तित्वसिद्धयर्थमेव तथा  
वदन्तीति निश्चयः ॥ ननु प्रकारबाहुल्ये कर्मणः कथमेकत्वमित्याकांक्षायां बहु-

प्रकारस्य कर्मण एकत्वे शाखान्तराधिकरणसिद्धार्थमुपदर्शयन्ति ॥ ॥ एक  
इत्यादि ॥ ॥ अयमर्थः । शाखान्तराधिकरणे नामरूपधर्मविशेषपुनरुक्तिनि-  
न्दाशक्तिसमाप्तिवचनप्रायश्चित्तान्यदर्शनाच्छाखान्तरेषु कर्मभेदः स्यादितिसूत्रेण  
भेदमाशङ्क्य “एकं वा संयोगरूपचोदनाख्याऽविशेषात्” इतिसूत्रेण सर्व-  
शाखासु “ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत” इति स्वर्गफलसंयोगस्य द्रव्यदे-  
वतयोर्यजनचोदनया ज्योतिष्टोमेत्याख्यायाश्चाविशेषात्सर्वशाखाप्रत्ययमेकमेव  
कर्म इति व्यवस्थाप्यन् नाम्ना स्यादचोदनाभिधानत्वादित्यादिभिश्चतुर्विंशतिसूत्रैः  
पूर्वपक्षहेतवो निराकृताः ॥ तथाहि ॥ काठककौथुमादिनामभेदान्न कर्मभेदः ॥  
तत्तच्छास्त्रोक्ता ज्योतिष्टोमादयः शाखान्तरोक्तेभ्यस्तेभ्यो भिन्नाः काठककौ-  
थुमादिभिन्ननामवत्त्वात् ॥ ज्योतिर्ज्योतिष्टोमादिवदिति साधने हेतोः स्वरूपा-  
सिद्धत्वात् । काठकमधीत इति प्रयोगदर्शनेन काठकेन यजेतेत्याद्यदर्शनेन  
तेषां ग्रन्थनामतया ग्रन्थसंयोगेन कर्मणि लाक्षणिकतया च कर्मनामत्वाभा-  
वेन पक्षे हेत्वभावात् ॥ अथ काठके भवङ्काठकमिति समाख्यामाश्रित्य यौगि-  
कत्वेन हेतुं विशेष्यार्चिकयाजुषहौत्राध्वयवकर्मवदिति दृष्टान्तेन भेदः साध्य-  
ते । तदप्यसङ्गतम् ॥ नानाशास्त्रभवलंघनाद्येकचिकित्सावदिति दृष्टान्तेन हेतोः  
साधारणत्वात् ॥ किञ्चैवं योगिकनामभेदेन कर्मभेदसाधने एकशास्त्रोक्तानाम-  
ग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादीनामप्येकत्वेनैककर्म्यापत्तेश्च । किञ्च ॥ काठकादिसंज्ञा-  
नाम्प्रवचनान्तरभावित्वेन ततः पूर्वमभेदात्तदनन्तरम्भेदवैरूप्यापत्तेश्च । नापि  
रूपभेदाद् । वाचनिकत्वेन तस्यापि साधारणत्वात् “पयसा जुहोति यवैर्जुहोति  
विष्णुरुपांशु यष्टव्यः विश्वेदेवा उपांशु यष्टव्याः” इत्यादिषु रूपभेदेऽप्यग्निहोत्रोपां-  
शुयागयोरभेदात् ॥ नापि धर्मविशेषात् । कारीरीवाक्यान्यधीयानास्तैत्तिरीया  
भूमौ भोजनमाचरन्ति नान्य इति विशेषस्याध्ययनधर्मत्वेन कर्मधर्मत्वस्यैवा-  
भावात् ॥ नाप्यविशेषपुनर्वचनात् । एकत्र प्रकरणे बहुकृत्वः श्रवणाभावेन  
तस्यैवाभावात् । तच्छ्रवणेन स एवायं याग इति प्रत्यभिज्ञोदयाच्च । न च  
क्वाप्यग्नीषोमीयमेकादशकपालं क्वचिद्वादशकपालमिति गुणविशेषविधानार्थायाः  
पुनरुक्तेरनुवादकत्वं शङ्क्यम् । तथासत्येककर्मत्वस्यैव सिद्धेः । वस्तुतस्तु नानु-  
वादकत्वं । शाखात्वानुपपत्तिप्रसङ्गात् ॥ यथा वृक्षे यावन्ति पुष्पफलपत्राणि  
शाखाभेदेन तत्र तत्र भवन्ति तथात्र वेदस्थं कृत्स्नं गुणकाण्डं तत्र तत्र शाखा-  
भेदेन वर्तत इति सादृश्येन तस्य तस्य भागस्य शाखात्वव्यपदेशात् । तथा सति  
यथा तत्तच्छास्त्रीयकुसुमादिषु न गुणप्रधानभावस्तथात्रापि तौल्येनानुवादा-

भावात् । नचैवं सति कर्मप्रत्यभिज्ञायाः सजातीयविषयकत्वेन कर्मभेदः शक्यः ।  
 सिद्धान्तसूत्रोक्तयुक्तिभिस्तास्मिन्निरस्ते प्रत्यभिज्ञायाः सजातीयविषयत्वस्याशक्य  
 शङ्कत्वात् । किञ्चैकप्रत्यविशेषपुनरुक्तौ तत्सार्थक्याय कर्मभेद आद्रियते । प्रकृते  
 तु प्रातिपत्तृभेदान्न कर्मभेदः शक्यः । वस्तुतस्तु प्रातिपत्तृभेदेऽपि न कर्मभेदः शक्य-  
 शकः । अन्यथैकमग्निहोत्रवाक्यमपि तांस्तान्प्रति प्रोच्यमानमग्निहोत्रमपि भिन्नात् ।  
 किञ्चासमाप्तिवचनसमाप्तिवचनाभ्यामपि कर्मैक्यम् । यथाऽन्वारोहेषु मैत्रायणी-  
 यानामग्निः समाप्यतेऽस्माकन्तु न समाप्यत इति हि वदन्ति । यदि कर्मभेदस्तदा  
 तत्समाप्यसमाप्त्योर्भेदात्तत्कर्मानृद्य तेनोत्प्रेक्षयेयुः ॥ नापि निन्दातो भेदः “प्रातः  
 प्रातरनृतन्ते वदन्ति पुरोदया जुह्वति येऽग्निहोत्रन्दिवाकीर्त्य यदि वा कीर्त्तयन्तः सूर्ये  
 ज्योतिर्न तदा ज्योतिरेषाम्” इत्यगुदितहोमनिन्दाया उदिते जुहोतीति विधिसमीपे  
 यथातिथये प्रदुतायान्नमाहरेयुस्तादृक् तद्यदुदिते जुह्वतीत्युदितहोमनिन्दायाश्चा-  
 नुदिते जुहोतीति विधिसमीपे पाठेन तस्या विधेयस्तुत्यर्थत्वेन तयोः पक्षयोर्निन्य-  
 त्वाभावाद्विकल्पपर्यवसायित्वेनाभेदकत्वात् ॥ नाप्यशक्तितो भेदः । तस्या इदानी-  
 न्तनेष्वेव सत्वेन पूर्वान्सर्वशाखाज्ञान् शक्तान्प्रत्यभेदकत्वात् ॥ नचैवंप्रातिपत्रैक्या-  
 पातेन पुनरुक्तापत्तिः । तस्याऽनन्तरूपबोधनार्थत्वात् । रूपाद्यभेदेन तथानि-  
 श्वयात् । नापि समाप्तेर्भेदः । दत्तोत्तरकत्वात् ॥ आध्वर्यवसमाप्तौ ज्योतिष्टोमसमा-  
 प्तिव्यपदेशवत्किञ्चित्कर्मसमाप्तावपि तद्दर्शनाच्च । नापि प्रायश्चित्ताद्भेदः । तस्य  
 प्रक्रमनिमित्तकत्वात् ॥ उदिते होष्यामीति प्रक्रम्यान्यथाकरण एव तद्दर्शनात् ॥  
 नाप्यन्यार्थदर्शनाद्भेदः । द्वादशाहे यदि पुरादिदीक्षमाणाः स्युर्यदि वैषां  
 ग्रहपतिश्चानुसत्रिण इति ॥ अथ यद्यदीक्षमाणा इति द्वादशाहे इष्टज्योतिष्टोमानाम-  
 निष्टज्योतिष्टोमानान्दर्शनश्रुतेर्यदि दीक्षमाणा द्वादशाहेनेत्येवम्परत्वात् ॥ नचात्र  
 मानाभावः । एतस्याः श्रुतेः सामवेदीयत्वेन सामवेदे च ज्योतिष्टोमस्याविहितत्वेन  
 तदीयताण्ड्यब्राह्मणस्थाया “एष एवाव प्रथमो यज्ञानां यज्ज्योतिष्टोमः । य  
 एतेनानिष्ठाऽन्येन यजेत गर्तपत्यमेव तज्जायेत प्रवामीयेत” इति प्रत्यवायादिवोधि-  
 कायां श्रुतौ वेदान्तरविहितज्योतिष्टोमानुवादेन तत्प्राथम्यबोधनस्य लिङ्गस्य वेदा-  
 न्तरविहितसर्वज्योतिष्टोमसाधारणतया तमनिष्ठा यागान्तरकरणे तस्य दोषस्यापि  
 साधारणताया एवेष्टत्वात्कर्मभेदपक्षेप्यस्मदुक्तकल्पनाया एवावश्यकत्वात् ॥  
 किञ्च ॥ यदि सर्वशाखाप्रत्ययमेकङ्कर्म न स्यात्तदा शाखान्तरविहितस्य शाखान्तरे  
 गुणो न विधीयते ॥ स च दृश्यते ॥ यथा मैत्रायणीयानां ऋतवो वै प्रयाजाः  
 समास्तत्र होतव्या इति समत्वं गुणः श्रूयते समिधादयः प्रयाजास्तु नाम्नायन्ते

वेदनामसौ प्रसिद्ध है ॥ ऐसे विभागको सहस्रमूर्ति होयवेमें उपयोग है, यज्ञकी सहस्रमूर्तिनमें एकमूर्ति जा वेदके जितने अंशकरके सिद्धहोयहै वो अंश वाही वेदकी शाखा कहावेहै. यार्गतिको विभाग व्यासजीके शिष्यननें कियो है ॥ २५ ॥ २६ ॥

प्रकारभेदे पूर्वन्तु विकल्पो ह्येच्छिको मतः ॥  
अधुना नियतः शाखाभेदात्तत्तदधीतिष्ठ ॥ २७ ॥  
कर्मवद्ब्रह्मभेदाश्च गीयन्ते बहुधर्षिभिः ॥  
तेषांभिन्नतया पाठे उच्छेदो भवतीति हि ॥  
कर्मशाखागताश्चक्रे निर्णयः पृथगेव हि ॥ २८ ॥

तत्त्वदापप्रकाशः ।

इदानीमनुष्ठाने कः प्रकारः कनानुष्ठयः किमिच्छया व्यवस्थया वेति सन्देहे निर्णयप्रकारमाह ॥ प्रकारभेद इति ॥ ब्रह्मादीनामैच्छिक एव आधुनिकानां व्यवस्थित इत्यर्थः ॥ २७ ॥ पुरुषः षोढा विहित इति पञ्चात्मके कर्माणि निरुक्ते पष्ठांशस्यापेक्षा भवति तत्प्रतिपादक-मुत्तरकाण्डं तच्च ब्रह्म तदप्यनन्तरूपमन्यथानन्तमूर्तित्वं न स्यात् ॥ अतो यत्रैव पञ्चात्मके यच्छिरो भवितुं युक्तन्नत्प्रतिपादिकोपनिष-त्तत्रैव योजिता ॥ तथैव हौत्रादिकमपि ज्ञातव्यम् ॥ तदेतदाह ॥ क-र्मवद्ब्रह्मभेदा इति ॥ इदमलौकिकमभवतीत्यत्र प्रमाणमि ॥ ॥ गीयन्ते बहुधर्षिभिर्गिति ॥ तेषामध्ययनसिद्ध्यर्थमाह ॥ तेषामिति ॥ तावदेव सम्पूर्णशाखाध्यायित्वं विव्यभावादुच्छेदो भवेत्तर्ह्येक एवार्थः प्रयोज-नं वाच्यञ्च स्यात् ॥ अन्यथा एकवाक्यता न भवेदिति तत्राह ॥ निर्णयः पृथगेव हीति ॥ व्यासेन कृतस्तोषाम्पाठार्थमेवैकवाक्यता निर्णय-स्तु पृथगेव व्यासेन कृतः ॥ अतो ज्ञायते वाक्यैकत्वस्यप्रयोजनैकत्वञ्च काण्डद्वयस्य नास्तीति ॥ द्वितीयस्यार्थावबोधपर्यंतमध्ययनम् । स्वाध्या-



यविधिनैव तस्यापि परिग्रहात् ॥ अन्यथा ब्रह्मणि सन्देहाभावान्निर्ण-  
यो व्यर्थः स्यात् ॥ अतः काण्डद्वयं भिन्नमपि एकत्र पाठितमंशतः  
परस्पररोपकारार्थं च । आधिभौतिकैर्यज्ञैश्चित्तशुद्धिर्वेदान्तैर्जीवस्वरूपवि-  
ज्ञानमिति ॥ मुख्यरूपत्वसिध्यर्थन्तु पृथङ्निर्णय इति हिशब्दार्थः ॥ २८ ॥

आवरणभगः ।

इदानीमित्यादि । ननु यागानां भगवद्रूपत्वेन साधारणत्वात्तत्प्रकाराणामपि तथा-  
त्वेन शाखाप्रणयनस्य मन्दार्थत्वेऽपि तासां प्रसिद्धत्वेन च सर्वेषां सर्वानुष्ठानप्राप्ता-  
वष्टदोषदुष्टस्यैच्छिकविकल्पस्य प्रसक्तिरिति तदभावायाधिकारिभेदोऽवश्यमभ्यु-  
पेयो यथा “वसन्ते ब्राह्मणोग्रीनादधीत” इत्यादौ । तथा सति तत्तदधिकारिणां स्फ-  
लसिद्धये एकस्य कर्मणो बहुप्रकारत्वं ननु भगवन्मूर्तित्वसिद्धये इत्याशयेनोक्तविधे  
सन्देहे पूर्वोक्तसाधनाय निर्णयमाहेत्यर्थः ॥ ॥ ब्रह्मादीनामित्यादि ॥ ॥ तथा  
चाष्टदोषदुष्टस्य विकल्पस्य पूर्वं सत्वान्नाधिकारिफलं कर्मभेदप्रयोजकङ्किन्तु  
भगवन्मूर्तित्वमेव प्रयोजकं शाखाभेदश्च मन्दार्थमेव न त्वधिकारिभेदज्ञापनार्थ  
इत्यर्थः ॥ एते न पूर्वन्तावता आयुषा तथानुष्ठानेनाभिव्यक्तादिरिदानीमेवमेता-  
वत्करणेऽपि तदिति भगवतो व्यासस्य च कृपालुतापि सूचिता ज्ञेया ॥ २७ ॥  
एवं पूर्वकाण्डार्थं सपरिकरन्निरूप्योत्तरकाण्डस्यैकवाक्यत्वाय तत्तच्छाखासु  
तत्तदुपनिषदाम्पाठे बीजमाहुः ॥ ॥ पुरुष इत्यादि ॥ ॥ तदिति ॥ ॥ उत्त-  
रकाण्डप्रतिपाद्यमित्यर्थः ॥ एतेनोत्तरकाण्डप्रमेयमुक्तम् ॥ उक्तार्थपोषायाहुः ॥  
तथैवेत्यादि ॥ ॥ एकमेव ब्रह्म तत्स्वरूपमनन्तविधमिति ॥ ॥ कथन्तज्ज्ञेयमित्या-  
द्याशङ्कायामाहुः ॥ इदमित्यादि ॥ ॥ ऋषिभिरिति ॥ उपनिषद्रूपैर्वेदवाक्यैरित्य-  
र्थः ॥ ऋषिपदस्य वेदवाचकत्वं “तदेतदृषिः पश्यन्नवोचत्” इत्यादिश्रुतौ अत  
ऋषयो दधुस्त्वयि मनोवचनाचरितमिति श्रुतिगीते चोक्तम् ॥ तावतैवेति ॥  
पूर्वकाण्डमात्रेणेत्यर्थः ॥ विध्यभावादिति ॥ अध्यापनाध्ययनाविध्योः पूर्व  
काण्डाध्ययनमात्रेणैव नैराकाङ्क्षाद्देदान्ताध्ययनाय तदतिरिक्तविध्यभावात्  
अर्थ इत्यस्यैव विवरणम्प्रयोजनमित्यादि ॥ अन्यथेति ॥ ॥ वाच्यप्रयोजन-  
योर्भेदात्तथा चोभयतःपाशारज्जुरिति भावः ॥ भिन्नवाक्यत्वमेकवाक्यत्वञ्चे-  
ति द्वयमपि समर्थयितुमाहुः ॥ तेषामित्यादि ॥ ॥ तेषामिति ॥ ॥ वेदान्ता-  
नाम् ॥ मूले कर्मशाखागता इति ॥ ॥ उपनिषद् इति शेषः ॥ विवृतौ एकवाक्य-  
तेति ॥ ॥ शाखान्तर्गतत्वं नास्तीति ॥ ॥ अतो भिन्नवाक्यत्वमेवेति भावः ॥ उप-  
निषदां शाखान्तर्गतत्वस्य पूर्वोक्तम्प्रयोजनं विशदीकुर्वन्ति ॥ द्वितियस्येत्यादि ॥



द्वितीयस्येत्युत्तरकाण्डस्य ॥ अन्यथेति ॥ ॥ पाठमात्राध्ययनेनध्ययने चार्थज्ञाना-  
भावेनेत्यर्थः ॥ भिन्नवाक्यत्वं समर्थयित्वैकवाक्यत्वं समर्थयन्ति ॥ ॥ अंशत इत्या-  
दि ॥ ॥ अंशत इति शास्त्रैकदेशात् ॥ उपकारं विवृण्वन्ति ॥ ॥ अभिभौतिकेत्यादि ॥  
तथाच विज्ञाते जीवस्वरूपे कर्तृनित्यत्वावगत्या जन्मान्तरभाविविश्वासः कर्ममा-  
र्गीयस्य । वेदान्तिन उपकारस्तु स्फुट एव । अथश्च शास्त्रैकदेशजन्य एव ॥ ननु  
यागस्य भौतिकत्वे स्वर्लोकस्य फलत्वेनोक्तत्वात्कथञ्चित्तुद्वेः फलत्वेन कथन-  
मिति चेन्न आनुषङ्गिकत्वेन तस्या अदोषात् ॥ अन्यथा देहात्मवादस्मार्तवादादि-  
भिरन्यथाप्रतिपत्त्या मतभेदेन विप्रतिपत्तौ संशये फलाभावप्रसङ्गादिति दिक् ॥  
नन्वेवं सति स्वार्थबोधे समाप्तानामङ्गाङ्गित्वाद्यपेक्षया वाक्यानामेकवाक्यत्वम्पुनः  
संहत्यजायत इति प्रयोजनेक्ये भिन्नवाक्यत्वव्याघात इत्यत आहुः ॥ मुख्ये-  
त्यादि ॥ तथाच रूपभेदेनोभयमप्यविरुद्धमितिभावः ॥ २८ ॥

व्रजभाषाटीका ।

अभी अनुष्ठान कोनरीतिसों करनो यज्ञ तो महम्मूर्तिवालो  
है कोन मूर्तिको अनुष्ठान करनोचाहिये अथवा अपनी इच्छाके  
अनुसार चाहे जा शाखाके अनुसार यज्ञभगवानकी एकमूर्तिको  
अनुष्ठान करलेनो ऐसो सन्देह प्राप्तभयो तहाँ निर्णय करें हैं ॥  
प्रकारभेद इति ॥ ब्रह्मादिक तो अपनी इच्छाके अनुसार्ही महम्म-  
मूर्तिवाले यज्ञभगवानको अनुष्ठान करें हैं क्योंकि उनमें महम्मप्रका-  
रही धारणकराखेहैं । आधुनिक जीव तो अल्पायुष्यवाले मन्द-  
बुद्धिवाले हैं तासों महम्ममूर्तिनमेंसों एकही मूर्तिको अनुष्ठान कर-  
सकें हैं, तहाँ जाशाखाको अध्ययन परम्परामों चलो आताहोय  
वा शाखामें जाप्रकारकी यज्ञमूर्तिको वर्णन होय वाके अनुसार  
वा यज्ञमूर्तिकोही अनुष्ठान करनो. अभीके कालमें यही नियम है  
पुरुषके छ अङ्ग होवें हैं, चरण २ हस्तर ( मध्यभाग ) धड १ मस्तक  
१ उनमेंसों पांच अङ्गको तो पूर्वकाण्डमें वर्णन आयो, छठो अङ्ग जो  
शिर है वाको प्रतिपादन करवेंवारे उत्तरकाण्डको उपनिषद्भाग है.

जैसे पूर्वकाण्डोक्त पांच अङ्ग अनन्तरूप हैं तैसेही उत्तरकाण्ड वेदान्तमें वर्णन कियो जो ब्रह्म है वोभी अनन्तरूप है अर्थात् जैसे हस्तपादादिक हजारन हैं वैसे मस्तकभी हजारन हैं ॥ २७ ॥ कर्मवदिति ॥ ये अलौकिक है जैसे न्यारी २ शाखानकरके कर्मके अनेक भेद हैं तैसे न्यार २ उपनिषदनमें ब्रह्मभी अनन्तरूपवालो प्रतिपादन कियो है । केवल पूर्वकाण्डके अध्ययनमात्रसों अपनी सम्पूर्णशाखाको अध्ययन भयो नहिं कहावे हैं, जो ऐसे होय तो उत्तरकाण्डात्मक उपनिषदनके अध्ययनकी न्यारी विधि नहिं होयवेके कारणसों कोईभी उपनिषदनकों नहिं पढ़ेंगे तो उपनिषदनको ( उच्छेद ) तिरोभाव होयजायगो तासों दोनों काण्डनको एकही प्रयोजन कहनो चाहिये अन्यथा एकवाक्यता नहोयगी और वेदभी दोनोंकाण्डकोही नाम है ॥ २८ ॥

असन्दिग्धोऽपि वेदार्थः स्थूणाखननवत्कृतः॥  
मीमांसानिर्णयैः प्राज्ञैर्दुर्बुद्धेस्तु ततो द्वयम्॥२९॥  
जैमिनिः कर्मतत्त्वज्ञो निर्णयम्पूर्वं उक्तवान् ॥  
व्यासः स्वयं हि सर्वज्ञ उत्तरे निर्णयं जगौ॥३०॥

तत्त्वदीपप्रकाशः ।

नन्वर्थावबोधेनैव निःसन्देहो जात इति किं निर्णयेन अर्थार्थावबोधेन सन्देहनिवृत्तिस्तदा दुष्टा परम्परा स्यादित्याशंक्याह ॥ असन्दिग्धोपीति ॥ पाठदशायां यद्यपि न सन्देहस्तथापि कालान्तरे सन्देहो भविष्यतीति लक्षणकरणवन्मीमांसाकरणं ॥ तत्र लौकिको दृष्टान्तः ॥ स्थूणाखननवदिति ॥ स्थूणा निखातापि पुनरुद्धृत्य निखात्यते तथा निःसन्दिग्धोऽपि सन्देहमापद्यदाख्याय निरूप्यते मीमांसानि-

र्णयकारैः॥ इदमुत्तमम्प्रति तेषाम्प्रयोजनं सफलं भवति ॥ मन्दमध्यमा-  
न्यप्रति तु सन्देहाभावो दार्ढ्यं चेति द्वयम् ॥ २९ ॥ तत्र निर्ण-  
यकर्तारमाह ॥ जैमिनिरिति ॥ कर्मज्ञानं निर्णयकरणे हेतुः ॥ उत्तरत्र  
व्यासः ॥ असर्वज्ञेन तन्निर्णयः कर्तुमशक्य इति सर्वज्ञो व्यास  
उत्तरत्र कर्ता ॥ ३० ॥

आवरणभंगः ।

मीमांसयोः सार्थकत्वबोधनाय किञ्चिदाशंक्य परिहरन्ति ॥ नन्वित्यादि ॥  
अंगादिविचारेणैव काण्डद्वयात्मको वेदो निःसन्देहो जात इति निर्णयेन जै-  
मिनिना व्यासैश्च कृतेन तेन किमित्यर्थः ॥ लक्षणकरणवदिति ॥ लक्षणग्रन्थ-  
स्य प्रातिशाख्यादेः करणवदित्यर्थः ॥ तथाच सन्देहनिराकरणार्थं मीमांसा-  
करणमावश्यकमितिभावः ॥ इदञ्च ब्रह्मसूत्रभाष्ये प्रथमाधिकरणसिद्धान्ते सम्य-  
क्तया प्रपञ्चितम् ॥ २९ ॥ व्यासोक्तस्य बलिष्ठत्वज्ञापनाय निर्णयकर्त्रोस्तारतम्यं  
ज्ञापयन्त आहुः ॥ तत्रेत्यादि ॥ ॥ करण इति ॥ ॥ निर्णयकरणे ॥ कर्म-  
ज्ञानमित्यादि ॥ ॥ एतेन मीमांसयोः प्रमाणप्रमेयसाधनफलैः प्रमेयबलं सू-  
चितम् ॥ यद्वैदिकं बलन्तदेव बलमिति ॥ ३० ॥

ब्रजभाषाटिका ।

पूर्वकाण्डकेसाथ उत्तरकाण्डको अध्ययन होयवेकेलिये दो-  
नोंकाण्डनकी एकवाक्यता है. निर्णय तो उत्तरकाण्डको व्यासजीने  
न्यायेही कियो है तासों प्रयोजन न्यारो है तथा वाक्यभेदभी है ॥  
परन्तु ( स्वाध्यायोऽध्येतव्यः ) इत्यादिश्रुतिमें वेदके अध्ययनमें  
उपनिषदनकोभी ग्रहण है तासों उत्तरकाण्डकोभी अर्थज्ञानपर्यन्त  
अध्ययन करनो, जो अर्थ जानेविना पाठमात्रसोंही अध्ययन सिद्ध  
होयजातोहोय तो मूलके पाठमें कोईकूँभी सन्देह नहिं होयगो तत्र  
तो ब्रह्मसूत्रनकेद्वारा कियो भयो निर्णय व्यर्थही जायगो तासों  
उपनिषदनकों अर्थसहित पढनों। दोनों काण्ड भिन्न हैं परन्तु एकही  
स्थानमें पढे हैं सो एकदेशकेद्वारा परस्पर उपकार होयवेकेलिये पढे  
हैं अर्थात् वेदान्तकेद्वारा जीव नित्य है ऐसो ज्ञान होय तब दूसरे

जन्ममें स्वर्गादिकप्राप्ति होयवेकेलिये यज्ञादिकर्ममें विश्वास होय यहही वेदान्तको पूर्वकाण्डमें उपकार है। ऐसैही आधिभौतिकयज्ञन करके आनुषङ्गिक चित्तशुद्धि होय तब वेदान्तको ज्ञान स्थिर होय येही पूर्वकाण्डको वेदान्तमें उपकार है तथापि उपनिषदनको मुख्यार्थ नहिं सिद्धभयो तब व्यासजीनें ब्रह्मसूत्र बनायके मुख्यार्थ सिद्ध करवेकेलिये न्यारो निर्णय कियो ॥ प्रश्न-अर्थज्ञानसौही वेद-को सन्देह दूरहोजायगो जैमिनिऋषि तथा व्यासजीनें दोनोंमीमांसासूत्र क्यों बनाये उत्तर-पाठसमयमें सन्देह नहिं है तथापि कालान्तरमें सन्देह आवश्य होयगो तब प्रातिशाख्यभाष्यद्वारा जैसै शब्दनके सन्देह दूरकियेजाय हैं तैसै अर्थको सन्देह मीमांसाद्वारा दूर होयगो ॥ गाडीभईभी थूणी दृढताकेलिये फिर उखाडके गाडीजावे है ऐसैही उत्तमाधिकारीनके हृदयमें निःसन्देह वेदार्थ है तामेंभी सन्देह उत्पन्नकरके दृढता होयवेकेलिये सूत्रनद्वारा निर्णयकारननें निर्णय कियोहै और जिनके हृदयमें सन्देह है ऐसे जे हीनाधिकारी तथा मध्यमाधिकारी उनके तो सन्देह मीमांसासूत्रनके द्वाराही दूरहोयहैं तथा दृढताभी होयहै ॥ २९ ॥ जैमिनि कर्मतत्त्वके जानवेवारे हैं तासोंपूर्व काण्डको निर्णय जैमिनिऋषिनें कियो और व्यासजी सर्वज्ञ हैं तासों उत्तरकाण्डको निर्णय व्यासजीने पोतेही कियो है ॥ ३० ॥

उभयोर्हि परिज्ञाने सर्ववेदार्थनिर्णयः ॥ निर्णयो बहुभिर्नष्टः पश्चाद्वक्ष्ये तयोर्गतिम् ॥ ३१ ॥  
 पुरुषो विहितः षोढा करौ पादौ शिरोन्तरम् ॥  
 शिरो ब्रह्म हरिः पूर्वं यज्ञः पञ्चविधः स्वयम् ॥  
 अनन्तमूर्तिर्भगवान् तेन शाखास्तथा कृताः ३२

तत्त्वदीपप्रकाशः ।

अतः सर्ववेदार्थज्ञानायोभयं ज्ञातव्यमित्याह ॥ उभयोर्हीति ॥  
ननु निर्णायके विद्यमाने कथं वेदार्थाज्ञानङ्कथं वा भगवद्भजनमिति  
तत्राह ॥ निर्णयो बहुभिर्नष्ट इति ॥ अन्यथा व्याख्यातृभिः श्रुति-  
सूत्रमविचार्य स्वेच्छया वदद्भिः ॥ तर्हि कथन्निस्तारस्तत्राह ॥ पश्चा-  
दिति ॥ गतिमुद्धारप्रकारम् ॥ ३१ ॥ उपसंहरन् पूर्वोक्तमर्थं स्पष्टमाह  
॥ पुरुष इति ॥ षोढा षट्प्रकारः ॥ अन्तरं मध्यं तत्र षट्सु शिरो-  
ब्रह्म ॥ सम्पूर्णः पुरुषोऽनन्तमूर्तिस्तेनानन्ताः शाखाः कृता इति सर्वो  
वेदः प्रमाणम् ॥ ३२ ॥ इति श्रुतिप्रकरणम् ॥

आवरणभंगः ।

॥ पश्चादिति ॥ ॥ उत्तरग्रन्थे वर्णाश्रमवतान्धर्म इत्यत्र ज्ञाने यर्हीत्यत्र च  
यथायथं वक्ष्यत इत्यर्थः ॥ ३१ ॥ ॥ पूर्वोक्तमर्थमिति ॥ ॥ यज्ञस्य भगवद्रूपत्वरू-  
पम्पूर्वकाण्डीयम्ब्रह्मणो हरित्वरूपमुत्तरकाण्डीयश्चेत्यर्थः ॥ ॥ षोढेत्यादि ॥  
तथाचाग्निहोत्रदर्शपूर्णमासौ करौ । पशुचातुर्मास्ययागौ पादौ । सोमो मध्यम् ।  
अत्राऽपि श्रुतिर्द्रष्टव्या शास्त्रान्तरे ॥ शिरो ब्रह्मेति ऋचाम्मुद्गीर्णं यजुषामुत्त-  
माङ्गम् । साम्नां शिरोऽथर्वणां मुण्डमिति कौपीनकिश्रुतेरित्यर्थः ॥ अत्र पूर्वकाण्ड-  
प्रमेयविचार इदं सिद्धम् । यज्ञोभगवदात्मकः क्रियारूपः प्रमेयन्तदभिव्यञ्जिका  
लौकिकी क्रिया साऽपि वेदान्तोक्तज्ञानसहितैव तथेति मर्यादायां ज्ञानकर्मसमुच्चय  
एवेति साधनम् । तथाच मुक्तसङ्गो न हम्वादीतिलक्षणकः सात्त्विकः कर्त्ता सर्वभूतेषु  
येनैकमिति सात्त्विकज्ञानयुक्तफलाकांक्षिभिर्यज्ञ इत्युक्तप्रकारेण सात्त्विकं  
यज्ञङ्करोति तदा स्वाज्ञाकरणसन्तुष्टेन भगवता यज्ञरूपाभिव्यक्तिद्वारा कर्ममुक्ति-  
र्दीयते । अतिकृपया तु सद्योमुक्तिः । अत्र यथायथं यज्ञाभिव्यक्तिः । कृपा च द्वार-  
भूता । सात्त्विकज्ञानाभावे पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानमिति राजसज्ञानवांश्चेत्सात्त्विकः  
सात्त्विकं यागङ्करोति तदा नित्यकर्मणामाध्यात्मिकत्वे फलाकांक्षाराहित्येन  
यथोक्तकर्मकरणात्कर्मसचिवानान्देवानान्तोपहारा वाक्यशेषोक्तमात्ममुखं योगि  
नामिव यथासङ्कल्पमभवति ॥ तत्र देवताप्रीतिर्वा द्रव्येण प्रीता देवतैव वा व्यापारः ।  
राजसज्ञानवान् रागी कर्मफलप्रेप्सुरितिलक्षणको राजसश्चेत् अभिसन्धाय तु  
फलमिति लक्षणकं राजसं यागं करोति तदा यागस्य भौतिकत्वे स्वर्लोकोऽपूर्व-

द्वारा भवति ॥ तत्रापूर्वमेव व्यापार इति सव्यापारम्फलमिति सिद्धमाहुः ॥ ॥ सम्पूर्ण इत्यादि ॥ प्रमाणमिति ॥ स्वोक्तार्थस्य भगवद्रूपत्वप्रमाजनक इत्यर्थः ॥ ३२ ॥

ब्रजभाषाटीका ।

वेदान्तनिर्णय अल्पज्ञ नहिंकरसकेंहै तासों सर्वज्ञ वेदव्यासजीनें उत्तरकाण्डको निर्णय कियो तासों समस्तवेदको अर्थ जानने केलिये दोनों मीमांसासूत्रनको ज्ञान आवश्यक है ॥ शङ्का—निर्णयकरवेवारे सूत्र विद्यमान हैं फिर जीवनकूँ वेदार्थ-ज्ञान तथा भगवान्‌के भजनमें प्रवृत्ति क्यों नहिं होय है. उत्तर—“निर्णयो बहुभिर्नष्टः” इति श्रुतिसूत्रको तात्पर्य विनाविचारे स्वेच्छासों व्याख्यान करवेवालेननें निर्णय बिगाडदियोहै तब अभीके मनुष्यनको कैसें निस्तार होय तहाँ निस्तारहोयवेके प्रकार आगे “वर्णाश्रमवतान्धर्मः” इत्यादिश्लोकनमें कहेंगे ॥ ३१ ॥ अङ्गनकूँ स्पष्ट कहेंहैं । दर्शपूर्णमास दोनों हस्त हैं, पशुयज्ञ चातुर्मास्य दोनों चरण हैं, सोमयज्ञ मध्यभाग ( धड ) है, ब्रह्मरूप हरि मस्तक है, ये सम्पूर्ण पुरुष अनन्तमूर्तिवालो है तासों अनन्तशाखा हैं याहीसों सब वेद प्रमाण है ॥ इति वेदान्निर्णयः ॥ ३२ ॥

अथ स्मृतिप्रकरणम् ॥

स्मृतिर्बहुविधा प्रोक्ता वेदाचारविभेदतः ॥  
ऋषीणां पूर्वचरितस्मरणं स्मृतिरुच्यते ॥ ३३ ॥  
तदाचाराल्लोकतश्च न्यायान्नित्यानुमेयतः ॥  
प्रवृत्तिर्जीविका लोके व्यवहारो विशुद्धता ॥ ३४ ॥

तत्त्वदीपप्रकाशः ।

एवं वेदन्निर्णय स्मृतिनिर्णयमाह ॥ स्मृतिर्बहुविधेति ॥ वेदवन्न स्मृतिनिर्णयः ॥ वेदे हि पञ्चात्मको द्विरूपः षडङ्गसहितो निरूपितः ॥ न तथा



स्मृतिः ॥ किन्तु बहुविधा ॥ अत्र वेदोऽपि मूलं व्यवहारोपीति तदाह ॥ वे-  
दाचारविभेदत इति ॥ स्मृतेर्लक्षणमाह ॥ ऋषीणामिति ॥ स्मरणं  
स्मृतिः ॥ ३३ ॥ तस्य स्मरणस्यानुभव एव मूलम् ॥ स त्वनुभवो बहुधा-  
जायत इत्याह ॥ तदाचारादिति ॥ पूर्वकल्पे यथाचारः स्थितः ऋषीणां  
यथा वा लोकव्यवहारस्तत्रापि देशभेदेन यो देशाचारो येन ऋषिणा  
स्मृतस्तेन तथोपनिबद्ध इति चकारार्थः ॥ न्यायोऽपि मूलं सोऽपि पूर्वक-  
ल्पस्थितः ॥ एते त्रयोऽपि व्यवहारोपयोगिनः ॥ धर्मापयोगिनीं स्मृति-  
माह ॥ नित्यानुमेयत इति ॥ योगबलेन नित्यानुमेयवेदं स्मृत्वा यद-  
वादिषुस्तदवश्यकृत्यम् ॥ चतुर्णांफलमाह ॥ प्रवृत्तिरिति ॥ आचारा-  
ल्लोके प्रवृत्तिः प्रकर्षेण स्थितिर्भवति लोकानुसारेण जीविका भवति ॥  
न्यायेन व्यवहारः ॥ नित्यानुमेयवेदोक्तेन विशुद्धता भवति ॥ अनेनैव  
वेदार्थे तस्या उपयोगः ॥ ननु प्रत्यक्ष एव वेदो मूलमस्तु किन्नित्यानु-  
मेयवेदेन अनुपलब्धेरिति चेदुच्छन्नशाखाप्रच्छन्नशाखा वा मूलमभवि-  
ष्यतीति मैवम् ॥ व्यासादिभिरपि सर्ववेदद्रष्टृभिरप्यनुमानत्वेन निरूप-  
णात् ॥ “अपि वा कर्तृसामान्यात्प्रमाणमनुमानं स्यात्” इति प्रत्य-  
क्षवेदमूलत्वेनानुमानमभवेत् ॥ अतः स्मृत्यानुमेय एव वेदो भवतीति  
नित्यानुमेय एव वेदो मूलम् ॥ अन्यथा वेदव्यासः “स्मृतिश्च” इति  
न वदेत् ॥ विद्यमाने प्रत्यक्षे वेदे किमिति व्यंतरिनामुदाहरेत् ॥ ३४ ॥

आवरणभंगः ।

एवम्बलनिश्चायनार्थं वेदा इति प्रमाणमध्ये प्रथमोद्दिष्टस्य वेदस्य पूर्वकाण्ड-  
प्रमेयभूतो विषयो निर्णीतः । अतः परं श्रीकृष्णवाक्यानि निर्णेतव्यानि ॥ तेषां  
पूर्वं स्मृतित्वेनोक्तत्वाद्देदनिर्णायकत्वार्थं स्मृत्यन्तरापेक्षयोत्कृष्टत्वञ्च वक्तव्यम् ॥  
अविरुद्धन्तु यत्त्वस्येति । “द्वापरादौ तु धर्मस्य” इति पूर्वोक्तमपि विशदीकरिष्य-  
न्तः स्मार्त्तप्रमेयबलनिश्चायनाय स्मृतिनिर्णिनीषन्ति ॥ एवमित्यादि । ननु स्मृ-  
तिनिर्णयो न पार्थक्येन कर्तव्यस्तासां वेदमूलकत्वात्तन्निर्णयादिशा स्मृतिनिर्ण-



यस्यापि सिद्धेरित्यत आहुः ॥ ॥ वेदवन्नेत्यादि ॥ ॥ कथम्बहुधेत्याकांक्षायां  
 हेतुमाहुः ॥ ॥ अत्रेत्यादि ॥ ॥ आचारमूलकत्वं वैसर्जनाधिकरणजज्ञेयम् ।  
 तथाच न वेदार्थनिर्णयेनैतान्निर्णयसिद्धिरिति पृथङ्निर्णय आवश्यक इत्यर्थः ॥  
 ॥ स्मृतेरित्यादि ॥ ॥ स्मृतीनामुभयमूलकत्वं बोधयितुन्तल्लक्षणमाहेत्यर्थः ॥  
 ॥ ऋषीणामिति ॥ ॥ कर्तृषष्टी तेन ऋषिकर्तृकम्पूर्वाचारस्मरणप्रयुक्तं वाक्यं  
 स्मृतिरित्यर्थः ॥ इति प्रमाणस्वरूपमुक्तम् ॥ एतेन “स्वयम्भूरेषभगवान्वेदो गी-  
 तस्त्वया पुरा । शिवाद्या ऋषिपर्यन्ताः स्मर्त्तारोऽस्य न कारकाः” इति “न केचिद्दे-  
 दकर्तारो वेदं स्मृत्वा चतुर्मुखः” इति देवीपुराणपराशरस्मृत्योर्व्याख्याद्देदस्यापि  
 स्मृतिगोचरत्वेन स्मृतिव्यवसक्तिर्निस्ता तत्र शब्दस्यैव स्मृतिगोचरत्वात् स्मृतौ  
 त्वर्थस्य तथात्वादिति ॥ ३३ ॥ तत्रापीत्यादि ॥ एतेन स्मृत्यंशविशेषाणामित-  
 रेतरेतिरोधः परिहृतः ॥ तत्तद्देशविशेषाचारे तस्य तस्य सावकाशत्वेन व्यव-  
 स्थितत्वादविरोधात् ॥ यथावर्णव्यवस्थितदशद्वादशपञ्चदशहमासाशौचसर्वसा-  
 धरणदशाहाशौचपक्षयोः ॥ न्याय इति ॥ ब्राह्मवाहदन्तकपौरन्दरबार्हस्पत्यौ-  
 शनसप्राचेतसादिरूपन्नीतिशास्त्रम् ॥ एते त्रय इति ॥ आचारलोकन्यायाः  
 व्यवहारोपयोगिनो व्यवहाराध्यायमूलभूतत्वात्तथेत्यर्थः ॥ धर्मोपयोगिनीमिति ।  
 गृह्यसूत्राचारप्रायश्चित्ताध्यायरूपां यागाद्युपयोगिनोमित्यर्थः ॥ तस्याः कुत  
 एवम्भाव इत्याकांक्षायामाहुः ॥ योगेत्यादि ॥ प्रकर्षेण स्थितिरिति ॥ तद्वि-  
 षयत्वेन वक्ष्यमाणानां व्रततीर्थगत्यादिकर्मणाम्प्रवाह इत्यर्थः ॥ ॥ अनेनैवेति ॥  
 विशुद्धिजनकत्वेनैव ॥ ॥ उपयोग इति ॥ ॥ साक्षादुपकारकत्वम् ॥ उत्सन्नप्र-  
 च्छन्नविप्रकीर्णशास्त्रामूलकत्ववादिनिरासाय किञ्चिदाशङ्कन्ते ॥ ॥ नन्वित्या-  
 दि ॥ अयमर्थः । धर्मस्य शब्दमूलत्वादशब्दमनपेक्षं स्यादिति स्मृत्यधि-  
 करणपूर्वपक्षसूत्र अचोदनामूलस्य स्मृतिवाक्यस्यानादरणीयत्वमुक्तम् ॥ तत्र  
 कथमचोदनामूलत्वमित्याकांक्षायाङ्किन्तेषां प्रत्यक्षचोदनामूलत्वमुतोत्सन्नचोदना-  
 मूलत्वमथवा प्रच्छन्नचोदनामूलत्वमाहोस्विन्नित्यानुमेयतन्मूलत्वाङ्किवा विप्रकीर्ण-  
 तन्मूलत्वमिति विमर्शं भाट्टाः ॥ नाद्यस्तदनुपलम्भात् ॥ उपलभ्यमानत्वे स्मृ-  
 तिप्रणयनवैयर्थ्यापातात् ॥ न द्वितीयः ॥ स्मार्त्तमूलश्रुतिसङ्घातात्मकशास्त्रोत्सादा-  
 ङ्गीकारे सहस्रसामशास्त्रा एकशतमध्वर्युशास्त्रा एकविंशतिशास्त्रम्बहुचमित्या-  
 दिशास्त्रापरिमाणस्य महाभाष्यादिप्रसिद्धत्वेन तदतिरिक्तभावनिश्वयात्तासाश्च  
 सदा प्रसिद्धतया उत्सादस्याशक्यवचनत्वात् ॥ अध्येतृणामत्यन्तावहितत्वेन  
 सर्वशास्त्रगततावन्मात्रश्रुत्युत्सादाङ्गीकारस्याप्यशक्यवचनत्वाच्च ॥ न तृतीयः ।

गणनाप्रसिद्धयैव प्रच्छन्नत्वनिरासात् ॥ न तुरीयः अन्धपरम्परापत्तेः ॥ नच लिङ्गादिभिः श्रुत्यनुमानवत्स्मृत्या श्रुत्यनुमाने कोऽपि न दोष इति वाच्यम् ॥ लिङ्गादीनां श्रौतत्वेन स्मृतीनाञ्च पौरुषेयत्वेन पुरुषदोषशङ्काकलङ्किततया तद्वैषम्यात् ॥ किञ्च ॥ स्मरणस्यानुभवसमानाकारविषयत्वनियमेन अष्टका कर्तव्येति स्मृत्या अष्टकाकर्तव्यताज्ञानं स्मृतिकारस्यानुमेयत्वेन तादृशश्रुतिस्वरूपं तेन श्रुतिज्ञानञ्च कल्पयित्वा स्मृतिप्रामाण्यं साधनीयमिति गौरवप्रयासबाहुल्यम् ॥ गुरुमते ज्ञानमात्रस्य स्वतः प्रामाण्यादनुमानस्यार्थमात्रे पर्यवसानाञ्च श्रुतिकल्पनपर्यन्तस्य प्रसर इत्यपि । तस्माद्विप्रकीर्णशास्त्रामूलत्वं स्मृतीनां युक्तम् ॥ विप्रकीर्णत्वञ्च भिन्नदेशपठितत्वम् । तच्च परप्रकरणपठितत्वम् । आरभ्याधीतमिति यावत् ॥ तथाच नित्यानुमेयपक्षेऽन्धपरम्परया रूपनिर्णयवत्स्मृतिप्रमेयमूलनिर्णयो न कथमपि शक्यवचन इति विप्रकीर्णपक्ष एव साधीयानित्याहुः ॥ तदेतदुक्तम् ॥ अनुपलब्धेरिति ॥ सिद्धान्तमाहुः ॥ भैवमित्यादि ॥ ॥ अनुमानत्वेनेति ॥ अत्र कर्मव्युत्पत्तिः ॥ अनुमेयत्वेन वेदस्येत्यर्थः ॥ स्मृतीनामनुमानत्वेनेति वा । तदर्थेन्द्रादशलक्षणीस्मृतिपादस्थद्वितीयसूत्रं प्रमाणत्वेनाहुः ॥ ॥ अपि वेत्यादि ॥ ॥ नानुमानम्भवेदिति ॥ जैमिनेरिति शेषः ॥ तथा च तथासतिप्रमाणं विप्रकीर्णं स्यादित्येव वदेत् ॥ अन्धपरम्परात्वं योगबलेनेत्यादिना प्रागेव निरस्तम् । एतेन सूत्रोपन्यासेन स्मृतिपादोक्तरीत्या स्मृतीनाम्प्रामाण्यमपि स्मारितं ज्ञेयम् ॥ ननु स सामग इति तस्य वेदान्तराज्ञानं सम्भाव्यत इत्याशङ्क्यामाहुः ॥ ॥ अन्यथेत्यादि ॥ ॥ अन्यथा दाशकितवादिश्रुतिवदनुभवे ॥ ॥ ह्यन्तरितामिति ॥ ॥ धर्मादिविषया स्मृतिस्तदनुभवजन्या स्मृतित्वात् स्मृत्यन्तरवदित्यादिनानुभवानुमाने तेन च तादृशार्थानुमानमिति स्मृतिः ॥ श्रुतिमपेक्ष्य ह्याभ्यामनुभवार्थाभ्यामन्तरिता भवतीति तथेत्यर्थः ॥ नच वेदमेव स्मृत्वा तदर्थस्योपनिबहुं शक्यत्वादेकान्तरितत्वमेव न ह्यन्तरितत्वमिति शङ्क्यं योगबलेन वेदमनुभूय तत्कथनस्यापि शक्यवचनत्वेन तस्य भागस्य स्मृति त्वोच्छेदप्रसङ्गात् ॥ अतो नित्यानुमेयवेदमूलत्वमेव साधीय इति निश्चयः ॥ अत एव पितामहस्मृतिर्विष्णुस्मृतिश्च युज्यते ॥ ३४ ॥

व्रजभाषाटीका ।

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥ अथ वेदार्थको निर्णय करके स्मृतिनको निर्णय करें हैं । वेदके निर्णयमें स्मृतिको गतार्थ नहिं होयमकैहै

वेदमें तो अग्निहोत्र पूर्णमास पशु चातुर्मास्य सोमयाग इन भेद-  
नकरके पञ्चात्मक तथा प्रकृतिविकृतिभेदकरके दोरूपवाले षडङ्ग-  
साधनसहित भगवान्को वर्णन है ऐसे स्मृतिको निर्णय नहीं है  
किन्तु स्मृति बहुतप्रकारकी हैं। स्मृतिनमें वेदभी मूल है और व्य-  
वहारभी मूल है, वेदके तथा सदाचारके भेदकरके स्मृति बहुतप्र-  
कारकी है। स्मृतिके लक्षण कहतहैं॥ ऋषीणामिति॥ ऋषिलोगन-  
नें पहिलीके आचारनको स्मरण करके जो वाक्य हैं उनको नाम  
स्मृति है तहाँ यह नियम है जाको अनुभव होयहै ताकोही स्मरण  
होय ॥ ३३ ॥ अनुभव अनेकप्रकारको है ॥ पूर्वकल्पमें ऋषिन-  
को जैसो आचार हतो जैसो लोकको व्यवहार हतो न्यारे २ देश-  
नके न्यारे २ जैसे आचार हते जा ऋषिनें जैसो अनुभव कियो  
हतो वाकूँ वैसोही स्मरण आयो वा ऋषिनें वैसोही अपनी स्मृ-  
तिमें वर्णन कियो यासों जिनआचारनमें परस्परविरोध दीखेहै उ-  
नकी देशभेदकरके व्यवस्था समुझलेनी ॥ जैसें कितनेक स्मृतिवा-  
क्यनमें तो ब्राह्मणकूँ दशदिनको क्षत्रियकूँ बारहदिनको वैश्यकूँ  
पञ्चदशदिनको शूद्रकूँ माहिनाभरको सूतक लिखेहैं, कितनेक वा-  
क्यनमें सबही वर्णके मनुष्यकेलिये दशदिनको सूतक लिखेहैं  
ऐसे स्थलमें देशभेदकरके व्यवस्था करलेनी, अर्थात् जादेशमें  
पूर्वकालमें जैसो अशौचको प्रचार हतो वा देशवासीनके  
लिये ऋषिननें वैसोही अशौच वर्णनकियो ॥ तात्पर्य यह है कि  
दोनोंपक्ष स्मृतिमें लिखेहैं तासों दोनोंही पक्ष प्रमाण हैं। जा देशमें  
सर्ववर्णमें दशदिनके अशौचको प्रचार होय वाहीदेशकेलिये  
वा वाक्यको समुझनो, जा देशमें चारोंवर्णनमें न्यारे २ अशौच  
प्रचलित है वादेशमें दशदिन द्वादशदिन पञ्चदशदिन मास-

मात्रके अशौच निरूपणकरवेवारे वाक्यनकरके व्यवस्था समुझनी॥  
 ऐसेही न्यायशास्त्रभी स्मृतिनको मूल है अर्थात् चन्द्र बृहस्पति  
 शुक्र आदि देवतानको कियोभयो नीतिशास्त्रभी स्मृतिको  
 मूल है । आचार लोकव्यवहार न्याय ये तीनों व्यवहाराध्यायके  
 मूलभूत हैं तासों व्यवहारके उपयोगी हैं । धर्ममें उपयोगवारी स्मृ-  
 तिको वर्णन करें हैं, योगके द्वारा नित्यानुमेयवेदको स्मरण करके  
 ऋषिनने जो बात कहीहै वाकें अवश्यकरवेयोग्य समुझनी । जैसे  
 गृह्यसूत्र आचारप्रायश्चित्ताध्यायादिरूप जो स्मृति है वाकें यज्ञा-  
 दिकनके उपयोगी होयवेसों धर्मोपयोगिनी समुझनी, इनचारोंके  
 फलको वर्णन करें हैं ॥ आचारसों लोकमें प्रवृत्ति होवेहै प्रकर्षकरके  
 स्थिति होवेहै अर्थात् व्रत तीर्थगमनादिकर्मनको प्रवाह होवेहै ॥  
 लोक व्यवहार मूलक स्मृतिके अनुसार बर्तावकरवेसों जीविका होवे  
 है ॥ नीतिशास्त्रमूलकस्मृतिके अनुसार बर्ताव करवेसों व्यवहार चले  
 है ॥ नित्यानुमेयवेदोक्तस्मृतिके अनुसार आचरणकरवेसों चित्त शुद्ध  
 होयहै ॥ चित्त शुद्धकरवेवारी है ताहीसों यह स्मृति वेदार्थमें भाषान  
 उपकार करवेवारी है ॥ शङ्का—जिन स्मृतिनमें आचारप्रायश्चित्ता-  
 दिक लिखेहैं उनस्मृतिनको ऋषिनने प्रत्यक्ष विद्यमान जो वेद है  
 वाहीके अनुसार वर्णन कियो है एसो माननो ॥ उत्तर—ऐमें होय-  
 तो स्मृतिनमें जैसे आचारप्रायश्चित्तादिक लिखेहैं वैसेही प्रत्यक्ष  
 वेदमें लिखेदीखने चाहिये सो नहिं दीखेहैं तासों नित्यानुमेयवेद-  
 को स्मरण करकेही स्मृतिको वर्णन कियोहै ऐमें माननो ॥ शङ्का—  
 उच्छिन्न प्रच्छिन्न अर्थात् लुप्त होगई जो वेदकी शाखा उनको  
 स्मरणकरके स्मृति बनाईहै ऐसे माननो ॥ उत्तर ॥ व्यामर्जाकृं आ-  
 दिलेके सम्पूर्णवेदकृं जानवेवारे जे जैमिनि आदि ऋषि हैं उननेभी

आचारनिरूपक स्मृतिनकूँ अनुमानरूप मानी है। स्मृतिनके द्वारा वेदकूँ अनुमेय मान्यो है ॥ जो कदाचित् प्रत्यक्ष वेदही स्मृतिनको मूल होय तो स्मृतिनकूँ अद्भुत रूप क्यों मानते या विषयमें जै-  
मिनिऋतपूर्वमीमांसाके स्मृतिपादको दूसरो सूत्र (अपि वा कर्तृ-  
सामान्यात् प्रमाणमनुमानं स्यात्) यह प्रमाण है तासों आ-  
चारप्रायश्चित्ताध्यायादिरूप स्मृतिनसों अनुमेय वेद एक जुदोही  
है वहही नित्यानुमेय वेद है वह वेदही स्मृतिनको मूल है. यदि  
ऐसें नहीं होय तो वेदव्यासजी “ स्मृतेश्च ” यह सूत्र नहिं  
बनावते क्योंकी वेदको मनुआदिकृषिननें योगबलसों अनुभव  
करकें वाही अनुभवको अपने बनाये मनुस्मृतिआदि ग्रन्थनमें  
वर्णनकियोहोय तो उनग्रन्थनकों स्मृतिपणो नहिं बनसकेगो.  
अनुभवरूपता होजायगी तथा प्रत्यक्षविद्यमान वेदकेही अनुसार  
स्मृतिनमें वर्णन होय तो प्रत्यक्षवेद विद्यमानही है “ द्रव्यन्त-  
रिताम् ” दोय जामें व्यवधान ऐसी स्मृतिको व्यासजी क्यों  
नाम लेते अर्थात् स्मृति वेदकी अपेक्षा अनुभव और अर्थ इन  
दोनोंकरकें व्यवधानवाली होवेहै याको विस्तार याश्लोकके आव-  
रणभङ्गमें लिख्यो है ॥ तात्पर्य यह है जो आचारप्रायश्चित्तादि  
वर्णनकरवेवारी स्मृति है उनको वेदमूलक नहिं मानें हैं तबतो  
अप्रामाणिक होजायगी क्योंकि जैमिनिऋषिनें “ धर्मस्य शब्द-  
मूलत्वादशब्दमनपेक्षं स्यात् ” या स्मृत्यधिकरणके सूत्रमें वेदवि-  
धिमूलक जे स्मृतिवाक्य नहिं हैं उनकूँ आदरणीय नहिं राखें हैं  
और जो प्रत्यक्ष वेद विधिमूलक मानें है तो प्रत्यक्षविद्यमान वेद-  
सोंही कार्य होजायगो स्मृतिनको बनावनों वृथा होय है तासों  
अनुभवाविना स्मरण नहिं होय है यह नियम है यासों जा अनुभ-

वको स्मरण करके मनुस्मृति आदि बनी हैं वह अनुभव नित्यानु-  
मेय वेदरूपही है ॥ ३४ ॥

संवादे चान्यशेषत्वान्न स्मृत्यर्थं स्पृशेच्छ्रुतिः ॥  
गृहादिरिव देहस्य धर्मस्योपकृतिः स्मृतिः ॥  
उभयोः समवाये तु धर्मः पुष्टो न चान्यथा  
॥ ३५ ॥ गर्भाधानादिसंस्काराः सन्ध्योपा-  
स्त्यादिक्रन्तथा ॥ नित्यश्राद्धादिकर्माणि पा-  
कयज्ञादिक्रन्तथा ॥ ३६ ॥ प्रायश्चित्तमिति  
ह्येष पञ्चधा धर्मसंग्रहः ॥ नित्यानुमेयवेदस्तु  
मूलम्पञ्चविधस्य हि ॥ ३७ ॥

तत्त्वदीपप्रकाशः ।

ननु दृश्यते स्मृतिसम्वादी वेदभागः । यथा “ धन्वन्निव प्रपा  
असि ” “ नाप्सु मूत्रपुरीषङ्कुर्यात् ” “ न विवसनः स्नायात् ” इ-  
त्यादि तत्राह ॥ संवादे चान्यशेषत्वादिति ॥ वेदेहि प्रकरणं सर्वत्र  
नियामकम् ॥ “ तस्मादाहिताग्निर्नानृतं वदेत् ” इति ॥ नहि आहिता-  
ग्नेरनृतानिषेधकं सर्वेषां भवति ॥ नाप्यबीष्टकोपधानकर्तुः ॥ जलं निष्ठी-  
वनादिनिषेधः सर्वेषाम्भवति ॥ नापि प्रपाया लोकसिद्धाया दृष्टान्तार्थ-  
ङ्कीर्त्तितायास्तदेव वाक्यं विधायकम्भवति ॥ वाक्यभेदप्रसङ्गान् ॥ यथा  
वेदेषु क्वचित्संवादो भिन्नशिष्याणाम्नाभागोपाख्यानादीनान्तथा नित्या-  
नुमेयवेदार्थेनापीति न स्मृत्यर्थं श्रुतिः प्रत्यक्षा स्पृशतीत्यर्थः ॥ ननु किं  
स्मृत्येत्याशङ्क्याह ॥ गृहादिरिवेति ॥ देहस्थानीयो वैदिको धर्मः ॥ गृह-  
स्थानीयः स्मार्त्तः ॥ उभाभ्यां जीवः सुखी नान्यथा ॥ ३५ ॥ नित्या-  
नुमेयवेदमूलिकायाः स्मृतेरर्थमाह ॥ गर्भाधानादिति ॥ पोटश



संस्काराः सन्ध्योपासनङ्कालादिसाहेतम् ॥ नहि तादृशानुपूर्वीवि-  
शिष्टं “ रक्षांसि हवा पुरोनुवाकः ” इत्यत्र वर्तते ॥ नित्यश्राद्धादिवि-  
धानं मासिकश्राद्धविधिः ॥ पाकयज्ञाः स्थालीपाकादयः ॥ आदि-  
शब्देन वैश्वदेवादिकमपि गृह्योक्तमखिलमिति यावत् ॥ ३६ ॥ प्राय-  
श्चित्तं पातकादीनाम् ॥ ३७ ॥

आवरणभंगः ।

कस्मिंश्चिदंशे पुनरव्याप्तिं हृदि कृत्वा विप्रकीर्णशाखामूलत्वमाशङ्कन्ते  
॥ ननु दृश्यत इत्यादि ॥ ॥ समाधिमाहुः ॥ ॥ वेदे हीत्यादि ॥ ॥ मूले  
संवादे चेति चकारोऽप्यर्थे ॥ ॥ तदेवेत्यादि ॥ ॥ कुमारशिखाधार-  
णवत्तेन विध्युन्नयने तस्यानुमेयत्वेन नित्यानुमेयानतिरिक्तत्वात्तन्मूलक-  
त्वादेतस्य विधायकतायाः शक्यत्वात् ॥ ॥ वाक्येत्यादि ॥ ॥ श्रौताना-  
म्प्रकरणावरुद्धत्वेन सङ्कुचितत्वात्तदनादृत्य साधारणत्वेऽधिकार्यन्तरप्रवेशेन  
वाक्यम्भिद्येतेत्यर्थः ॥ तस्मान्न विप्रकीर्णपक्षो युक्त इति भावः ॥ एवं सिद्धायां  
लक्षणशुद्धौ योशो वेदमूलकः सौप्याचारान्तरितत्वान्मूलभूतवेदस्यैतद्वैलक्षण्या-  
च्च न वेदनिर्णयेन निर्णीतो भवतीति पृथक्तया स्मृतिनिर्णय आवश्यक इति  
साधितम् ॥ एवं स्मृतीनाम्प्राप्यन्तर्निर्णयावश्यकत्वञ्च साधयित्वा प्रयोजनवि-  
मर्शयाहुः ॥ ॥ नन्वित्यादि ॥ ॥ मूले उपकृतिपदेनोपकरणभूतार्थे उच्यते । दे-  
हस्यानीयेत्यादिना च विव्रीयते । तथाच स्वाध्यायाध्ययनयागतपोब्रह्मविचाराणा-  
न्धर्माणां यथाययमाश्रमैकसाध्यत्वात्तन्निरूपिकाणान्तर्द्धर्मनिरूपिकाणाञ्च स्मृ-  
तीनां वैदिकधर्मपोषणमेव प्रयोजनमित्यर्थः ॥ ३५ ॥ ॥ नित्येत्यादि ॥ ॥  
या धर्म उपकरोति द्वाभ्यां विषयनिर्देशेन तां ज्ञापयितुन्तस्याः प्रमेयमाहेत्यर्थः ॥  
षोडशेति ॥ “ गर्भाधानमृतौ पुंसः सवनं स्पंदनात्पुरा ” इत्यादिना निरूपितः ॥  
गर्भाधानादिसंस्काराभावे शुद्धयभावेनाधिकारार्थन्तत्कथनमावश्यकम् ॥ उत्तरसं-  
स्काराभावे फलप्रतिबन्ध इति तदपि तथा ॥ एवं सन्ध्योपास्त्यादिकमपि शुद्धिज-  
नकत्वेन कर्माधिकारसम्पादकम् ॥ “ सन्ध्याहीनोऽशुचिर्नित्यम् ” इति “ शौचाचार  
विहीनानां समस्ता निष्फलाः क्रियाः ” इत्यादिवाक्यात् ॥ “ अकाले विहिता स-  
न्ध्या या सा वन्ध्यावधूरिव ” इति “ दिवोदितानि कर्माणि प्रमादादकृतानि चेत् ॥  
यामिन्याः प्रहरं यावत्तावत्सर्वाणि कारयेत् ” इतिचाप्रत्यक्षवेदमूलकत्वाभा-  
वायाहुः ॥ ॥ नहीत्यादि ॥ ॥ एवमेव नित्यश्राद्धादिषु शुद्धिहेतुत्वं प्रत्यक्षवेदमू-



लकत्वाभावश्च ज्ञातव्यः ॥ एवं वैश्वदेवमपि पञ्चसूनापनुत्तयेऽन्नशुद्धयै चावश्य-  
कम् ॥ प्रायश्चित्तमपि तथा ॥ तेन शुद्धौ कर्मयोग्यत्वसम्भवादिति ॥ स्थालीपा-  
कादय इति ॥ सप्त पाकयज्ञाः । औपासनहोमो वैश्वदेवम्पार्वणमष्टकामासिकश्राद्धं  
सर्पबलिरीशानबलिरिति ॥ एतदेव विवृण्वन्ति ॥ ॥ आदिशब्देनेत्यादि यावदि-  
त्यन्तम् ॥ ॥ प्रायश्चित्तादीनामित्यादिपदङ्कर्मविपाकसङ्ग्रहार्थम् ॥ ३६॥३७॥

व्रजभाषाटीका ।

शङ्का—स्मृतिनमें जैसे धर्म दीखेहैं तैसे प्रत्यक्ष वेदमेंभी दीखेहैं  
जैसे “ धन्वनः प्रपा असि ” “ नाप्सु मूत्रपुरीषं कुर्यात् ” । “ न  
विवसनः स्नायात् ” अर्थ—हे अग्नि तुम निर्जलदेशकी प्याऊ  
हो अर्थात् निर्जलदेशमें प्याऊ जैसे मनुष्यकूँ प्यारीहै तैसे तुम ह-  
मकूँ प्यारे हो । जलमें मूत्रपुरीष नहिकरनों । नग्न होकर नहिं  
स्नानकरनो इत्यादि अनेक धर्म वेदमें लिखेहैं तासों प्रत्यक्ष वेद-  
मूलकही स्मृतिनकों माननों ॥ उत्तर—सम्वादे चान्यशेषत्वादिति ॥  
वेदमेंभी प्रकरण सबठिकाने नियामक हैं. जैसे “ आहिताग्नि-  
नानृतं वदेत् ” अर्थ—अग्निहोत्री मिथ्या नहिंबोलै यह वाक्य  
है सो अग्निहोत्रादिकरवेवारेनकेलिये मिथ्या बोलवेकी नाई करेहैं  
सबनकेलिये मिथ्याको निषेध या वाक्यसों नहिंहोयसकेहै ऐसे  
यज्ञमें इष्टिका ईट स्थापनकरनेवालेकेलिये जलमें थूँकवेको निषेध  
है वह निषेध सबकेलिये नहिंहोयसकेहै ऐसेही लोकप्रसिद्ध प्या-  
ऊको दृष्टान्तकेलिये वेदमें नाम लिख्योहै तासों वेदमें सब मनुष्य-  
नकूँ प्याऊ बनायवेकी आज्ञा दीनीहै यह नहिकहसकेहै ॥ यदि  
वेदमें यज्ञके प्रकरणमें कहे जे वाक्य उनकूँ सब मनुष्यनके ऊपर  
मानलोगे तो पशुको आलभन ईटनको स्थापन इषेत्वाआदि  
मन्त्रसों वृक्षकी शाखाको छेदन सबनकूँ यज्ञ नहिं होय तबभी  
सर्वदाही करनो पडेगो तासों जायज्ञके प्रकरणमें जो वाक्य

होय वह वाक्य वा यज्ञके करवेवारेकेलियेही समुझनों. जो मव-  
 नकेलिये मानें तो ( वाक्यभेद ) अर्थात् एकवाक्यता नहिं-  
 रहसकेगी क्योंकि वाप्रकरणकूँ छोडकर साधारण जब मानेंगे  
 तब वा वाक्यके और अधिकारी होयसकेंगे । ये वाक्यभेद बडो  
 दूषण है जैसे वेदमें कहीं कहीं नाभागराजा आदिकनके उपा-  
 ख्यानको सम्वाद है तैसें नित्यानुमेय वेदके अर्थके साथभा कचि  
 त्सम्वाद है तासों स्मृतिके अर्थकूँ प्रत्यक्ष श्रुति स्पर्श नहिंकर्मकहै  
 किन्तु स्मृति नित्यानुमेयवेदमूलकही है ॥ स्मृतियें क्या बनाई या  
 शङ्काकूँ दूरकरतेभये स्मृतिको प्रयोजन कहेहैं ( गृहादिगिति ) ॥ जैसें  
 देह या जीवकूँ सुख देवेवारो है तैसेंही वेदोक्त यज्ञ तप ब्रह्मज्ञान  
 आदि धर्म या आत्माको सुखदेवेवाले हैं. जैसे देहको पोषणकरवे  
 वारो गृह है तैसें वेदोक्तयज्ञादिकनको पोषणकरवेवारो स्मृतिके  
 लिखेभये आश्रमादि धर्म हैं जैसें देह गृह ये दोनों होय  
 तब जीव सुखी होय ऐसेंही वेदोक्तधर्म तथा स्मृतिलिखिन धर्म  
 इन दोनोंकरके धर्म पुष्ट होवेहै एकसों नहिं ॥ ३५ ॥ नित्यानुमेय  
 वेदमूलक जो स्मृति है वाको अर्थ कहेहै ( गर्भाधानेति ) गर्भा-  
 धानकूँ आदिलेकें सोलहसंस्कार तथा समयके समय मन्ध्याकी  
 उपासना करनो तासों शुद्धि होय क्योंकि ( मन्ध्याहीनो  
 ऽशुचिर्नित्यम् ) या वाक्यमें सन्ध्या नहिंकरवेवारकूँ अपवित्र  
 बतायो है ॥ “शौचाचारविहीनानां समस्ता निष्फलाः क्रियाः”  
 या वाक्यमें आचारहीन अपवित्र पुरुषके किये कर्मकूँ निष्फल  
 बताये हैं ॥ तथा “अकालविहिता सन्ध्या या सा वन्ध्यावधृगिव”  
 या वाक्यमें कालचूककें करी भई सन्ध्याकूँ बांझम्ब्रीके समान  
 निष्फल बताई है, जैसें अनुक्रमसों स्मृतिनमें सन्धोपासनादिक

कर्म लिखेहैं वैसे क्रमसों “रक्षांसि ह वा पुरोनुवाकः” इत्यादि वेद मार्गमें नहिलिखे हैं॥ नित्यश्राद्धादिकनकी विधि मासिकश्राद्धकी विधि गृह्यसूत्रोक्त औपासन होम १ वैश्वदेव २ पार्वणश्राद्ध ३ अष्टका ४ मासिकश्राद्ध ५ सर्पबलि ६ ईशानबलि ७ ये सात पाकयज्ञ हैं, पाक सिद्धकरवेमें जो चक्की चूल्ही आदिमें पाँचप्रकारकी हिंसा होवेहै वाकूँ दूर करवेकेलियें वैश्वदेव अवश्य करनाँ चाहिये. इन कर्मनकूँ अपने गृह्यसूत्रके अनुसार करनाँ ॥ तात्पर्य यह है १ संस्कार १ सन्ध्योपासनादिक २ नित्यश्राद्धादिक ३ तथा पाकयज्ञ ४ तथा पापनके प्रायश्चित्त ५ इन पांचधर्मनको संग्रह नित्यानुमेय वेदमूलकस्मृतिनमें है ॥ ३६ ॥ ३७ ॥

व्रततीर्थादिकं काम्यन्नित्यवद्बोध्यते क्वचित् ॥  
पूर्वाचारेण सम्प्राप्तम्पुराणं मूलमस्य हि ॥३८॥  
कृष्यादिजीविकाशास्त्रं पूर्वर्ण्याचारतः प्रमा ॥  
करदण्डादिशास्त्रस्य मूलं युक्तिःपुराविदाम्३९

तत्त्वदीपप्रकाशः ।

व्रततीर्थादीनामपि नित्यानुमेयो वेदो मूलं भविष्यतीत्याशंक्याह ॥ व्रततीर्थादिकमिति ॥ श्रुतिमूलत्वे ब्राह्मणानामपि नित्यं कर्तव्यानि स्युरिति काम्यमित्युक्तम् ॥ किन्तु वेदानविकृतानां तन्नित्यम्भवतीति नित्यवद्बोध्यते ॥ तस्य च मूलम्पुराणम् ॥ तथा सति स्मृतित्वङ्कथमिति चेत्तत्राह ॥ पूर्वाचारेण सम्प्राप्तमिति ॥ न हि पुराणं दृष्ट्वा तस्य निर्माणं किन्तु आचारादेव ॥ ३८ ॥ इदानीमाचारः कुत्र मूलमित्याकांक्षायामाह ॥ कृष्यादीति ॥ षड्गवादिभागदानादिविधानं पूर्वर्ण्याचारतः प्राप्तं तथैव कर्तव्यम्प्रमाणमित्यर्थः ॥ करदण्डादेर्युक्तिमूलम् ॥ करोत्र कृषिव्यतिरिक्तः ॥ ३९ ॥

आवरणभंगः ।

एवं वेदमूलिका विशुद्धिफालिका स्मृतिर्विचारिता पौराणाचारमूलिकाम्प्रवृ-  
त्तिफालिकां विचारयन्ति ॥ ॥ व्रतेत्यादि ॥ ॥ भविष्यतीति ॥ ॥ ते-  
षामपि शुद्धिजनकत्वाविशेषाद्भविष्यतीत्यर्थः ॥ काम्यत्वे गमकमाहुः ॥ ॥ श्रु-  
तीत्यादि ॥ ॥ तीर्थानित्यत्वं साग्निकस्याग्निं विहाय तीर्थगमननिषेधस्य वाक्य  
दर्शनात् । व्रतानित्यत्वं च “अनङ्गान् ब्रह्मवारी च दीक्षितश्चेति ते त्रयः ॥ अश्वन्त  
एव सिद्धयन्ति नैषां सिद्धिरनश्रताम्” इतिवाक्याच्च ज्ञेयम् ॥ तेन वेदे यथा नित्य-  
कर्मप्रसिद्धयर्थं चित्रोद्भिदादिबोधनन्तथा स्मृताविदमित्यर्थः ॥ तर्हि नित्यवत्कुतो  
बोध्यत इत्याशङ्कयामाहुः ॥ किन्तित्यादि ॥ ॥ कथमिति ॥ ॥ वेदमूलक-  
त्वाभावात्कथमित्यर्थः ॥ आचारादेवेति ॥ सदाचारादेव ॥ तथाच सदाचारमूल-  
कत्वन्तस्या इत्यर्थः ॥ एतेन व्रततीर्थादिप्रवाहरक्षा पूर्वर्ष्याचारादेवेति सिद्धयती-  
ति प्रवृत्तिर्जीविकेत्युक्तस्य फलस्यापि न विरोधः ॥ ३८ ॥ एवम्पौराणा  
चारमूलिकाया विचारेण तस्याः प्रमेयमुक्तम् ॥ लोकमूलिकाम्बिचारयन्ति ॥  
॥ इदानीमित्यादि ॥ ॥ आचार इति ॥ ॥ लोकाचारः ॥ कृष्यादीत्यादिपद-  
संग्राह्यं तत्प्रमेयं दिङ्मात्रेणाहुः ॥ ॥ षडित्यादि ॥ “स्नानं सन्ध्या जपश्चैव देवानां  
पूजनं तथा ॥ तर्पणं वैश्वदेवश्च षट्कर्मा द्विज उच्यते ॥ षट्कर्माभिरतो नित्य-  
कृषिकर्म समाचरेत् ॥ हलमष्टगवं श्रेष्ठं षड्गवं मध्यमं स्मृतम् ॥ चतुर्गवं नृशंसानां  
द्विगवं वृषघातिनाम्” इति । “विप्रस्यैवम्बिधा वृत्तिस्तृणङ्काष्ठं च विक्रयेत्” इति पारा-  
शरोक्तजातीयं पिता चेत्पुत्रान्विभजेत्तस्य स्वेच्छा स्वयमुपात्तेर्थे पैतामहे त्वर्थे  
पितापुत्रयोस्तुल्यं स्वामित्वाम्बितृविभक्ताविभागानन्तरोत्पन्नस्य सम्बिभागन्द्युरि-  
त्यादि विष्णूक्तजातीयम् ॥ आदिपदेन प्रतिग्रहादिरूपश्च विधानं कार्यम् ॥ आपयपि  
धर्मरक्षणाय तदुक्तरीत्यैव कर्तव्यं । यतः पूर्वर्ष्याचारतः प्राप्तमतस्तच्छास्त्रप्रमाण  
मिति मूलाभिप्राय इत्यर्थः ॥ नीतिशास्त्रमूलिकाम्बिचारयन्ति ॥ ॥ करेत्यादि ॥  
॥ सपरिकरायाः कृषेरुक्तौ तदन्तर्गतो राजभागोऽप्युक्तप्रायण्वेति पुनः कथनम-  
युक्तमित्यत आहुः ॥ ॥ कृषिव्यतिरिक्त इति ॥ ॥ उत्कोचादिरूप इत्यर्थः ॥  
दण्डस्तु योब्राह्मणायावगुरेत्तं शतेन पातयेदित्यादि “अदुष्टाश्च त्यजन् दण्ड्यो  
दूषयँस्तु मृषा शतम्” इत्यादि “धिदण्डमप्रथमन्दद्यात्” इत्यादि विष्णुया  
ज्ञवल्क्यमनूक्तजातीयो ज्ञेयः ॥ ३९ ॥

व्रजभाषाटीका ।

व्रत करनो तथा तीर्थादिकनमें गमन करनो इत्यादि जो स्मृ-

तिनमें धर्म कहेहैं इन धर्मनको मूल पुराण है, ये धर्म अग्निहोत्री-  
के लिये नित्य नहीं है क्योंकि वाकूँ अग्नि छोडके विदेश  
जायवेको निषेध है, तथा “नैषां सिद्धिरनश्नताम्” इत्यादिवाक्य-  
नमें उपवासादिककोभी निषेध है ताहीसों ये धर्म काम्य  
कहावेंहैं परन्तु वैदिक अग्निहोत्रादिकर्म नहीं करेंहैं उनके  
लिये तो ये नित्य हैं तासों नित्यकर्मके समान व्रतती-  
र्थादिकनको नित्य करना बोधनकियो है ॥ तहाँ व्रततीर्था-  
दिक पुराणमूलक हैं तब इनकों स्मृतिपणों कैसे सम्भवसकें  
है यह शङ्का नहींकरनी, क्योंकि पुराण देखके ये स्मृति नहीं  
बनाई है किन्तु पूर्वकल्पके सदाचारको स्मरणकरके बनाई है  
तासों व्रततीर्थादिप्रतिपादक स्मृति आचारमूलकहै ॥ ३८ ॥ लो-  
कमूलिकास्मृतिको विचारकरेंहैं ॥ इदानीमित्यादि ॥ अभी आचार  
कहाँ प्रमाण है ऐसी आकांक्षा भई तहाँ कहेहैं ॥ कृष्यादीति ॥  
स्मृतिनमें जहाँ ब्राह्मणादिकनकृं आपत्कालमें खेतीकरनो  
लिख्योहै, जैसे “हलमष्टगवं श्रेष्ठं पङ्गवम्मध्यमं स्मृतम् ॥ चतुर्गवं  
नृशंसानां द्विगवमृषवातिनाम्” । अर्थ—एकहलके आठ बैल  
जोडके खेतीकरनो उत्तम पक्ष है, छः बैलसों खेतीकरनो मध्यम पक्ष  
है, चार बैलसों खेती करनों निर्दयप्रणो है, दोबैलसों खेतीकरनों  
बैलको मारडारनोहै इत्यादि ॥ ऐसैही जिनस्थलनमें पितामहा-  
दिकनके द्रव्यको विभाग करनो लिख्योहै तथा दानलेनों लिख्यो  
है उनस्मृतिभागनकूँ लोकव्यवहारको स्मरणकरके बनाये हैं तासों  
लोकमूलकस्मृतिभाग कहावेंहैं, परन्तु पूर्वऋषिनके आचारसों  
प्राप्त है तासों प्रमाण है यहमूलको अभिप्राय है ॥ जा स्मृतिभागमें  
खेतीवाले विना औरनसों कर लेनों तथा दण्ड देनों लिख्योहाये

वा स्मृतिभागकं युक्तिमूलक जाननों, नीतिमूलक स्मृतिभी याही  
सों कहें हैं ॥ ३९ ॥

शुद्धिङ्केचित् पृथक् प्राहुः संस्कारः कस्यचि-  
न्मतः ॥ देशकालद्रव्यकर्तृमन्त्रकर्मविभेदतः ॥  
षोढा शुद्धिः स्मृता सापि द्विधा ह्यन्योन्यतः  
स्वतः ॥ ४० ॥ सर्वशेषेयमाख्याता श्रुत्यर्थेऽपि  
विशेषतः ॥ धर्मः सम्पद्यते पङ्क्तिधर्मो ह्यन्यथा  
भवेत् ॥ ४१ ॥

तत्त्वदीपप्रकाशः ।

द्रव्यादिशुद्धौ विकल्पमाह ॥ शुद्धिमिति ॥ संस्कारपक्षे वेदो मूलं  
पृथक्पक्षे आचार इति ॥ प्रसङ्गाच्छुद्धेः स्वरूपमाह ॥ देशकालेति ॥  
षड्भिः शुद्धिः षण्णाञ्च शुद्धिरिति द्विधा ॥ ४० ॥ सर्वशेषत्वान्न वेदो मूल-  
मित्यभिप्रायेणाह ॥ सर्वशेषेयमिति ॥ बाधकमाह ॥ धर्म इति ॥ ४१ ॥

आवरणभंगः ।

एवङ्कर्तृशोधकः स्मृतिभागो विचारितः । नीतिमूलिकायाः प्रमेयश्चोक्तम् ।  
इदानीन्देशादिशोधकशुद्धिस्वरूपविचारमाहुः ॥ ॥ द्रव्यादीति ॥ ॥ शुद्धावि-  
ति ॥ ॥ शुद्धिस्वरूपा । शुद्धिस्वरूपे विकल्पे बीजमाहुः ॥ ॥ संस्कारेत्यादि ॥  
॥ पृथगिति ॥ ॥ पदार्थान्तरम् ॥ ॥ प्रसङ्गादित्यादि ॥ ॥ संस्कारपक्षे  
कर्मयोग्यतात्मकातिशयरूपं स्वरूपं सिद्धमिति पृथक्पक्षेपि स्वरूपस्योपेक्षानर्ह-  
त्वात्पृथक्त्वम्विवेकुन्तत्स्वरूपमाहेत्यर्थः ॥ ॥ षड्भिरित्यादि ॥ ॥ तथा-  
चान्योन्यतः शुद्धौ संस्काररूपत्वस्य शक्यवचनत्वेपि स्वतःशुद्धौ संस्कार-  
त्वस्याशक्यवचनत्वाच्चत्स्वरूपं संस्कारात्पृथगेवेत्यर्थः ॥ उदाहरणन्तु “ नवं  
वा निर्मलं वापि शुचीति द्रव्यमुच्यते ” इति शुचिसंज्ञामभिधाय “ अथ  
सर्वाणि धान्यानि वस्त्राण्याभरणानि च ॥ अवर्ज्यावर्ज्यज्ञातानि शुचीन्येतानि  
केवलम् ” इति “ स्वयमेवाहि यद्द्रव्यङ्केवलम्मेध्यताङ्गत्तम् । स्थावरं जंगमं  
वापि स्वयं शुद्धमिति स्मृतम् ” इति स्वयं शुद्धसंज्ञामभिधाय “ वसतिश्र-  
मसो यानमवाहनं साधनानि च ॥ क्षुरो नौरासनश्चेति स्वयं शुद्धमिति स्मृतम् ”



इतिदेवलस्मृतौ ॥ अत्र धान्यादीनां शुचित्वेऽपि ब्रीहीन् प्रोक्षतीत्यादिना तत्तत्सं-  
स्कारविधानात्तत्पूर्वकालीनं धान्यादिशुचित्वात्मकं शुद्धिस्वरूपम्विधितम्भव-  
ति । हेमाद्रिस्तु अशुद्धिर्नाम द्रव्यादेः स्पर्शनानर्हतापादको दोषविशेषः । संस्का-  
रविशेषोत्पादिता तन्निवृत्तिः शुद्धिरित्याह । तदेवलवचनविरोधाच्चिन्त्यम् ॥  
अत्र च षड्भिः शुद्धिर्यथा ब्रीह्यादेः सत्पात्रस्थत्वं नवत्वं श्रुतत्वन्तद्वृत्तिगुहृतत्वं  
मन्त्रपूतत्वङ्गताग्रयणत्वमित्येवम्बोध्याः ॥ ४० ॥ ॥ सर्वेत्यादि ॥ ॥ पृथगू-  
पायाः शुद्धेर्जीविकादिशेषत्वेनापि कथनात्तथेत्यर्थः ॥ ॥ बाधकमिति ॥ ॥  
शुद्धयभावे बाधकम् । तथाच पृथक्पक्षे श्रौतोपयोगिनीत्यर्थः ॥ मूलन्त्वेवं योज्यं ॥  
इयं शुद्धिः सर्वशेषा आख्याता श्रुत्यर्थे विशेषत आख्याता हि यतो हेतोः  
धर्मः षड्भिः कालादिभिः सम्पद्यत अतस्तस्या विशेषतः श्रुत्यर्थशेषत्वं युक्तम् ॥  
अग्न्याया कालाद्यशुद्धौ अधर्मा भवेदिति ॥ एतेन साधनमुक्तं ज्ञेयम् ॥ ४१ ॥

ब्रजभाषाटीका ।

स्मृतिनमं जास्थालमं पदार्थकी शुद्धि लिखी है वा स्मृतिभाग-  
को नित्यानुमेय वेदमूलक जाननों, क्योंकी शुद्धिके संस्कारमें अ-  
न्तर्भाव है, संस्कारसों ( पृथक् ) न्यारी पदार्थकी शुद्धि मानोगे तो  
वा स्मृतिभागकों आचारमूलक मानेंगे. परस्परशुद्धि तथा स्वतः  
शुद्धि इनभेदनकरके शुद्धि दोप्रकारकीहै. द्रव्य देश काल मन्त्र कर्म  
कर्ता इनकी परस्पर शुद्धि जैसे ब्रीहीकी मन्त्रादिकनकेद्वारा शुद्धि  
होवेहै, स्वतः शुद्धि जैसे “ क्षुरो नौ रामनञ्चोति स्वयं शुद्धमिति  
स्मृतम् ” अर्थ क्षुरा नाव आसन आदि पदार्थ स्वयं शुद्ध हैं इत्यादि  
जाबालस्मृतिके वाक्यमें लिखीहै, यह जो पदार्थनकी शुद्धि है  
सो जिविका व्यवहार लोकस्थिति इनसबनकी अङ्ग है तथापि  
वेदार्थकी विशेषकरके अङ्गभूत हैं, क्योंकी देश काल द्रव्य कर्ता  
मन्त्र कर्म ये छः पदार्थ जब शुद्ध होंय तब धर्म सिद्धहोय ॥ यदि  
ये कालादिक छः पदार्थ अशुद्ध होंय तो अधर्म होय ॥ ४० ॥ ४१ ॥

कल्पसूत्रेषु वेदत्वं स्मृतित्वञ्च प्रतीयते ॥ अर्थ-  
तः कर्तृतश्चापि तुल्यत्वात्पाठतः स्मृतिः ॥ ४२ ॥



सौकर्यार्थङ्कृतिस्तस्य सङ्कलीकृत्य वर्णना-  
त् ॥ तेनापि क्रियमाणस्तु धर्मः श्रौतो भवेद्  
ध्रुवम् ॥ ४३ ॥

तत्त्वदीपप्रकाशः ।

कल्पसूत्राणामृषिप्रणीतत्वात्स्मृतित्वमाशङ्क्य परिहरति ॥  
कल्पसूत्रेष्विति ॥ व्यवस्थामाह ॥ अर्थत इति । अर्थो वैदिकः ॥  
स्वराद्यभावात्कर्तुः स्मरणाच्च स्मृतित्वम् ॥ ४२ ॥ तर्हि अर्थस्य  
वैदिकत्वे को हेतुस्तत्राह ॥ सौकर्यार्थमिति ॥ कर्मज्ञानार्थमेव कल्प-  
सूत्रन्द्रष्टव्यं नतु तदुक्तत्वेन कर्तव्यमिति मुख्यः पक्षः ॥ गौणमाह ॥  
तेनापीति ॥ आधुनिकानां सङ्ग्रहार्थमुक्तम् ॥ ४३ ॥

आवरणभङ्गः ।

व्यवस्थामाहेति ॥ उभयरूपत्वं युक्तमेवेति वक्तुन्तामाहेत्यर्थः ॥ ॥ वैदिक-  
इति ॥ ॥ नित्यानुमेयातिरिक्तश्रुतिप्रसिद्धः ॥ पाठत इत्यस्य विवरणं  
॥ स्वराद्यभावादिति ॥ ॥ तथाच अर्थतो वेदत्वं कर्तृतः पाठतश्च कल्पसूत्रं  
स्मृतिरपि भवतीति मूलयोजना ॥ ४२ ॥ ॥ तर्हीति ॥ ॥ हेतुद्वयेन चेत्स्मृ-  
तित्वं दृढन्तर्हीत्यर्थः ॥ ॥ सौकर्यार्थमिति ॥ प्रत्यक्षवेदमवलोक्य साङ्गप्रधानप्र-  
योगैक्यप्रकारपरिचर्यार्थम् ॥ अर्थस्य वैदिकत्वाय बीजभूतं ज्ञानप्रकारमाहुः ॥  
॥ कर्मत्यादि ॥ ॥ मुख्य इति ॥ ॥ मुख्यो मरीच्यादिभिः क्रियमाणः ॥  
॥ तेनापीति ॥ ॥ वेदाङ्गभूतकल्पसूत्रोक्तत्वेनापि मूले ध्रुवमित्यनेन सङ्कली-  
कृत्य वर्णनापूर्वं तस्य वाक्यस्य श्रुतिरूपत्वादिति हेतुरभिप्रेयते ॥ ४३ ॥

ब्रजभाषाटीका ।

कल्पसूत्र ऋषिप्रणीतहै, वेद जैसे स्वर उनमें नहिं हैं तासों उनको  
पाठ स्मृतिनमें गिणोजावेहै तथा अर्थ उनको वैदिकहै, अर्थात् वे-  
द ऋषि यज्ञादिकनकी विधि बतायवेवारे हैं तासों अर्थसों उनकी  
वेदमें गणना है ॥ ४२ ॥ अर्थसों कल्पसूत्रनके वैदिक होयवेमें  
कहा हेतु है तहां कहें हैं ॥ सौकार्यार्थमिति ॥ यज्ञादिककर्मनको

सुकरतासों ज्ञान होयवेकेलियें कल्पसूत्रनकूं देखनें चाहिये परन्तु यज्ञादिकनके उत्तमाधिकारी मरीचिकूं आदिलेकें जे ऋषि हते उनके किये यज्ञनमें कल्पसूत्रनकी अपेक्षा नहिं हती. उनके शुद्ध अन्तःकरण हते तासों बिनाकल्पसूत्रही कर्मको स्वरूप भासमान होयजातोहतो यह मुख्यपक्ष है ॥ अभीके मनुष्यनकूं यज्ञादिक कर्मनको प्रकार जानवेकेलिये कल्पसूत्र देखवेकी आवश्यकता है, कल्पसूत्रनकेद्वारा करेभये यज्ञादिकही वैदिकधर्म समुझेजावें हैं ४३

इष्ट्योपासनकर्माणि न श्रौतानि कथञ्चन ॥  
भेदद्वैजात्यतश्चापि काल एकस्तयोः पर-  
म ॥ ४४ ॥ कालबाधान्न कर्त्तव्यं स्मार्तं श्रौतो  
बली यतः ॥ पश्चाद्वा गौणकालेऽपि कर्त्तव्यमि-  
ति केचन ॥ ४५ ॥

तत्त्वदीपप्रकाशः ।

गृह्याणां श्रौतत्वमाशंक्य परिहरति ॥ इष्टीति ॥ इष्टिः म्छालीपाकः  
तत्र हेतुः ॥ भेदादिति ॥ अग्न्यादि सर्वं श्रौतस्मार्त्तयोर्भिन्नम्विजातीय-  
यञ्च ॥ तर्हि कथमेककालविधानन्तत्राह ॥ काल एक इति ॥ तथापि  
श्रौतस्य बलवत्वाय निर्णयमाह ॥ कालबाधादिति ॥ मुख्ये काले  
बलिष्ठत्वाच्छ्रौतमेव कर्त्तव्यमतः कालस्य निमित्तस्याभावात्स्मार्त्तं न  
कर्त्तव्यम् ॥ अतएव सर्वाधानविधिः ॥ पक्षान्तरमाह ॥ पश्चा-  
दिति ॥ ४४ ॥ ४५ ॥

आवरणभंगः ।

॥ गृह्याणामित्यादि ॥ ॥ उक्तयेव दिशा गृह्योक्तधर्माणां श्रौत-  
त्वमाशंक्य वक्ष्यमाणहेतुभ्यान्तत्परिहरतीत्यर्थः ॥ ॥ भिन्नं विजातीयमिति  
॥ नाम्ना भिन्नं धर्मण विजातीयमित्यर्थः ॥ ॥ तर्ह्यिति ॥ ॥ स्मार्त्त-  
स्य कल्पोक्तधर्मतुल्यत्वाभावे ॥ ॥ अतएवेत्यादि ॥ ॥ सर्वाधानविधिः सर्व-

मादधातीति विधिः । एवञ्चास्मिन्पक्षे इष्ट्यौपासनयोरनावश्यकतया अकरणात्तदतिरिक्तस्यैव गृहस्थानीयत्वम्बोध्यम् ॥ ॥ पक्षान्तरमाहेति ॥ ॥ नन्वर्द्ध-  
मादधातीत्यपि विध्यन्तरं दृश्यते तथा नित्यानुमेयवेदमूलकत्वेन तयोरपि  
साधकत्वमिति कथमेकान्ततस्तद्वाध इत्यतः पक्षान्तरमाहेत्यर्थः ॥ तथाच मुख्य-  
काले स्मार्तस्य शिष्टैरकरणात्तन्निर्बलमिति ज्ञायते तेन विधिसत्त्वेपि कृताकृतं तत् ।  
अतो मतान्तरमेवेति भावः ॥ ४४ ॥ ॥ ४५ ॥

ब्रजभाषाटीका ।

गृह्यसूत्र श्रौत नहिं है इष्टि औपासन ये दोनों स्मार्तकर्म हैं, श्रौत तथा स्मार्त अग्न्याधानादि न्यारे २ और विजातीय हैं अर्थात् नामसौंभी भेद है. शङ्का-जब श्रौत स्मार्त अग्निहोत्र अलग अलग हैं तब दोनोंही अग्निहोत्र करवेको एककालको विधान कैसें बनसकें ॥ उत्तर ॥ एककालको विधानहै तथापि वेदोक्तकर्म स्मार्तकर्मकी अपेक्षा प्रबल है तासों मुख्यकालमें वैदिककर्मही करनां योग्यहै ॥ श्रौत करे पीछें स्मार्त अग्निहोत्र करवेको निमित्त काल रह्योनहिं तासों स्मार्त इष्टि औपासन नहिंकरनां ॥ पक्षान्तर कहें हैं ॥ श्रौतकर्म करें पीछें गौणकालमें स्मार्तकर्म करनां ऐसें कितनेक कहें है ॥ ४४ ॥ ४५ ॥

स्मार्तमात्रस्य करणादाभासो ब्रह्मणो भवेत् ॥  
स्वर्गाभासाद्यपि फलं श्रौतमात्रेपि चाखिलं ॥  
॥ ४६ ॥ ब्रह्मप्रकरणं स्मार्तकल्पसूत्रवदेव हि ॥  
पुराणमूलकश्चापि ह्याश्रमाचारतोदितम् ॥ ४७ ॥

तत्त्वदीपप्रकाशः ।

एवं श्रौतस्य बलिष्ठत्वायासहायशूरता निरूपिता क्वचित् तथा स्मार्तस्यापि भविष्यतीत्याशङ्क्याह ॥ स्मार्तमात्रस्येति ॥ ब्रह्म वेदः तद्वेत्तीति ब्राह्मणः ॥ स्मृतिरपि वेदमूलिकेति द्वयन्तरितत्वात्प्र-

तिबिम्बवेदाभासो भवति ॥ अतो ब्राह्मणोपि तादृस्याभासः फलञ्च  
तथेत्याह ॥ स्वर्गाभासेति ॥ चित्तशुद्धौ वासनाक्षयाभावो दैत्योपह  
तलोके च स्थितिरिति श्रुतौ ॥ तद्विपरीतमाह ॥ श्रौतमात्र इति ॥  
अखिलं मुख्यम् ॥ ४६ ॥ स्मृतौ ब्रह्मनिरूपणप्रत्यक्षोपनिषन्मूलकम्भ  
विष्यतीति प्रकारान्तरमाह ॥ ब्रह्मप्रकरणमिति ॥ तावान् भागः  
कल्पसूत्रवदिति तेनापि ब्रह्मज्ञानम्फलायेति गौणः पक्षः ॥ मुख्यमाह  
॥ पुराणमूलकमिति ॥ ननु स्मृतिर्मुख्या पुराणापेक्षया बलिष्ठा वेदसमा-  
नाधिकरणात्कथं पुराणमुपजीवेदित्याशङ्क्याह ॥ आश्रमाचारतेति ॥  
सर्वा आश्रमाः स्मार्त्तास्तेषामाचारनिरूपणप्रस्तावे चतुर्थाश्रमे ब्रह्मध्यानं  
मुख्यम् ॥ पुराणे च तदुक्तमिति ततो गृहीतमुपनिषदर्थग्रहणे उपनि-  
षत्त्वभङ्गादोषः स्यात्, शाखाव्यवस्था च भज्येतातः स्मार्तं ब्रह्मज्ञानञ्च  
वैदिकवत्फलसाधकम् ॥ ४७ ॥ इति स्मृतिप्रकरणम् ॥

आवरणभंगः ।

॥ एवमिति ॥ ॥ सर्वाधानविधिना मुख्यकालकरणेन चेत्यर्थः ॥ ॥ भवि-  
ष्यतीति ॥ ॥ अर्द्धाधानविधिनानुमेया भविष्यतीत्यर्थः ॥ ॥ तद्वेत्तीति ॥ ॥  
“ब्रह्मज्ञो ब्राह्मणः स्मृतः” इत्यर्थज्ञानपूर्वकानुष्ठानस्य विवक्षितत्वात्तत्करण एव  
मुख्यं ब्राह्मणत्वं “यो दुर्ब्राह्मणः” इत्यादिश्रुतेश्च । तदकरणे यत्तदाहुः ॥ स्मृतिरि-  
त्यादि ॥ आभास इति ॥ स्मार्तो धर्म इति शेषः । अतः स्वरूपतः फलतश्च जघन्य-  
त्वान्न क्वाप्यसहायशूरत्वमिति श्रौतपोषकत्वमेव स्मृतिप्रयोजनमिति निश्चयः ॥  
॥ ४६ ॥ एवन्धर्मोपयोगिनी स्मृतिर्विचारिता ॥ ज्ञानोपयोगिनी विचारयन्ति ॥ ॥  
॥ स्मृतावित्यादि ॥ ॥ प्रत्यक्षोपनिषन्मूलिकमिति ॥ ॥ योगियाज्ञवल्क्य-  
स्मृतौ माण्डुक्यपैत्रायणीयोपनिषत्सम्वादस्य दृश्यमानत्वात्सर्वत्र प्रत्यक्षो-  
पनिषन्मूलकमित्यर्थः ॥ ॥ कल्पसूत्रवदिति ॥ ॥ बोधसौकर्यार्थं सङ्कलीकृत्यो-  
पनिषद्भ्यो गृहीत इति श्रौत इत्यर्थः ॥ अस्य पक्षस्य गौणत्व उपपत्तिरनुपदमेव  
वाच्या ॥ मुख्ये किञ्चिदाशङ्कन्ते ॥ ॥ नन्वित्यादि ॥ ॥ बलिष्ठेति ॥ ॥  
श्रुतिस्मृतिपुराणानां विरोधो यत्र दृश्यते तत्र श्रौतं बलिष्ठं स्यात्तयोर्द्वे स्मृतिर्व

रेति व्यासस्मृतिवाक्यात्तथेत्यर्थः ॥ वेदसामानाधिकरण्यन्तूपपादितमेव ॥ समाधिमुपपादयान्ति ॥ ॥ सर्वे इत्यादि ॥ ॥ ननु पुराणेभ्य एव गृहीतमित्यस्य किं विनिगमकमित्यत आहुः ॥ ॥ उपेत्यादि ॥ ॥ दोष इति ॥ ॥ प्रतिपाद्ये दोष इत्यर्थः ॥ दूरषणान्तरमाहुः ॥ शास्त्रेत्यादि ॥ अयमर्थः ॥ स्मार्त ब्रह्मप्रकरणमेकतरोपनिषदर्थसंग्रहरूपं सर्वोपनिषदर्थसंग्रहरूपं वा । आद्ये उपनिषन्नाम्रस्तत्रानुपनिबन्धनात्किंशास्त्रीयस्य तदावश्यकमिति ज्ञातुमशक्तिर्यथाकथञ्चिज्ज्ञाने च तस्य भागस्य सर्वसाधारणत्वभङ्गप्रसङ्गः । द्वितीये च सर्वेषाम्फलसाधकत्वाविशेषात्तत्तदुपनिषदान्तत्तच्छाखायामुपनिबन्धनवैयर्थ्यप्रङ्ग इति तथेत्यर्थः ॥ सिद्धमाहुः ॥ ॥ अत इत्यादि ॥ ॥ तेनायमेव पक्षो मुख्य इति पूर्वोक्तस्य गौणत्व उपपत्तिरुक्ता ॥ एवं सर्वस्य स्मार्तप्रमेयस्य निरूपणेन प्रमाणप्रमेयसाधनफलैस्तद्वलं निश्चितन्तत्रेदं सिद्धम् ॥ स्मृतिरूपप्रमाणस्य स्वरूपं जन्यं ननु वेदवन्नित्यं तत्र यत् व्रतादिकं कृष्यादिप्रकारः करादिप्रकारो गर्भाधानादिकञ्च प्रमेयं साधनात्मकन्तयथाहं लोकसंग्रहादिकं साधयदपि श्रौते धर्मे शुद्धताजननेनोपकरोति स्वतंत्रन्तु स्वर्गाभासादि साधयति ननु श्रौतवदिति ॥ ब्रह्मप्रकरणन्तु श्रौतसंग्रहात्मकत्वे श्रौतत्वेन तत्रोपकरोति । पौराणत्वे तत्रोपकरोतीति न स्वतन्त्रफलसाधकम् । तेनोभयापेक्षया निर्बलमिति स्मृतेर्बलवत्त्वन्तु वर्णधर्म एवेति तेन पूर्वप्रकरणोक्ते अविरुद्धन्तु यत्त्वस्येत्यादिरूपे रसे भावनाविपरीतभावने निवारिते ॥ ४७ ॥ इति स्मृतिप्रकरणम् ॥

ब्रजभाषाटीका ।

श्रौतकर्म बलवत् है तासों असहायशूर है अर्थात् स्मार्तकर्मकी याकूँ अपेक्षा नहिं है, ऐसैं स्मार्तकर्मभी असहायशूर होयगो या शङ्काकूँ दूरकरैं हैं ॥ स्मार्तमात्रस्येति ॥ ब्रह्म जो वेद है ताकूँ जाने अर्थात् अर्थ जानके जो वेदको अनुष्ठान करैं है वो ब्राह्मण है, स्मृति है सोभी नित्यानुमेयवेदमूलक है तथापि अर्थ और अनुभव इन दोकरिकैं व्यवधानवालीहै, तासों जैसे कांचको व्यवधान होयवेसों दर्पणको मुखको प्रतिबिम्ब कहावेहै ऐसैंही स्मार्तधर्म वैदिकधर्मको आभास कहावेहै ॥ ऐसैंही जो ब्राह्मण श्रौतकर्म छोडकैं केवल स्मृतिके कर्ममात्र करैं है वोभी ब्राह्मणाभास

कहावेहै और वाकर्मसों फलभी वैसोही होवेहै ये आगेके श्लोक में कहें हैं ॥ स्वर्गाभासेति ॥ चित्तशुद्धि होयजावे और वासनाको क्षय नहोय दैत्यनको जामें उपद्रव होय ऐसे लोकमें स्थित होयकें सुखभोग करेहै यह स्वर्गाभास केवल स्मार्तकर्मको फल है ॥ याको तात्पर्य आवरणभङ्गमें लिख्योहै कि श्रौतधर्मको पोषण करना स्मार्तधर्मको प्रयोजन है । स्वतन्त्र होयकें मुख्यफल नहीं दे सकेहै, केवल श्रौतकर्ममात्रके करवेसों तो अखिल मुख्यस्वर्गादि-फल होवेहै येही वेदकी स्मृतिकी अपेक्षा अधिकता है ॥ ४६ ॥ स्मृतिनमें ब्रह्मप्रकरण प्रत्यक्ष उपनिषन्मूल होयगो ऐसी शङ्का दूरकरतेभये प्रकारान्तर दिखावेंहैं ॥ ब्रह्मप्रकरणमिति ॥ स्मृतिनमें जो ब्रह्मज्ञानको वर्णन है सो कल्पसूत्रनमें जैसो वेदोक्तकर्मनको आनुपूर्वी सङ्कलन कियो है तैसें उपनिषदके ज्ञानके सुगमताकेलिये संग्रह करके स्मृतिनमें वर्णनकियोहै तासों स्मृतिनकेद्वारा प्रकट-भयोभी ब्रह्मज्ञान फलार्थ है । यह गौणपक्ष है मुख्यपक्ष तो यहही है जो स्मृतिनमें लिख्यो ब्रह्मज्ञान सो पुराणमूलक है तहाँ शङ्का होवे है । स्मृति तो मुख्य है पुराणनकी अपेक्षा प्रबल है स्मृति क्यों पुराणनको आश्रयकरती होयगी तहाँ उत्तर आजाकरेहैं ॥ आश्रमाचारतोदितमिति ॥ सब आश्रम स्मृतिमें लिखेहैं तथा उन आश्रमनके आचार निरूपणकरेहैं तहां चौथे आश्रममें ब्रह्मध्यानको मुख्यतासों वर्णन करें हैं वा ब्रह्मध्यानको वर्णन पुराणमें कहाहै तासों पुराणसोंही संग्रहकरके स्मृतिमें ब्रह्मध्यानको वर्णनकियोहै ॥ उपनिषदनके अर्थको स्मृतिनमें संग्रह कियोहै ऐसे मानोगे तो उपनिषदत्वभङ्गदोष आवेगो अर्थात् स्मृतिनकरकेही कार्यसिद्धि होजायगी फिर न्यारी न्यारी शाखामें न्यारे न्यारे उपनिषदको



पाठ व्यर्थ होयगो, तथा स्मृतिनको लिख्यो ब्रह्मज्ञान सबशाखावाले नकेलियेही हितकारी मानेंगे तो अपनी अपनी शाखाके उपनिषदको लिख्योही ब्रह्मज्ञान फलार्थ है या प्रकारकी जो मर्यादा है ताको भङ्ग होयगो तासों स्मृतिनको लिख्यो ब्रह्मज्ञान स्वतन्त्र होयके वैदिकज्ञान जैसो फलसाधक नहीं है किन्तु उपनिषदनके ज्ञानको उपकारक है ॥ वर्णधर्ममेंही स्मृति बलवती है ॥ ४७ ॥

इति स्मृतिप्रकरणम् ।

पुराणं वेदवत्पूर्वसिद्धं सर्वोपयोगि तत् ॥ सर्वोपकरणानीव धर्मस्य नरगेहयोः ॥ ४८ ॥  
तदज्ञाने सर्वमौढ्यं तेन तद्दृढयं स्मृतम् ॥ भावयुक्तस्य धर्मस्य प्रमितौ तत्प्रयुज्यते ॥ ४९ ॥

तत्त्वदीपप्रकाशः ।

एवं स्मृतिमुपपाद्य पुराणनिर्णयमाह ॥ पुराणमिति ॥ तस्य वेदधर्मातिदेशः ॥ तेन धर्मार्थकाममोक्षा भक्तिश्चेति पञ्च नित्याः काम्याश्च विकृतास्तत्रापि देशादीनामङ्गत्वं पञ्चानामपि देशादिषट्कमङ्गस्पृथक् ॥ व्यासस्य कर्तृत्वमाशङ्क्य निराकरोति ॥ पूर्वसिद्धमिति ॥ नित्यमित्यर्थः ॥ तस्य प्रजोजनमाह ॥ सर्वोपयोगीति ॥ द्विविधा हि चत्वारोपि पुरुषार्था ईश्वरविचारिता जीवविचारिताश्च ॥ तत्रेश्वरविचारिता वैदिका जीवविचारिताः पौराणिका इति । अतः सर्वोपयोगित्वम् । वैदिकेऽप्युपयोगमाह ॥ सर्वोपकरणानीवेति ॥ श्रौतो धर्मो देहस्थानीयः स्मार्तो गृहस्थानीयः ॥ उपकरणस्थानीयः पौराणिक इति ॥ ४८ ॥ उपकारणाभावे सर्वथा स्थितिर्न भवतीति तस्यावश्यकत्वमाह ॥ तद्विना इति ॥ पुराणार्थाज्ञाने सर्वमौढ्यं बहिः पदार्थज्ञानाभावात् ॥ अतएव “श्रुतिस्मृती उभे नेत्रे पुराणं हृदयं स्मृतम्” इति हृदयत्वम् ॥

उ  
प्रा  
ह्या

मित  
तत्र  
स्मृ  
॥ त

प्रम  
सन  
ज्यं

तत्तु  
स्य  
प्रस

श्रुत  
ष्ठित  
कृत

बम  
श्रव  
ष्व

इति  
वेद  
पृथ

शो  
स्त  
श्व

त  
स्म  
य



उपयोगस्थानमाह ॥ भावयुक्तस्येति ॥ वेदे यज्ञादय उक्तास्तेषामभि-  
प्रायज्ञानम्पुराणादेव कदाचित्कर्तव्यं कदाचिन्न कर्तव्यम् ॥ “कर्मणो-  
ह्यपि बोद्धव्यम्” इतिवत् ॥ भावस्य ज्ञानम्पुराणात् ॥ ४९ ॥

आवरणभंगः ।

अतःपरम्पौराणप्रमेयस्य बलविचारणाय तन्निर्णयार्थमुपक्रमन्ते ॥ ॥ एव-  
मित्यादि ॥ ॥ वेदोपबृंहणत्वे स्मृतित्वेनैव सूत्रेषु तेषां ग्रहणेन तत्तुल्यत्वात् ।  
तत्र पुराणलक्षणस्य प्रसिद्धत्वान्नाममात्रेणैव निर्दिशन्ति ॥ ॥ पुराणमिति ॥  
स्मृतिनिर्णयादेतन्निर्णयस्य वैलक्षण्यं ज्ञापयितुम्पुराणे कश्चिद्विशेषमाहुः  
॥ तस्येत्यादि ॥ ॥ अतो वेदवदेवास्य निर्णयः कर्तव्य इति भावः । एतेन  
प्रमाणस्वरूपमुक्तम् ॥ एवञ्च बृहदारण्यके “इतिहासः पुराणम्” इति छांदोग्ये च  
सनत्कुमारनारदसम्वादे “इतिहासःपुराणम्वेदानाम्पञ्चमोवेदः” इति श्रुतिरपि यु-  
ज्यते ॥ केचित्तु श्रौतान्येवेतिहासादीन्यादाय तेषां पञ्चमत्वमस्यां श्रुतौ व्याचक्षिरे  
तत्तुच्छं तस्य वेदचतुष्टयान्तर्गतत्वेन पृथक्पाठसंख्ययोर्विरोधात्तावतो वेदभाग-  
स्य प्रक्षिप्तत्वापादकत्वाच्च ॥ पुराणादीनाम्वेदरूपत्वाभावे तैर्वेदोपबृंहणाभाव-  
प्रसक्तेश्च ॥ तथानङ्गीकारे तु “इतिहासपुराणाभ्याम्वेदं समुपबृंहयेत् ॥ बिभेत्यल्प  
श्रुताद्देवो मामयं प्रहरिष्यति” इति ब्रह्माण्डीयप्रथमाध्यायवाक्यस्य “वेदाः प्रति-  
ष्ठाताः सर्वे पुराणे नात्र संशयः” इति विष्णुपुराणवाक्यस्य “इतिहासपुराणैस्तु  
कृतोयं निश्चलः पुरा” इति स्कान्दप्रभासखण्डीयस्य “नान्यथा ज्ञायते धर्मो  
बम्हविद्या च वैदिकी ॥ तस्माद्धर्मःपुराणं च श्रद्धातव्यं मनीषिभिः” “इति कौर्मप-  
ञ्चदशाध्यायवाक्यस्य च विरोधापत्तेः ॥ न चायमर्थवाद इति वाच्यम् । “पुराणे-  
ष्वर्थवादत्वं ये वदन्ति नरधमाः । तैरर्जितानि पुण्यानि तद्देव भवन्ति हि”  
इति बृहन्नारदीये दोषस्मरणात् । अत इतिहासपुराणे प्रसिद्धे एव ग्राह्ये तेनात्र  
वेदातिदेशो युक्त एवेति दिक् ॥ तेन यत्प्रसिद्धयति तदाहुः ॥ ॥ तेनेत्यादि ॥  
पृथगिति ॥ ॥ तेन यत्प्रसिध्यति तदाहुः । तेन प्रतिपद्यत इति ज्ञातव्यमिति  
शेषः ॥ तथाच यथा वेदेष्विहोत्रादयः पञ्चार्था अनेकरूपाः सभेदाः साङ्गा उक्ता-  
स्तथा पुराणे धर्मादयोर्था उक्ता इत्यर्थः ॥ तथोक्तं मात्स्ये “धर्मश्चार्थश्च काम-  
श्च मोक्षश्च परिकीर्त्यते ॥ सर्वेष्वेव पुराणेषु तद्विरोधेषु यत्कलम्” इति । भक्तिरपि  
तथा । यथाचारमाधवे पुराणसारवचने । शैवश्च वैष्णवं शाक्तं सौरं वैनायकन्तथा ।  
स्कादं च भक्तिमार्गस्य दर्शनानि षडेव हि” इति ॥ अत्र व्युत्पत्त्यर्थं किञ्चिदुदा-ही-  
यते तत्र नित्यो धर्मो यथाऽतिथिपूजनादिः । “अतिथिर्विमुखो यातः पुण्यमादाय

गच्छति” इति ॥ काम्यो यथा पुत्रार्थेन्दिति पयोव्रतम् । नित्यार्थो यथा ब्राह्मणस्य यात्रार्थं कुसूलकुम्भीधान्यादि ॥ वानप्रस्थस्य “स्वयं सञ्चिनुयात्सर्वमात्मनो वृत्तिकारणम्” इति । “यावद्भियेत जठरं तावत्स्वत्वं हि देहिनाम् ॥ अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति” ॥ इत्यादिवाक्यैस्तस्य नित्यत्वम् ॥ काम्यो यथा इलायाः पुंस्त्वादिः ॥ नित्यकाम्यो यथा ऋतौ स्वदारागमनम् ॥ “ऋतुस्नातान्तु यो भार्याशक्तः सन्नोपच्छगति ॥ घोरायाम्भूणहत्यायां युज्यते नात्र संशयः” इत्यादिभिः । काम्यो यथा आग्नीध्रस्य पूर्वचित्ति सङ्गः । नित्यो मोक्षः सायुज्यम् ॥ काम्यः सालोक्यादिः । यथा सूतसंहितायां मुक्तिखण्डे । “एवं बहुविधाः प्रोक्ता मुक्तयः पुरुषोत्तमे ॥ एतास्त्वश्नुदचित्तानामिच्छा नित्यम्प्रजायते । सायुज्यरूपा परमा मुक्तिर्भुवि परात्मनि ॥ पारमार्थिकतादात्म्यरूपाप्यज्ञाननाशतः” इति ॥ द्विविधा भक्तिर्यथा श्रीभागवते “अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः । तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषम्परम् ॥ सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत । दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनञ्जनाः ॥ स एव भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृतः” इति मोक्षस्य भक्तेश्च नित्यत्वन्तदभावे संसारदुःखानिवृत्त्या ज्ञेयम् ॥ एवमेतदङ्गान्यपि ॥ तत्र धर्मस्याङ्गानि यथैकाशस्कन्धे “अकृष्णसारो देशानामब्रह्मण्योऽशुचिर्भवेत्” इत्यत्र निषेधमुखेन तदितरो देशो धर्मसाधकत्वेन बोधितः ॥ एवङ्कालः । यथा “कर्मण्यो गुणवान् कालो द्रव्यतः स्वत एव वा” इति ॥ तत्र स्वतो यथा “प्रौष्ठपद्यष्टकाभूयः पितृलोके भविष्यति” इति मात्स्ये ॥ द्रव्यतो तथा । नवेऽन्नादौ जाते आग्रयणस्य । एतेनैव द्रव्यं ज्ञेयम् । यथाच पयोव्रते “सिनीवाल्यां मृदा लिप्य स्नायात्क्रोडविदीर्णया” इत्यादि । कर्त्ता यथा “एतन्मे भगवान्पृष्टः प्रजाकामस्य पद्मज” इत्यत्र प्रजाकामः । एवं नित्येपि ज्ञेयः । मन्त्रो यथा “त्वन्देव्यादिवराहेण” इत्यादि मृत्तिकास्नानमन्त्रः ॥ कर्माप्युक्तप्रायमेव । यथात्रत्यं पयोव्रताङ्गभूतं मृत्तिकास्नानं । अर्थस्याङ्गानि । तत्र देशो यथा मात्स्ये राजधर्मेषु । राजा सहायसम्पन्नः प्रभूतयवसेन्धनम् ॥ रम्यमानतसामन्तमगम्यं देशमाविशेत्” इति । कालो यथा “वणिङ्मुनिनृपाः स्नाता निर्गम्यार्थान्प्रपेदिरे” इत्यादौ दशमस्कन्धे शरत्कालोऽर्थसाधनत्वेनोक्तः ॥ यथाच मात्स्ये “पुष्टा योधा भृता भृत्याः प्रभूतश्च बलं मम ॥ मूलरक्षासमर्थोऽस्मि तदा यात्राम्प्रयोजयेत्” इत्यादिभिः । द्रव्यं यथा विष्णुधर्मोत्तरादिषु । “सङ्ग्रहश्चात्र सर्वेषामायुधानाम्प्रशस्यते” इत्यादिराजधर्मकथने ॥ कर्त्ता यथा मात्स्ये । “यस्मिन्कर्मणि यस्य स्याद्विशेषेण च कौशलम् । तस्मिन्कर्मणि तं राजा परीक्ष्य

विनियोजयेत्” इति । मंत्रो यथा नारायणकवचादयः । कर्म यथा मात्स्ये “सं-  
 ग्रामेष्वनिवर्तित्वम्प्रजानाम्परिपालनं ॥ श्रुश्रूषा ब्राह्मणानाञ्च राज्ञां निःश्रेयसम्प-  
 रम्” इति । कामस्याङ्गानि तत्र देशः । यथा “प्रायशः प्राकृता लोकास्त्रियं रहसि बि-  
 भ्रति” इत्यादौ । कालो यथर्तुरात्र्यादिः ॥ द्रव्यं यथा गारुडे “मनःशिला पत्रकञ्च  
 सगोरोचनकुङ्कुमं ॥ एभिः कृते च तिलके नरः स्त्रीवशतामियात्” इति । कर्त्ता यथा  
 पुराणान्तरे वरलक्षणे “यस्याशु प्लवते बीजं द्वादि सूत्रञ्च फेनिलम् । पुमान्स्या-  
 ल्लक्षणेरेतैर्विपरीतैस्तु षण्ढकः” इति । मन्त्रो यथा गारुडे ॥ गणपतिमन्त्रमुक्त्वा  
 “अयुतञ्जुहुयाद्यस्तु शुचिः प्रयतमानसः । दृष्टमात्रे सदा तस्य वशमायान्ति  
 योषितः” इति । कर्म यथा गारुडे “रतिकाले महादेव पार्वतीप्रिय शङ्कर ॥ निजं  
 शुक्रं गृहीत्वा तु वामहस्तेन यः पुमान् । कामिनीचरणं वामं लिम्पेत्स स्यात्स्त्रि-  
 याः प्रियः” इति मोक्षस्याङ्गानि । तत्र देशो यथा “सप्त पुर्यस्त्रयो ग्रामा नवारण्या  
 नवोषराः” इति पुराणान्तरे मोक्षदत्वेन गणिताः । यथा वाराहे “काश्यादिपुर्यां यदि  
 सन्ति लोके तासान्तु मध्ये मथुरैव धन्या ॥ या जन्मभौजीवतमृत्युदाहैर्नृणाञ्चतु-  
 र्धा विदधाति मुक्तिम्” इति ॥ कालो यथा “अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः” इत्यादिजा-  
 तीयकवाक्यबोधितः ॥ द्रव्यं यथा “वानप्रस्थाश्रमपदेष्वाभीक्ष्णं भैक्ष्यमाचरेत् ॥  
 संसिद्धयत्याश्वसंमोहः शुद्धसत्त्वः शिलान्वसा” इति ॥ कर्त्ता यथा । न कामकर्म-  
 बीजानां यस्य चेतसि सम्भवः ॥ वासुदेवैकनिलयः स वै भागवतोत्तमः” इत्येका-  
 दशस्कन्धे ॥ मन्त्रो यथा ब्रह्माण्डपुराणे धरिणीशेषसम्वादः । “निर्विशय भोगान-  
 न्ते च कृष्णासायुज्यमाप्नुयात्” इत्युपसंहारात् । कर्म यथा एकादशस्कन्धे जायन्ते-  
 यवाक्ये पूजाम्प्रकृत्य “एवमन्यर्कतोयादावतिथौ हृदये च यः । यजतीश्वरमात्मान  
 मचिरान्मुच्यते हि सः” इति । भक्त्यङ्गानि यथा जनकजायन्तेयसंवादे “देशः क-  
 चिन्महाराज द्रविडेषु च भूरिशः” इति । कालो यथा तत्रैव “कृतादिषु प्रजा  
 राजन्कलाविच्छन्ति सम्भवं । कलौ खलु भविष्यन्ति नारायणपरायणाः” इति ॥  
 द्रव्यं यथा तत्रैव “कावेरी च महापुण्या प्रतीची च महानदी ॥ ये पिबन्ति  
 जलन्तासां मनुजा मनुजेश्वर ॥ प्रायो भक्ता भगवति वासुदेवेऽमलाशयाः” इति ॥  
 कर्त्ता यथा । “देवोऽसुरो मनुष्यो वा यस्तो गन्धर्व एव वा ॥ भजन्मुकुन्दचरणं  
 स्वस्तिमान् स्याद्यथा वयम्” इति सप्तमस्कन्धे ॥ मन्त्रो यथा षष्ठस्कन्धे गयरूपो  
 मन्त्रो येन शेषसाक्षात्कारः ॥ कर्म यथैकादशे “भक्तियोगं स लभते एवं यः पूजयेत्  
 माम्” इति । एवमिदं हि ब्रह्मात्रम्प्रदर्शितम् ॥ एवमन्यदपि यथायोग्यमूह्यम् ॥ ए-  
 तदेवोक्तम्पृथक् पृथगिति । एवं वेदस्य यज्ञार्थत्ववत्पुराणस्यैव पुमर्थार्थिता सूचिता

॥ व्यासस्य कर्तृत्वमाशङ्क्येति ॥ “ अष्टादशपुराणानि कृत्वा सत्यवतीसुतः ”  
 इति वाक्यादशङ्क्येत्यर्थः ॥ ॥ नित्यमिति ॥ ॥ “ पुराणं सर्वशास्त्राणाम्प्रथ-  
 मम्ब्रह्मणा स्मृतं ॥ नित्यं शद्धमयं ब्रह्म शतकोटिप्रविस्तरम् ॥ अनन्तरञ्च वक्त्रेभ्यो  
 वेदास्तस्य विनिर्गताः । पुराणमेकमेवासीत्तस्मिन् कल्पान्तरेऽनघ ” इति मातस्य-  
 वाक्यात्तथेत्यर्थः ॥ एवम्पुराणस्वरूपविषयकः सन्देहो निराकृतः ॥ एवञ्च व्यासक-  
 र्तृत्वं श्लोकसंग्रहवत्पुराणसमासकरणाद्बोध्यम् ॥ ॥ तस्येत्यादि ॥ ॥ वेदव-  
 त्पूर्वसिद्धत्वे वेदादेवार्थसिद्धेः किम्पुराणेनेत्याशङ्कानिरासाय तदाहेत्यर्थः ॥  
 ॥ सर्वोपयोगीति ॥ ॥ चतुर्वर्णोपयोगी ॥ तथाच वेदस्तु त्रैवर्णिकोपयोगी  
 इदन्तु सर्वोपयोगीतीदमेव सर्वोपकाररूपम्प्रयोजनमित्यर्थः ॥ ननु नेदम्प्रयो-  
 जनत्रैवर्णिकानां वेदादेवार्थसिद्धेः । अतः शूद्रोपयोगित्वमात्रं वक्तव्यमित्याश-  
 ङ्कायान्तदुपपादयन्ति ॥ ॥ द्विविधेत्यादि ॥ ॥ वैदिका इति ॥ ॥ प्रकृतिय-  
 ज्ञसाध्यो धर्मः । यज्ञोविकृतिसाध्योऽर्थः । पञ्चाग्निविद्यादिसिद्धः कामः । पराविद्या-  
 सिद्धो मोक्षः ॥ ॥ पौराणिका इति ॥ ॥ व्रतदानादिधर्मो नीतिसाधितोऽर्थः । वात्स्या-  
 यनाद्यनूदितः कामः । सांख्ययोगशैववैष्णवतन्त्रोक्तरीतिका मोक्षाः ॥ पुराणानां  
 सर्वोपयोगित्वञ्च “ श्रावयेच्चतुरो वर्णान् कृत्वा ब्राह्मणमग्रतः ” इत्यादिवाक्येभ्यो-  
 वगम्यते । अन्यथा शूद्राणामेव श्रावणं विधीयेतातस्तथेत्यर्थः ॥ ॥ वैदिकेपी-  
 त्यादि ॥ ॥ जीवविचारितानाम्भेदानधिकृतार्थत्वात्पुराणानान्तादृशतदर्थत्व-  
 मायातीति तन्निरासाय वैदिके यज्ञादिरूपे धर्मेऽपि तदुपयोगमाहेत्यर्थः ॥ ४८ ॥  
 ॥ स्थितिर्न भवतीति ॥ ॥ तथाच वैदिकार्थत्वान्महानेवोपयोग इत्यर्थः ॥  
 ॥ तस्यावश्यकत्वमाहेति ॥ ॥ उपकरणाभावेऽपि देहादिस्थितेर्लोकं दर्शनान्न  
 पुराणस्य तदर्थत्वमिति शङ्कायान्तदाहेत्यर्थः ॥ ॥ हृदयत्वमिति ॥ ॥ धर्म-  
 हृदयत्वम् । भावयुक्तस्येत्यत्र भावपदेनाभिप्राय उच्यते । तदुपपादयन्ति ॥ वेदे  
 इत्यादिना ॥ ॥ कदाचिदित्यादि ॥ ॥ यथा ब्रह्माण्डपुराणे कलिवर्ज्यकथने  
 ऽग्निहोत्रादिनिषेधः ॥ यथाच “ यावद्वर्णविभागोस्ति यावद्देदः प्रवर्तते । संन्या-  
 सञ्चाग्निहोत्रञ्च तावत्कुर्यात्कलौ युगे ” इति प्रतिप्रसवः । यथाच “ आहिताग्नि-  
 मग्निभिर्दहन्ति यज्ञपात्रैश्च ” इति श्रुत्या सर्वस्य साग्निकस्य श्रौताग्निभिर्दहि प्राप्ते  
 “ वैतानम्प्रक्षिपेदप्सु आवसथ्यञ्चतुष्पथे ॥ पात्राणि तु दहेद्भ्रौ यजमाने वृथा स्मृते ”  
 इत्येवञ्जातीयकेन श्रुतेः पतितातिरिक्तविषयत्वरूपो भावो बोध्यते ॥ यथाच  
 श्रीभागवते “ तावत्कर्माणि कुर्वीत न निर्विचेत यावता ॥ मत्कथाश्रवणादौ वा  
 श्रद्धा यावन्न जायते ” इति बोध्यते तथेत्यर्थः ॥ ॥ एवमेदार्थसन्देहवारकत्वेन मी-  
 मांसवदुपयोगो बोधितः ॥ ४९ ॥

ज्यमुक्ति “सायुज्यरूपा परमा मुक्तिर्भुवि परात्मनि ” ॥ काम्यमोक्ष जैसें सालोक्यमुक्तिप्रभृति, ऐसेंही निष्काम होके भक्ति करीजाय वह नित्यभक्ति कहावे है ॥ सर्वकाम अथवा मोक्षकामनाकेलिये भक्ति करीजाय वो काम्यभक्ति कहीजावे है ॥ जैसें अग्नि-होत्रादिकनमें देशकालादि छः पदार्थ अङ्ग हैं तैसें धर्मादिपदार्थनकेभी न्यारे देशकालादिक अङ्ग हैं ॥ शङ्का—“अष्टादशपुराणानां कर्ता सत्यवतीसुतः ” अर्थ—अठारहपुराणके कर्ता व्यासजी हैं इत्यादिवचनसों व्यासजी पुराणके बनायवेवारे हैं यह निश्चय होताहै उनकें वेदतुल्यता कैसें सम्भवसके ॥ उत्तर—पुराण सब नित्य हैं, पहिलीसोंही सिद्ध हैं ॥ “पुराणं सर्वशास्त्राणाम्प्रथमम्ब्रह्मणा स्मृतम् ॥ नित्यं शब्दमयं ब्रह्म शतकोटि प्रविस्तरम् ॥ अनन्तरञ्च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गताः ॥ पुराणमेव तत्रासीत्तस्मिन्कल्पे पुराणम् ” अर्थ—सबशास्त्रनके पहिली ब्रह्मानें पुराणको स्मरणकियो तापीछें ब्रह्माके मुखसों वेद निकसे वा कल्पमें पहिली पुराण ही हते इत्यादिमात्स्यपुराणके वचन या विषयमें प्रमाण हैं । जैसें धर्मसिन्धुनिर्णयसिन्धुआदिग्रन्थनके श्लोकसंग्रहकरयेमात्रसों कमलाकरभट्टआदि ग्रन्थकर्ता कहावेहैं तैसें सोक्रोडपुराणको संक्षेपसों चारलाखश्लोकमात्रके संग्रहकर्ता व्यासजी पुराणकर्ता कहावेहैं ॥ शङ्का—पुराण वेदके समानहै तबतो वेद विद्यमानही है वाही सोंही प्रयोज्य सिद्ध होयजायगो पुराणको कहा प्रयोजन है ॥ उत्तर—वेद है सो ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य तीन वर्णकोही उपयोगी है पुराण सबको उपयोगी है तासों सबनको उपकार होनोही पुराण प्रकटहोयवेको फल है ॥ शङ्का—तीनवर्णनको तो वेदहीसों उपकार होयजायेगो केवल शूद्रको उपकार होनोही पुराणको प्रयोजन कहनो योग्यहै ॥ उत्तर—चारोंपुरुषार्थ दोप्रकारके हैं

ईश्वरके विचारेभये धर्म अर्थ काम मोक्ष वेदमें लिखे हैं, याजीवके विचारेभये धर्म अर्थ काम मोक्ष पुराणमें लिखे हैं ॥ यदि शूद्रकेही लिये पुराण होय तो “श्रावयेच्चतुरो वर्णन्कृत्वा ब्राह्मणमग्रतः” इत्यादि महाभारतादिकनके वाक्यनमें चारोंवर्णकों पुराणको सुनावनो क्यों विधानकरते ॥ वेदके लिखेभये धर्ममेंभी पुराणनको उपयोग है, वेदोक्त यज्ञादिकधर्म देहस्थानापन्न हैं, स्मृतिनके लिखे संस्कार प्रायश्चितादिक धर्म घरके स्थानापन्न हैं, पुराणके लिखे व्रतदानादिक धर्म गृहकी अन्नवस्त्रादिक सामग्रीके ठिकाने हैं, जैसे घरमें कछु साहित्य नहीं होय तो देहकी स्थिति नहीं होयसकें ऐसे पुराणविना वेदोक्त धर्मकी स्थिति नहीं होसकें तासों पुराणकी अत्यावश्यकता है ॥ ४८ ॥

पुराणके अर्थको ज्ञान नहीं होय तहांताई सबप्रकारसों मनुष्य मूढ़ रहें है क्योंकि पुराणके जानेविना जगतके बाहरके पदार्थको ज्ञान नहींहोतहै याहीसों श्रुतिस्मृति ये दोनों धर्मके नेत्र हैं, पुराण धर्मको हृदय है, इत्यादि अनेकवचन हैं ॥ वेदमें यज्ञादिक कहे हैं उनके अभिप्रायको ज्ञान पुराणकेद्वाराही होतहै ॥ वैदिककर्म कब करनों कब नहींकरनों, कर्म अकर्म विकर्म आदिको स्वरूपज्ञान तथा कर्म कहांताई करनों इत्यादि बोध पुराणविना नहींहोय, जैसे ब्रह्माण्डपुराणमें अग्निहोत्रादिकनको निषेध कलियुगमें है ताकी व्यवस्था लिखीहै ॥ “यावद्वर्णविभागोस्ति यावद्वेदःप्रवर्तते ॥ सन्यासश्चाग्निहोत्रञ्च तावत्कुर्यात्कलौ युगे” ॥ अर्थ—जहाँताई ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र ये चारों वर्ण न्यारे रहें, जहाँताई चारों वेद विद्यमान हैं कलियुगमें सन्यास अग्निहोत्र तहाँताई करनों ॥ जैसे वेदमें लिखीहै अग्निहोत्रीकृत यज्ञपात्रकरकें सहित अग्निमें जलायदेनों इत्यादिवचनसों सामान्यकरके सबहि अग्नि-



होत्रीको श्रौताग्निकरकें दाह प्राप्तभयो तहाँ “ वैतानम्प्रक्षिपे दप्सु आवसथ्यं चतुष्पथे ॥ पात्राणि तु दहेदग्नौ यजमाने वृथा मृ-  
ते ” ॥ या पुराणवचनकरकें जो अग्निहोत्री पतित न होय वाहीको  
अग्निहोत्रकी अग्निसों दाह करनों ॥ जो अग्निहोत्री पतित होय तो  
वाके वैतानकूँ जलमें डारनों आवसथ्य अग्निकूँ चाररस्ताके मध्यमें  
धरनों पात्रनकूँ अग्निमें डारने इत्यादि व्यवस्था होतहै, ऐसेही  
कर्म कहाँतक करनों यह सन्देह भयो तहाँ “ तावत्कर्माणि कु-  
र्वीत न निर्विद्येत यावता ” ॥ अर्थ—तहाँ ताई कर्म करते रहनो  
जहाँताई पूरो वैराग्य मनमें दृढ नहिं होय इत्यादि श्रीभागवतपु-  
राणके वचनसों व्यवस्था होतहै तासों मीमांसा जैसे वेदके  
सन्देहकों दूरकरवेवारी है तैसे पुराणभी वेदके सन्देहकों  
दूरकरवेवारी है ॥ ४९ ॥

सर्वसृष्टिपदार्थानां यथार्थज्ञापनन्ततः ॥ शा-  
खाविभागवत्तस्य विभागः सोप्यनेकधा ॥ ५० ॥  
शतं कल्पास्ततोप्यन्ये सन्ति कृष्णेन निर्मि-  
ताः ॥ सत्त्वेन रजसा वापि तमसा वाप्यनेकधा ॥ ५१ ॥

तत्त्वदीपप्रकाशः ।

किञ्च ॥ सृष्टौ यावन्तः पदार्थास्तेषां याथार्थ्यं पुराणादेवावगन्तव्य-  
म् ॥ यथा “ प्रन्हादो ह वै कायाधवः ” इति कयाधूप्रभृतीनां स्वरूपम् ॥  
अष्टादशपुराणादिसमाख्यायामुपायमाह ॥ शाखाविभागवदिति ॥ ५० ॥  
तत्र यज्ञस्य भगवत्वं सिद्धमिति न सन्देहः ॥ प्रकृते कथमित्याशंक्य  
प्रकारमाह ॥ शतङ्कल्पा इति ॥ ब्रह्मण एकस्मिन्वर्षे एको मुख्यः कल्पो  
ब्रह्मजन्मादिवसादिः ॥ ततोऽप्यन्ये दैनंदिनाः ॥ दिनमध्येपि कल्पस-  
मसि केचिदाहुः ॥ तथा युगान्ते ॥ तत्र सर्वत्र भुवनात्मको वृक्षो

भगवान् नानारूपो भवति ॥ अतस्तत्प्रकारप्रतिपादकानि पुराणानीति  
शाखाविभागवद्विभागः ॥ अवान्तरभेदान्वक्तुमाह ॥ सत्वेनेति ॥५१॥

आवरणभंगः ।

एवं क्वचिदुपयोगमुक्त्वा धर्ममात्रेषु पुराणोपयोगमाहुः ॥ किञ्चेत्यादिना ॥ मूले  
युज्यत इति उपयुज्यत इत्यर्थः ॥ एतेनावान्तरप्रयोजनमुक्तम् ॥ अष्टादशेत्यादि ॥  
सार्द्धद्वयेन प्रमेयं विशदीकर्तुं वेदतुल्यतां दृढीकर्तुमत्रोपायमाहेत्यर्थः ॥ अष्टादशपु-  
राणादीत्यादिपदेनोपपुराणसंहितानाञ्च संग्रहः ॥ स च विभागो मात्स्ये सलक्षणक  
उक्तः ॥ “ कालेनाग्रहणं दृष्ट्वा पुराणस्य ततो द्विजाः । व्यासरूपमहं कृत्वा  
संहारामि युगे युगे ॥ चतुर्लक्षप्रमाणेन द्वापरे द्वापरे सदा । तदष्टादशधा कृत्वा  
भूर्लोकैऽस्मिन्प्रभाष्यते । अद्याप्यमर्त्यलोके तच्छतकोटिप्रविस्तरम् ॥ एतदर्थं  
चतुर्लक्षे संक्षेपेण निवेशितः । पुराणानि दशाष्टौ च साम्प्रतन्तदिहोच्यते ॥ नामत-  
स्तानि वक्ष्यामि शृणुध्वमृषिसत्तमाः । ब्रह्मणाभिहितम्पूर्वं यावन्मात्रं मरीचये ॥  
ब्राह्मं तु दशसाहस्रपुराणम्परिकीर्तितम् । एतदेव यदा पद्ममभूद्विरण्मयं जग-  
त् ॥ तद्वृत्तान्ताश्रयन्तद्वै पाद्ममित्युच्यते बुधैः । पाद्मान्तु पञ्चपञ्चाशत्सहस्राणीह  
पठ्यते । वाराहकल्पवृत्तान्तमधिकृत्य पराशरः । यत्राह धर्मानांस्त्रिंशत्तदुक्तं  
वैष्णवं विदुः । त्रयोविंशतिसाहस्रन्तत्प्रमाणं विदुर्बुधाः । श्वेतकल्पप्रसङ्गेन धर्मा-  
न्वायुरिहाब्रवीत् । यत्र तद्वायवीयं स्याद्वृद्धमाहात्म्यसंयुतम् । चतुर्विंशत्सहस्राणि  
पुराणन्तदिहोच्यते । यत्राधिकृत्य गायत्रीं वर्ण्यते धर्मविस्तरः ॥ वृत्रासुरवधोपे  
तन्तद्भागवतमुच्यते । सारस्वतस्य कल्पस्य मध्ये ये स्युर्नारामराः । तद्वृत्तान्तोद्भव  
न्तच्च पुराणम्परिकीर्तितम् ॥ अष्टादशसहस्राणि पुराणन्तत्प्रकीर्तितम् । यत्राह  
नारदो धर्मान्वृहत्कल्पाश्रयांस्त्वह । पञ्चविंशत्सहस्रसहस्राणि नारदीयन्तदुच्यते ।  
यत्राधिकृत्य शकुनीन् धर्माधर्मविचारणम् ॥ व्याख्यातञ्जैमिनिप्रश्ने पक्षिभिर्धर्म-  
चारीभिः ॥ मार्कण्डेयेन कथितन्तत्सर्वं विस्तरेण तु । पुराणं नवसाहस्रं बह्वर्थ-  
न्तदिहोच्यते । यत्तदीशानकल्पस्य वृत्तान्तमधिकृत्य च । वसिष्ठायाग्निना  
प्रोक्तमाग्नेयन्तत्प्रकीर्तितम् ॥ तच्च षोडशसाहस्रं सर्वकृतफलप्रदम् । यत्राधिकृत्य  
माहात्म्यमादित्यस्य चतुर्मुखः । अथोरकल्पवृत्तान्तप्रसङ्गेन गतिं स्थितिम् ॥  
मनवे कथयामास भूतग्रामस्य लक्षणम् । चतुर्दशसहस्राणि तथा पञ्चशतानि  
च ॥ भविष्यच्चरितप्रायम्भविष्यन्तदिहोच्यते । रथन्तरस्य कल्पस्य वृत्तान्तम  
धिकृत्य च । सेतिहासकथापूर्वं जन्मसम्बन्धवर्णिना” इति ॥ ब्रह्मचारिणा नारायण-  
रूपिणेत्यर्थः ॥ “ सावर्णिना नारदाय कृष्णमाहात्म्यसंयुतं ॥ यत्र ब्रह्मवराहस्य

चरितम्बर्ण्यते मुहुः । तदष्टादशसाहस्रं ब्रह्मवैवर्तमुच्यते । यत्राग्निलिंगमध्यस्थः प्राह देवो महेश्वरः । धर्मार्थकाममोक्षार्थमाग्रेयमधिकृत्य च । कल्पान्ते लिङ्गमित्युक्तपुराणं ब्रह्मणा स्वयम् ॥ तदेकादशसाहस्रं फाल्गुन्यां यः प्रयच्छति ॥ महावराहं तु पुनर्माहात्म्यमधिकृत्य च ॥ विष्णुनाभिहितं क्षोण्यै तद्वाराहमिहोच्यते । मानवस्य प्रसङ्गेन कल्पन्तु मुनिसत्तमाः ॥ चतुर्विंशत्सहस्राणि तत्पुराणमिहोच्यते । यत्र माहेश्वरान्धर्मानधिकृत्य च षण्मुखः ॥ कल्पे तत्पुरुषे वृत्ते चरितैरुपबृंहितम् ॥ स्कान्दनाम पुराणं तदेकाशीति निगद्यते ॥ सहस्राणि शतं चैकमिति मर्त्येषु पठ्यते । त्रिविक्रमस्य माहात्म्यमधिकृत्य चतुर्मुखः ॥ त्रिवर्गमभ्यधातुञ्च वामनम्परिकीर्तितम् । पुराणन्दशसाहस्रं कूर्मकल्पानुगं शिवम् । यत्र धर्मार्थकामानां मोक्षस्य च रसातले । माहात्म्यङ्कथयामास कूर्मरूपी जनार्दनः । इन्द्रयुप्रसङ्गेन ऋषीणां शकसन्निधौ ॥ सप्तदशसहस्राणि लक्ष्मीकल्पानुषङ्गिकं ॥ श्रुतीनां यत्र कल्पादौ प्रवृत्त्यर्थञ्जनार्दनः । मत्स्यरूपी च मनवे नरसिंहोपवर्णनं ॥ अधिकृत्याब्रवीत्सप्तकल्पवृत्तं मुनिव्रतम् ॥ तन्मात्स्यमिति जानीध्वं सहस्राणि चतुर्दश ॥ यदा च गारुडे कल्पे विश्वाण्डङ्गरुडोद्भवं ॥ अधिकृत्याब्रवीत्कृष्णो गारुडन्तदिहोच्यते । तदष्टादश चैकन्तु सहस्राणीह पठ्यते । ब्रह्माब्रह्माण्डमाहात्म्यमधिकृत्याब्रवीत्पुनः । तच्च द्वादशसाहस्रपुराणं द्विशताधिकम् । भविष्याणाञ्च कल्पानां श्रूयते यत्र विस्तरः ॥ तद्ब्रह्माण्डपुराणन्तु ब्रह्मणा समुदाहृतम् ॥ इति । एतेषाम्विशेषलक्षणान्यपि तत्र २ सन्ति ॥ यथा पाद्मे पाद्मस्य । “स्थिताय भवभीताय ब्रह्मणे नाभिपङ्कजे ॥ प्रोक्तम्भगवता मुख्यं पाद्मं पञ्चोनषष्टि च । भृपातालोत्तराः खण्डाः पुराणेष्विन्द्र त्रयः स्मृताः” यथाच श्रीभागवतलक्षणं स्कान्दे “ग्रन्थोष्टादशसाहस्रो द्वादशस्कन्धसंयुतः । हयग्रीवब्रह्मविद्या यत्र वृत्रवधस्तथा ॥ गायत्र्या च समारम्भस्तद्वै भागवतं विदुः” इति । पाद्मे चोत्तरखण्डे “इदम्भगवता प्रोक्तश्चतुःश्लोक्यां स्वयम्भुवे । नारदाय स वै मह्यमवोन्मुनये ह्यहं । शुकाय ब्रह्मराताय स तु राज्ञोभिमन्यवे ॥ शुकोक्तं विष्णुराताय सदसि ब्रह्मवादिनां ॥ श्रीमद्भागवतं नाम युनयान्तमसः परम्” इति ॥ एतदेव लक्षणं वाराहेपि परीक्षितः शापकथनप्रसङ्गे श्लोकान्तरेणास्ति । यथाच कूर्मलक्षणं कौर्मे “इदन्तु पञ्चदशमपुराणं कौर्ममुत्तमम् ॥ चतुर्धा संस्थितम्पुण्यं संहितानाम्प्रभेदतः । ब्राह्मी भागवती सौरी वैष्णवी च प्रकीर्तिताः ॥ चतस्रः संहिताः पुण्या” इति ॥ यथाच पाद्मे ब्रह्माण्डपुराणलक्षणम् ॥ “ब्रह्माण्डं मोक्षधर्माख्यम्” इति ॥ यथाच कौर्मे । “वायवी यमनन्तरम् ॥ अष्टादशममुद्दिष्टम्ब्रह्माण्डमिति संज्ञितम्” इति । यथाच ब्रह्मवैवर्तं ब्रह्मप्रकृतिगणपतिश्रीकृष्णजन्माख्यखण्डचतुष्कविशिष्टत्वमुक्तं स्वस्य । एवम-

न्यत्रापि ज्ञेयम् ॥ आदित्यपुराणे तु । “ ब्राह्मपुराणन्तत्रायं संहिताभ्यां  
विभूषितम् । काश्मीरसंहिता यस्याः पुरुषोत्तमसंहिता । श्लोकानन्दशसाहस्रं  
नानापुण्यकथायुतम् ” इति लक्षणम्ब्राह्मस्योक्तम् । एवं “ततो भागवतम्प्रोक्त-  
म्भागद्वयविभूषितम्” इति ॥ एवं “चतुर्भिः पर्वभिः प्रोक्तम्भविष्यन्तदनन्तरम्” इति ॥  
एवम्भागद्वयेन लैङ्गश्चेति ॥ “संयुक्तमष्टभिः खण्डैः स्कान्दं चैव सविस्तरम्”  
इति । कौर्मभागद्वयविराजितमिति । “भागद्वयेन कथितम्ब्रह्माण्डमिति संज्ञितम्”  
इति । गणनाक्रमस्तु सर्वत्रैक एव । उपपुराणानि च सलक्षणानि मात्स्य एव  
कानिचिद्वर्णितानि । तथाहि । पाद्मे पुराणे यत्प्रोक्तं नरसिंहोपवर्णनं ॥ तच्चाष्टा-  
दशसाहस्रं नारसिंहमिहोच्यते । नन्दाया यत्र माहात्म्यं कार्तिकेयेन वर्ण्यते ॥ नन्दा  
पुराणन्तत्प्रोक्तं संख्यानामिति कथ्यते । यत्र सांबं पुरस्कृत्य भविष्येपि  
कथानकम् । प्रोच्यते तत्पुनर्लोकं सांबमेतन्मुनिव्रताः । एवमादित्यसंज्ञश्च  
तत्रैव परिपठ्यते ॥ अष्टादशभ्यस्तु पृथक् पुराणं यत्र दृश्यते ॥ विजानीध्वं मुनिश्रे-  
ष्ठास्तदेतेभ्यो विनिर्गन्तम्” इति ॥ एवमेव स्कान्दप्रभासखण्डेपि । आदित्यपुराणे  
त्वादित्यस्य लक्षणमप्युक्तम् ॥ “यदुक्तम्भानुना पूर्वम्पुत्राय मनवे द्विजाः ।  
तदहं सम्प्रवक्ष्यामि शृणुध्वद्गतो मम ॥ इदम्ब्रह्मपुराणस्य स्थिलं सौरमनुत्तमम् ।  
संहिताद्वयसंयुक्तम्पुण्यं शिवकथायुतम् । आद्या सनत्कुमारोक्ता द्वितीया सूर्यभा-  
षिता” इति ॥ सर्वेषामुपपुराणानाङ्गणना तु कौर्म प्रथमाध्याये ‘आद्यं सनत्कुमारोक्तं  
नारसिंहं ततः परं ॥ तृतीयं नांदमुद्दिष्टं कुमारेण तु भाषितम् ॥ चतुर्थं शिवधर्मा-  
ख्यं साक्षान् नन्दीशभाषितम् ॥ दुर्वासोक्तमाश्वर्यं नारदीयमतः परम् ॥ कापिलम्पा-  
नवश्चैव तथैवोशनसेरितम् । ब्रह्माण्डं वारुणश्चाथ कालिकाह्वयमेव च । माहेश्व-  
रन्तथा सांबं सौरं सर्वार्थसञ्चयम् । पराशरोक्तमपरं मारीचं भार्गवाह्वयम्” इति ॥  
सूतसंहितायान्तु नान्दस्थाने स्कान्दमुक्त्वाग्रे तल्लक्षणमुक्तम् “लक्षन्तु ग्रन्थसंख्या-  
भिः सर्वविज्ञानसागरम् । स्कान्दमद्याभिवक्ष्यामि पुराणं श्रुतिसम्मितम् । पञ्चविधैः  
संहिताभेदैः पञ्चाशत्खण्डमण्डितं ॥ आद्या सनत्कुमारोक्ता द्वितीया सूतसंहिता ।  
तृतीया शाङ्करो विप्राश्चतुर्थी वैष्णवी मता । तत्परा संहिता ब्राह्मी सौरान्या  
संहिता मता” इति । एवं “ततः कालीपुराणाख्यं वासिष्ठं मुनिपुङ्गवाः । ततो वा-  
सिष्ठलिङ्गाख्यम्” इति लक्षणमिवोक्तम् ॥ क्रमस्तु कौर्मोक्तरीतिक एव । कालिका  
पुराणे तु क्रमो नामानि च भिन्नान्येव । तथाहि । शैवं यद्वायुना प्रोक्तं वैरंच  
वैष्णवन्तथा । यदिदङ्कालिकाख्यश्च मूलं भागवतं स्मृतं ॥ सौरश्च नारदीयश्च  
मार्कण्डेयं च बन्दिजम् ॥ भविष्यं ब्रह्मवैवर्तं लैङ्गश्चैव त्रयोदशम् ॥ वामनं कौर्म  
मात्स्यञ्च सप्तदशं च गारुडम् । स्कान्दमष्टादशम्प्रोक्तम्पुराणञ्च न संशयः” इति ।

भविष्यं च सौरपुराणे चतुःपर्वमुक्तं “चतुर्भिः पर्वभिः प्रोक्तं भविष्यं तदन्तरम्” इति॥ भविष्ये तु “पर्वानि चात्रयंचैव कीर्तितानि स्वयम्भुवा” इत्युक्त्वा ब्राह्मं वैष्णवं शैवन्त्वाष्टमप्रतिसर्गस्थिते तेषां नामान्युक्तानि । यद्यपि तत्रोपपुराणत्वमेषां कठतो नातं तथापि पुराणान्तरे उपपुराणत्वेन गतिणयोः कालिकासौरयोर्निवेशात्क्रमभेदाच्च ज्ञेयम् । अन्यथा सर्वत्र प्रसिद्धं क्रमं न जह्यात् । नचान्यत्रोपपुराणेषु गणितानां शैवादीनां दर्शनादेतयोः पुराणत्वं शक्यम् । अप्रयोजकत्वात् । स्कान्दनारदीयब्रह्माण्डेषु नाममात्रसाम्यस्य पुराणान्तरसंमतत्वादन्येषां पुष्कराशिवरहस्यविष्णुरहस्यविष्णुधर्मादीनान्दर्शनादेतेष्वप्युपपुराणत्वस्य शक्यवचनत्वात् । अतएव भविष्यपुराणीयप्रथमाध्यायान्ते “सर्वाण्येव पुराणानि संख्यया भरतर्षभा द्वादशैव सहस्राणि प्रोक्तानीह महर्षिभिः ॥ पुनर्वृद्धिज्ञतानीह चाख्यानेर्बहुभिर्नृप ॥ यथा स्कान्दन्तथा चैव भविष्यं कुरुनन्दन ॥ स्कादं शतसहस्रन्तु श्लोकानां ज्ञातमेव हि ॥ भविष्यमेतद्विषिणा लक्षार्द्धं संख्यया स्मृतम्” इति॥ सन्दर्भं महर्षिप्रोक्तत्वसंख्याविशेषाभ्यामुपपुराणत्वमेव स्कान्दभविष्ययोरुद्घाटितं । एवं सति “सर्गोऽस्याथ विसर्गश्च वृत्तीरक्षान्तराणि च ॥ वंशो वंश्यानुचरितं संस्थाहेतुरपाश्रयः । दशभिर्लक्षणैर्युक्तम्पुराणन्ताद्विदो विदुः । केचित्पञ्चाविधं प्राहूर्ध्वदल्पव्यवस्थया” इत्युक्त्वाग्रे सर्गादीनान्दर्शनां लक्षणानि चोक्त्वा “एवं लक्षणलक्ष्याणि पुराणानि पुराविदः । मुनयोऽष्टादश प्राहुः श्लोकानि महान्ति च” इति । द्वादशस्कन्धीयसप्तमाध्यायवाक्याद्यत्र पंचलक्षणत्वन्तत्र महापुराणानामसाम्येपि न महापुराणत्वं किन्तु पुराणत्वमेव । अतएवादित्यपुराणे उक्तमेतच्चतुर्लक्षणम् । एतच्चोपपुराणे “सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च वंशानुचरितं चैव पुराणम्पंचलक्षणं ॥ ब्रह्मादीनाम्पुराणानामुक्तमेतच्च लक्षणम् । एतच्चोपपुराणानां खिलत्वाल्लक्षणं स्मृतम्” इति पंचलक्षणत्वमेवोक्तम् । “अष्टादशपुराणानि श्रुत्वा सत्यवतीसुतात् । अन्यान्युपपुराणानि मुनिभिः कीर्तितानितु” इति सूतसंहितावाक्याच्च । अत्र मात्स्यादौ लक्षितेषु पुराणेषु ब्राह्मणस्य लक्षणमप्रसिद्धे ब्राह्मे न दृश्यते । तेन तदुपपुराणम् । वैष्णवे संख्या न मिलति । एवमन्यत्रापि काशीमाहात्म्यादियुक्तं ब्रह्मवैवर्तमन्यदेव उक्तलक्षणाभावात् । महापुराणलक्षणन्तु श्रीभागवत एव दृश्यते नेतरत्र तेन तेषु पुराणत्वमेव बोध्यमिति प्रसङ्गादुक्तम् ॥ प्रकृतमनुसरामः ॥ तथाच व्यासेन सप्तसनाव्यासकर्तृत्वम्पुराणेषूच्यते विभागाच्चाष्टादशत्वादिकन्तेन यथा वेदशास्त्रानां काठकादिसमाख्या तथात्र ब्राह्मादिसमाख्या यथा तत्र शास्त्रानां सहस्रत्वमेवमत्राष्टादशत्वम् । तथाच पूर्णो वेदातिदेशोऽत्र सिद्ध इति पञ्चार्थकथनमिह युक्तमिति भावः ॥ ५० ॥ तत्रेत्यादि ॥ ॥ तत्र वेदे



यज्ञस्य भगवत्त्वं “यज्ञो वै विष्णुः” इति श्रुत्या सिद्धमिति शास्त्रानां तद्रूपप्रतिपाद-  
कत्वे सन्देहो न प्रकृते कथमित्याशङ्क्य पुराणे धर्मादिपञ्चार्थप्रतिपादकत्वेन भगव-  
द्रूपप्रतिपादकत्वाभावात्कथं शास्त्राविभागवत्पुराणविभाग इत्याशङ्क्य पुराणवि-  
भागप्रकारमर्हन्नाहेत्यर्थः ॥ ब्रह्मण एकस्मिन्नित्यादि ॥ तदुक्तं मात्स्ये कल्पा-  
नुकीर्त्तिने उपांत्याध्याये । “प्रथमः श्वेतकल्पस्तु द्वितीयो नीललोहितः । त्रयोदश-  
स्तृतीयस्तु ततो रथ्यन्तरोऽपरः । रौरवः पञ्चमः प्रोक्तः षष्ठः प्राण इति स्मृतः ।  
सप्तमोथ बृहत्कल्पः कन्दर्पोष्ठम उच्यते । सद्योथ नवमः प्रोक्त ईशानो दशमः स्मृतः ॥  
व्यान एकादशः प्रोक्तस्तथा सारस्वतोपरः ॥ त्रयोदश उदानस्तु गारुडोथ चतुर्दशः ।  
कौर्मः पञ्चदशः प्रोक्तः पौर्णमासी प्रजापतेः ॥ षोडशो नारासिंहस्तु समानस्तु ततोप-  
रः ॥ आग्नेयोष्ठादशः प्रोक्तः सोमकल्पस्तथा परः ॥ मानवो विंशमः प्रोक्त उदान इति  
चापरः । वैकुण्ठश्चापरस्तद्वल्लक्ष्मीकल्पस्तथा परः ॥ चतुर्विंशतिमः प्रोक्तः सावि-  
त्रीकल्पसंज्ञकः । पञ्चविंशतिमो घोरो वाराहस्तु ततः परः ॥ सप्ताविंशोथ वैराजो  
गौरीकल्पस्तथा परः ॥ माहेश्वरस्ततः प्रोक्तस्त्रिपुरं यत्र घातितम् । पितृकल्पस्तस्यैवा-  
न्यो या कुहूब्रह्मणः स्मृता । इत्येवं ब्रह्मणो मासः सर्वपातकनाशनः ॥ आदावेवाहि-  
माहात्म्यं यस्मिन् यस्य विधीयते । तस्य कल्पशतं नाम विहितं ब्रह्मणा पुरा” इति ॥  
तथाच यदा ब्राह्मकल्पोत्तरीतिकैव सृष्टिः किञ्चित्किञ्चिद्वैलक्ष्यण्येन भवति ।  
अवान्तरेषु कल्पेषु ब्रह्मणः सत्यलोके शयने भूरादीनाञ्च त्रयाणामेव नाशस्मर-  
णात् । एवं वर्षादिनपर्यन्तम्भवने ब्रह्माण्डस्य कालेन शीर्णतायां ब्रह्माण्डं सर्वमा-  
त्मसात्कृत्य जले आवरणात्मके स्वपिति ततः प्रबुद्धः स्वजन्मदिवसत्वान्नवं ब्रह्मा-  
ण्डं प्रकारान्तरेणोत्पादयति तदा तत्रत्या सृष्टिः पूर्वस्माद्विलक्षणा भवति । सापि  
पूर्ववद्वर्षादिनपर्यन्तम्भवति । यथा पाद्मः कल्पः तत्रैकस्मिन्वर्षे पूर्वाक्ताः श्वेता-  
दशस्तिथिरूपत्वाद्वादशवारम्परिवर्तन्ते ॥ अतएव पुराणेषु पृथिव्याः क्वचिज्जघ-  
नरूपत्वं क्वचिदज्जरूपत्वं क्वचित्पृथग्पत्न्यत्वम् । एवं लोकेष्वपि वैलक्ष्यमयः क-  
ल्पभेदेन तत्सर्वं संगतम्भवति । इदं तृतीयस्कन्धसुबोधिण्यामुपपादितं तन्निबन्धे  
च श्रीमदाचार्यैः ॥ दैनन्दिनास्तृक्ता एव ॥ दिनमध्येपीति ॥ ॥ यथा पुराणा-  
न्तरे क्वापि मयूरकल्पः । यथाच वाराहपुराणे मेघवाहनकल्प उक्तः प्रागिति-  
हासे रुद्रगीतासु । यत्राह भगवान् “त्वंच रुद्र महाबाहो मोहशास्त्राणि कारय ॥  
अतथ्यानि वितथ्यानि दर्शयस्व महाभुज” इति रुद्रमाज्ञप्रवान् । रुद्रश्च तन्निर्वाहाय  
मां ब्रूहेति प्रार्थितवान् तदा भगवान्मेघो भूत्वा कल्पमेकं रुद्रमवहत्स मेघवाहनक-  
ल्पः । तस्य तिथिरूपेण गणनात्तस्मिन् ब्रह्माण्डकरणानुक्तेश्च न जन्मदिवसरूपत्व-  
म् । वाराहपुराणलक्षणे महावाराहकल्पाश्रितत्वकथनात् । एवं सति तस्य दिनमाध्य



मिकत्वमायाति । एवमग्यत्रापि बोध्यम् । दिनमध्य इति मन्वन्तरसमामौ युगान्त इति चतुर्युगान्ते ॥ ॥ तत्र सर्वत्रेत्यादि ॥ ॥ जन्मदिनं दैनन्दिनदिनमध्यगत-युगान्तभेदभिन्नेषु कल्पेषु भुवनात्मको वृक्ष ऊर्ध्वमूलमित्यादिनोक्तो भगवान् “येन यत्र यतो यस्य यस्मै यद्यद्यथा यदा । स्यादिदं भगवान् साक्षात्प्रधानपुरुषेश्वरः ” इत्यादिवाक्यैर्ब्रह्मवादे भगवद्रूपो नाना कचित्सर्वथा वैलक्षण्येन कचिदीषहैलक्षण्येन नाना भवति ॥ ॥ अतस्तत्प्रकारेत्यादीति ॥ ॥ न पुराणविभागानुपपत्तिरित्यर्थः ॥ ॥ अवान्तरेत्यादि ॥ ॥ प्रकारभेदबोधनायेतिशेषः । तथाच “सात्विकेषु तु कल्पेषु माहात्म्यमधिकं हरेः ॥ राजसेषु तु माहात्म्यमधिकं ब्रह्मणो विदुः । तद्दग्नेश्च माहात्म्यन्तामसेषु शिवस्य च ॥ सङ्कीर्णेषु सरस्वत्याः पितृणाञ्च निगद्यते” इति मात्स्ये संख्यानुक्रमणिकाध्याये ॥ तथा तत्रैव कल्पानुकीर्तनाध्याये श्वेतादीर्ल्लिखितकल्पानुक्त्वा “संकीर्णास्तामसाश्चैव राजसाः सात्विकास्तथा ॥ रजस्तमोमयास्तद्ब्रजयस्त्रय उदाहृताः । सङ्कीर्णेषु सरस्वत्याः पितृणां व्युष्टिरुच्यते । अग्नेः शिवस्य माहात्म्यन्तामसेषूपवर्ण्यते । सात्विकेष्वधिकन्तद्ब्रह्मिणोर्माहात्म्यमुच्यते । तर्ह्येव योगसंसिद्धा गमिष्यन्ति पराङ्गतिम्” इति चोक्तवानितरभेदान्वक्तुमित्यर्थः ॥ ५१ ॥

ब्रजभाषाटीका ।

किञ्च सृष्टिमें जितने पदार्थ हैं उनको यथार्थ स्वरूप पुराणसों ही जाननों ऐसैं वेदमें लिखी है । “प्रह्लादो ह वै कायाधवः ” ॥ प्रह्लाद हैं सो कयाधुको पुत्र है इतनोंमात्र वेदमें लिखोहैं तहां कयाधुनामवाली हिरण्यकशिपुकी स्त्री है वाकें प्रह्लादजी पुत्र हैं इत्यादि यथार्थस्वरूप पुराणसोंही जानोजावेंहैं ॥ जैसैं सम्पूर्ण वेदको अध्ययन नहिं होतो देख्यो तब व्यासजीनें वेदके विभाग करकें ऋषिनकूं वेद पढायो. जिन जिन ऋषिननें जितनों वेद पढ्यो वो वेदभाग शाखानामसों प्रसिद्ध भयो । ऐसैंही एकपुराणके विभाग करकें अष्टादशपुराण उपपुराण रचेंहैं ॥ मत्स्यपुराणमें मत्स्यभगवान् आज्ञाकरें हैं “कालेनाग्रहणं दृष्ट्वा पुराणस्य ततो द्विजाभिव्यासरूपमहं कृत्वा संहरामि युगे । युगेचतुर्लक्षप्रमाणेन द्वापरे

द्रापरे सदा ॥ तदष्टादशधा कृत्वा भूलोकेऽस्मिन्प्रभाष्यते ” मत्स्या  
वतार कहें है जब मनुष्यकी (शतकोटि) सौक्रोडपुराण पढ़वेकी सा-  
मर्थ्य नहिंरही तब मैं व्यासजीको रूप धारणकरके पुराणको संहार  
करूँ। जब द्रापर आवें तब चारलाखग्रंथमें अष्टादशपुराण बनाऊँ  
हूँ ॥ आगे मत्स्यपुराणमें लिखी है अभीभीदेवलोकमें सौक्रोड पुराण  
है वा पुराणको संक्षेपकरके अर्थ इन अष्टादशपुराणनमें है । ब्रह्मा-  
जीने मरीचिक्राषिके प्रति जो पुराण दशहजार श्लोकसंख्यावालो  
कह्योहै वह ब्राह्मपुराण है १ ॥ जब भगवान्की नाभीमेंसों कमल  
प्रकटभयो वाके वृत्तान्त जामें लिखेहैं वह पाद्मपुराण है २ वाके  
पचपनहजार श्लोक हैं ॥ वाराहकल्पके जामें वृत्तान्त हैं, जामें सबधर्म  
नको वर्णन है वह वैष्णवपुराण ३ है २३००० श्लोकसंख्यावालो  
है ॥ श्वेतकल्पको प्रसङ्गकरके वायुभगवान्ने जामें धर्म कहे हैं रुद्र-  
को माहात्म्य लिख्यो है वो वायुपुराण ४ है २४००० श्लोकसं-  
ख्यावालो है ॥ जहां गायत्रीको अधिकारकरके धर्मको विस्तार  
लिख्योहै वृत्रासुरको वध जामें है वह १८००० अठारह हजारकी  
संख्यावालो श्रीभागवतपुराण ५ है ॥ वापुराणमें सारस्वतकल्पमें  
जे मनुष्य देवता हते उनको वृत्तान्त है ॥ जापुराणमें नारदजीने  
बृहत्कल्पको आश्रय लेके धर्मको वर्णन कियो है वह पच्चीसहजार  
२५००० श्लोककी संख्यावालो नारदीयपुराण ६ है ॥ जापुराणमें  
शकुनीनको अधिकार करके धर्म अधर्म विचार कियोहै जैमिनि-  
क्राषिके प्रश्नके ऊपर धर्मचारीपक्षिनने जो वर्णन कियो है वाको  
विस्तार मार्कण्डेयक्राषिने कियोहै वाको नाम मार्कण्डेयपुराण है ७ ॥  
वामें ईशानकल्पको वृत्तान्त है ९००० नोहजारश्लोकको पूरहै ॥ जामें  
ईशानकल्पको वृत्तान्त वसिष्ठजीकेप्रति अग्निने वर्णन कियो वह  
अग्निपुराण है ८ वह १६ सोलहहजारश्लोककी संख्यावालोहै जामें

अघोरकल्पको वृत्तान्त है ब्रह्माजीने मनुकेप्रति सूर्यके माहात्म्यको वर्णन कियोहै तथा भूतग्रामको लक्षण वर्णन कियो है ॥ जामें स्थ-  
 न्तरकल्पको वृत्तान्त है तथा जामें आगे होयवेवारे वृत्तान्तको वर्णन  
 है १४५०० जामें चौदह हजार पांचसोश्लोकनको पूरहै वह भविष्य  
 पुराण ९ है ॥ जामें ब्रह्मवराहके चरित्रनको वर्णन है, जामें कृष्ण  
 का माहात्म्य सावर्णिमनुने नारदजीके अर्थ वर्णनकियो है वह  
 ब्रह्मवैवर्तपुराण १० है वह १८००० अठारहहजार है ॥ ब्रह्मानें  
 पृथ्वीके प्रति वर्णनकियोहै २४००० श्लोकको पूरहै जामें प्रसङ्ग  
 करके मानवकल्पको वर्णन कियो वह वाराहपुराण १२ है ॥  
 और जामें ब्रह्माजीने माहेश्वरधर्मको वर्णन कियो वो स्कान्दपुराण  
 १३ है ८०००० अस्सीहजारश्लोकसंख्यावालो है ॥ जापुराणमें  
 अग्निलिङ्गमें स्थितभये शिवजीने धर्मार्थकाममोक्षको वर्णनकियोहै  
 वह अग्निपुराण है ॥ जामें वामनजीकी महिमाको वर्णन है जामें  
 १०००० दशहजारश्लोक हैं वह वामनपुराण है १४ ॥ जामें कूर्मभ-  
 गवानने लक्ष्मीकल्पके अनुसार इन्द्र तथा ऋषिनके समक्ष शिवके  
 प्रति वर्णनकियोहै याको १७००० सप्तदशसहस्रश्लोकको पूर है यह  
 कौर्मपुराण है १५ ॥ जामें मत्स्यरूपी भगवानने मनुकेअर्थ धर्मवर्ण-  
 न तथा नरसिंहजीको वर्णन कियोहै जाकी चौदहहजार १४०००  
 श्लोककी संख्या है वाको नाम मत्स्यपुराण १६ है ॥ जामें  
 गरुडजीसों ब्रह्माण्डकी उत्पत्ति लिखीहै गरुडकल्पको जामें वर्णन  
 है वह १८००० श्लोककी संख्यावालो गरुडपुराण १७ है ॥ जामें  
 ब्रह्माण्डको माहात्म्य तथा आगे होयवेवारे कल्पनको विस्तारसों  
 ब्रह्माजीने वर्णन कियोहै वह १२००० बारहहजारश्लोकसंख्यावालो  
 ब्रह्माण्डपुराण है १८ ॥ विस्तारसों पुराणनके लक्षण औरपुराणनमें  
 भी लिखे हैं ॥ निबन्धस्थ आदिशब्दकरके उपपुराणसंहितानकोभी

ग्रहण है ॥ कूर्मपुराणमें उपपुराणनकी गणना करी है, सनत्कुमारसंहिता नान्दीपुराण शिवधर्मपुराण कपिलपुराण वारुणपुराण सांबपुराण कालिकापुराण आदित्यपुराण पाराशरपुराण मारीचपुराण इत्यादि सर्ग विसर्ग स्थान पोषण ऊती मन्वन्तरवर्णन ईशानुकथा निरोध मुक्ति आश्रय ये दशलक्षणवालो होय तासों पुराण कहनों ॥ सर्ग प्रतिसर्ग वंश मन्वन्तर वंशानुचरित ये जामें पांचलक्षण होय ताकों उपपुराण कहनों “अष्टादशपुराणानि श्रुत्वा सत्यवतीसुतात् ॥ अन्यान्युपपुराणानि मुनिभिः कीर्तितानि तु” अर्थ—सूतसंहितामें लिखी है व्यासजीके मुखसों अष्टादशपुराण सुनके मुनिननें और उपपुराणनहूँ प्रकटकिये हैं ॥ तथा मत्स्यपुराणमें लिखी है अष्टादशपुराणनसों न्यारो पुराण दीखे तो बाकूँ इनपुराणसोंही निकस्यो समुझनों ॥ ५० ॥ जैसे वहाँ वेद यज्ञरूपी भागवान्को वर्णनकरें हैं तैसें पुराण है सो भुवनात्मक भगवान्को वर्णन करें हैं, वहाँ जैसे अग्निहोत्र दर्शपूर्णमासादिभेदकरके यज्ञभगवान् अनेकरूप हैं और काठककौथुमी आदि शाखाभेदनकरके वर्णनकियेजावें है ऐसैही भुवनरूप भगवान् ब्राह्मपाद्मवाराहादिकल्पभेदनकरके अनेक रूप हैं और ब्राह्मपुराणमत्स्यपुराणादि अष्टादशपुराणकरके वर्णनकियेजायहैं, तहाँ विश्वात्मक भगवान्की अनेकरूपताको वर्णनकरतहैं ॥ ब्रह्माजीके एकवर्षमें एक मुख्यकल्प पूरो होय उनकल्पनको ब्रह्मकल्प पद्मकल्प आदि नाम हैं ॥ एकवर्षके तीनसोसाठदिनके तीनसोसाठ दैनंदिन कल्प होयहैं, ब्रह्माजीके महीनाके ३० कल्प होयहैं उनके नाम मत्स्यपुराणमें लिखे हैं ॥ श्वेतकल्प १ नीललोहितकल्प २ वामदेवकल्प ३ रथन्तर ४ रौरव ५ प्राण ६ बृहत्कल्प ७ कन्दर्प ८ सह्य ९ ईशान १० व्यान ११ सारस्वत १२ उदान १३ गारुड

१४ पौर्णमासीके स्थानमें कौर्मकल्प १५ नारसिंह १६ समान  
 १७ आग्नेय १८ सोनकल्प १९ मानवकल्प २० उदानकल्प २१  
 वैकुण्ठ २२ लक्ष्मीकल्प २३ सावित्रीकल्प २४ घोरकल्प २५  
 वाराहकल्प २६ वैराजकल्प २७ गौरीकल्प २८ माहेश्वरकल्प २९  
 पितृकल्प ३० यह पितृकल्प अमावास्याके स्थानमें है। इन तीस कल्प  
 नको ब्रह्माजीको एकमहीना होतहै ॥ जैसे वेही तिथी दूसरेमहि-  
 नेमें आवेहै ऐसें यही तीसकल्प बारहमहीनानमें बारहवार फिर  
 फिर आतेरहेहैं ॥ ब्रह्माजीके प्रतिदिनके कल्पके अन्तरमें सबलो-  
 कनको नाश नहिं होयहै किन्तु भूलोक भुवर्लोक स्वर्लोक इन तीन-  
 लोकनकोही नाश होयहै तासों प्रतिदिनके कल्पनके साथ तो तीन-  
 लोकनकी रचना बदलती रहेहै, क्योंकी ब्रह्माजी सत्यलोकमें  
 शयनकरेंहैं तब ये तीनोंलोक बिगडजावेंहैं, जब जागेंहैं तब फिर  
 इनतीनलोकनकूँ कछु विलक्षणरीतिसों बनायदेतहैं परन्तु प्रति-  
 दिन ब्रह्माण्डभी शीर्णहोतोजावेहै ॥ जहाँतक ब्रह्माजीके वर्षभरको  
 अन्त आवेहै तहाँतई ब्रह्माण्डभी विखरजावेहै तब वर्षके अन्त-  
 की रात्रिमें ब्रह्माजी सोवेंहैं तब ब्रह्माण्डको अपने स्वरूपमें लय  
 करके आवरणात्मक जलमें सोवेंहैं। जब दूसरोदिन जागेंहैं वादिन  
 ब्रह्माजीको जन्मदिन आजावेंहै वादिन ब्रह्माजी नयो ब्रह्माण्ड  
 पूर्वसों विलक्षण प्रकटकरेंहैं, वाहीदिन वर्षदिन रहवेवारे मुख्यक-  
 ल्पको प्रारम्भ होयहै ॥ ब्रह्माजीके वर्षपर्यंत वोही सृष्टि रहेहै या  
 प्रकारसों वर्षकी ब्रह्माकी आयुष्य होयहै तामेंसो मुख्यकल्प व्यतीत  
 होजातहै याहीसों पृथिवीको कोई कल्पमें कमलरूप, कोईकल्पमें  
 जधनरूपकरे वर्णन पुराणमें कियोहै ॥ मयूरकल्प मेघवाहनकल्प  
 प्रभृति कितनेककल्प दैनन्दिनकल्पसोंभी छोटेहैं वे मध्यान्ह

अपराण्हकालके समान ब्रह्माजीके दिनके मध्यमें मन्वन्तरसमाप्ति तथा चारों युगनकी समाप्तिके साथ समाप्त होते चलेजावें हैं ॥ इन सबप्रकारके कल्पनमें नानारूपवाले ब्रह्माण्डात्मक भगवान्को वर्णन है, क्योंकि “यत्र येन यतो यस्य यस्मै यद्यद्यथा यदा ॥ स्यादिदं भगवान् साक्षात्प्रधानपुरुषेश्वरः” ॥ इत्यादिवाक्यसों ब्रह्मवादमें भगवान्ही अनेकरूप होयजावें हैं यह सिद्धान्त है ॥ ५१ ॥

नानासृष्टिप्रकारा हि नानाधर्मा ह्यनेकधा ॥ सर्वस्वरूपी कृष्णस्तु कर्ता तेषु तथोदितः ॥ ५२ ॥  
सात्विकेषु तु कल्पेषु तत्प्रकारपुराणतः ॥ आचारां मुक्तिमाप्नोति भवस्त्वन्येषु केवलः  
धर्महीनस्तत्सहितो राजसेषु सुखन्ततः ॥ ५३ ॥

तत्त्वदीपप्रकाशः ।

तामसकल्पेषु शिवात्सृष्टिः ॥ राजसेषु च ब्रह्मणः ॥ सात्विकेषु विष्णोः ॥ तत्रोच्चनीचत्वमव्यवस्थितमतः समाधानमाह ॥ सर्वस्वरूपी कृष्ण इति ॥ ५२ ॥ सर्वत्र मुक्तिरिति पक्षे न कोपि सन्देहः ॥ सात्विकेष्वेव मोक्ष इति पक्षे विशेषमाह ॥ सात्विकेष्विति । तत्कल्पानुसारिपुराणोक्तधर्माचरणान्मुक्तिमाप्नोति तादृशोधिकारी न तु पाषण्डादिधर्मैरित्यर्थः ॥ अन्येषु तामसेषु जन्मदुःखञ्च भवति न सुखञ्चापि मोक्षः । राजसेषु तु सुखं न दुःखञ्चापि मोक्षो यथोक्तधर्मकर्तृणां ॥ ५३ ॥

आवरणभंगः ।

तद्विशदीकुर्वति ॥ ॥ तामसकल्पेत्यादि ॥ ॥ तत्र तावच्छिवात्सृष्टिः । यथाहि कौर्मे पूर्वभागे चतुर्थाध्याये । “कुतः सर्वमिदं आतङ्कस्मिंश्च लयमेष्यति । नियन्ता कश्च सर्वेषां वदस्व पुरषोत्तम ॥ श्रुत्वा नारायणो वाक्यमृषीणां कूर्मरूपधृक् ।



प्राह गम्भीरया वाचा भूतानाम्प्रभवाप्ययौ । कूर्म उवाच । महेश्वरः परोऽव्यक्त-  
 श्वतुर्व्यूहः सनातनः । अनन्तश्चाप्रमेयश्च नियन्ता विश्वतोमुखः ” इत्यारभ्य “नि-  
 शान्ते प्रतिबुद्धोसौ जगदादिरनादिमान् ॥ सर्वभूतमयोव्यक्तादन्तर्यामीश्वरः परः ।  
 प्रकृतिम्पुरुषश्चैव प्रविश्याशु महेश्वरः । क्षोभयामास योगेन परेण परमेश्वरः ” इ-  
 त्यादि चोक्त्वा । “प्रधानात् क्षोभ्यमानाच्च तथा पुंसः पुरातनात् । प्रादुरासी-  
 न्महद्वीजम्प्रधानपुरुषात्मकम्” इत्यादिना सृष्टिरुक्ता । ततः पञ्चदशाध्यायोत्तरमु-  
 परिभागे दशभिरध्यायैरीश्वरगीतोक्ता शिवमाहात्म्यं परब्रह्मरूपता चोक्ता ॥  
 एवमन्यत्रापि तामसकल्पेषु ज्ञेयम् । भविष्ये तु ब्रह्मणः सकाशात्सृष्टिः । यथा त-  
 न्नैव “कीर्तितानि स्वयम्भुवा” इत्युपक्रम्य “जगदासीत्पुरा तात तमोभूतमलक्षणं ॥  
 अविज्ञेयमतर्क्यश्च प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥ ततः स भगवानीशो ह्यव्यक्तो व्यञ्जय-  
 त्निदं ॥ महाभूतादिदृष्टौजाः प्रोत्थितस्तमनाशनः ॥ सर्वभूतमयोऽचिन्त्यः स  
 एव स्वयमुत्थितः । योसौ षड्विंशको लोके तथा यः पुरुषोत्तमः । भास्करश्च म-  
 हाबाहो परं ब्रह्म च कथ्यते” इत्यादि ब्रह्मणः सकाशात्सृष्टिरुक्ता ॥ मार्कण्डेयपु-  
 राणेपि “प्रणिपत्य जगद्योनिमजमाश्रयमव्ययं ॥ चराचरस्य जगतो धातारम्परम-  
 म्पदं ॥ ब्रह्माणमादिपुरुषमुत्पत्तिस्थिति संक्षये ॥ यत्कारणमनोपम्यं यत्र सर्वम्प्रतिष्ठि-  
 तम्” इत्यादिनोपक्रम्य पुरुषाधिष्ठितात्प्रधानान्महदादि सृष्टिरुक्ता ॥ एवमन्येष्वपि  
 ज्ञेयम् । सात्विकेषु तु विष्णुवाराहश्रीभागवतादिषु विष्णोः सकाशात्स्पष्टैव सृष्टिः ॥  
 एवञ्च मात्स्योक्तरीत्या कल्पेषु सात्विकराजसतामससङ्कीर्णत्वकथनादष्टादशपुरा-  
 णेषु द्वयं द्वयं सात्विकसात्विकराजसेत्यादिभेदेनैकैकविधं सन्नवधा भवति तेनैषत्ता-  
 रतम्येप्यदोषः । अतएव हरिवल्लभसुधोदयाख्ये पुराणसमुच्चये पाद्मोत्तरखण्डीयद्वि-  
 चत्वारिंशाध्याये रुद्रोमासम्वादे “मात्स्यं कौर्मं तथा लैंगं शैवं स्कान्दन्तथैव च ॥  
 आग्नेयञ्च षडेतानि तामसानि निबोध मे ॥ वैष्णवं नारदीयञ्च तथा भागवतं शुभम् ।  
 गारुडं च तथा पाद्मं वाराहं शुभदर्शनम् । सात्विकानि पुराणानि विज्ञेयानि  
 शुभानि वै ॥ ब्रह्माण्डं ब्रह्मवैवर्तं मार्कण्डेयन्तथैव च ॥ भविष्यं वामनं ब्राह्मं राज-  
 सानि निबोध मे ॥ इत्येकैकषट्कस्य सात्विकादिरूपत्वमुक्तन्तदपि न विरुद्धयते ॥  
 प्रकृतमनुसरामः ॥ तत्रेत्यादि ॥ नानासृष्टिप्रकारेषु नानाधर्मेषु पुराणेषु तत्तत्पुराणे  
 तस्य तस्येश्वररूपताया माहात्म्यस्य च कथनात् । कूर्मपुराणे विष्णुब्रह्मशिवा  
 नुपक्रम्य “अन्योन्यमनुरक्तास्ते ह्यन्योन्यमुपजीविनः ॥ अन्योन्यम्प्रणताश्चैव लील-  
 या परमेश्वराः ” इति वाक्याच्चोच्चनीचत्वमव्यवस्थितमतोऽनेकेश्वरापातात्तन्नि-  
 वृत्त्यर्थं समाधानमाहेत्यर्थः ॥ ॥ सर्वस्वरूपीत्यादि ॥ ॥ शास्त्रार्थप्रकरणे

ब्रह्मणः सर्वाकारता सर्वकर्तृता चोपपादिता श्रुतिस्मृतिसूत्रानुसारेण ॥ अतस्तद-  
रिक्तस्य कर्तुरभावात्सर्वाकारो भगवानेव कर्ता । तेषु पुराणेषु तथा तेन तेन शिवा  
दिरूपेणोदित इत्यर्थः ॥ कृष्णशब्दोऽत्र परब्रह्मवाचकः “कृषिर्भूवाचकः शब्दो  
णश्च निर्वृतिवाचकः ॥ तयोरेक्यं परब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते” इति श्रुतेः ॥ अत-  
एव गारुडे “एको नारायणो देवो देवानामीश्वरेश्वरः ॥ परमात्मा परं ब्रह्म  
जन्माद्यस्य यतोऽभवत् । तत्रैव द्वितीयाध्याये । “सर्वज्ञानान्यहं शंभो ब्रह्मा-  
त्माहमहं शिवः ॥ अहं ब्रह्मा सर्वलोकाः सर्वदेवमयो ह्यहं” इति ॥ श्रीभागवते  
च द्वादशे शिववाक्यं “न ते मय्यच्युतेऽजे च भिदामण्वपि चक्षते” । त-  
त्रैव दशमेऽकूरस्तुतौ “त्वामेवान्ये शिवोक्तेन मार्गेण शिवरूपिणं । ब्रह्माचार्य  
विभेदेन भगवन्समुपासते” । कौर्मपि पूर्वभागे द्वितीयाध्याये “अहं नारायणो  
देवो पूर्वमासं न मे परं” इत्युक्तवाग्रे “यस्य प्रसादजो ब्रह्मा रुद्रः क्रोधसमुद्भवः”  
इत्युक्तम् । “अहञ्चैव महादेवो न भिन्नो परमार्थतः” इति च । भविष्ये ब्रह्माण-  
मुपक्रम्य “योऽसौ षड्विंशको लोके तथा यः पुरुषोत्तमः । भास्करश्च महाबाहो परं  
ब्रह्म च कथ्यते” इति । अतस्तत्तन्नाम्ना तत्तद्रूपो भगवानेवोच्यत इति व्यवस्था-  
भावेऽपि न दोष इति भावः ॥ एतेनापि पूर्वोक्तं दृढीकृतं ज्ञेयम् । यथा यज्ञस्वरूप-  
स्य भगवत एकत्वेन शाखाभेदेषु भिन्नरूपतायामपि नवीकृतित्वं तथात्र शिवादि  
रूपेण भेदेऽपि नाब्रह्मरूपत्वं । यथा च तत्तच्छास्त्रोक्तेषु कौण्डपायनश्येनादिषु  
काम्येषु विकृतित्वन्तथात्र सृष्टिकर्तृशिवाद्यतिरिक्तेष्वेकैकगुणाधिष्ठातृषु तदंशत्वेन  
विकृतित्वमिति ॥ एवं पुराणप्रतिपाद्यविषयनिश्चायनेन तद्भक्तिस्वरूपमपि नि-  
श्चायितप्रार्थं । विकृतितुल्ये गुणमूर्तेः भक्तिः सगुणा तदाकारे कृष्णे तु गुणातीतेति  
प्रमेयमप्येतेनैवोक्तप्रार्थम् ॥ अतः परं द्विविधवाक्यदर्शनात्तदुक्ताचरणफलभूतायां  
मुक्तौ सन्देहः । वाक्यानि तु पाद्मोत्तरखण्डीयद्विचत्वारिंशे त्रिविधानि शास्त्राणि  
प्रस्थानानि पुराणानि चोक्त्वा पुराणोक्तयुत्तरमेव “सात्विका मोक्षदाः प्रोक्ता  
राजसाः स्वर्गदाः शुभाः ॥ तथैव तामसा देवि निरयप्राप्तिहेतवे” इति । सूतसंहिता  
यान्तु तदुक्ताचारान्मुक्तिरुक्ता मुक्तिखण्डे । एवमन्यत्रापि ॥ ५२ ॥ तत्र कथं व्यव-  
स्थेत्याकांक्षायान्तमपि सन्देहं निराकर्तुमाहुः ॥ ॥ सर्वत्रेत्यादि ॥ ॥ सर्वत्र  
पुराणेषु मुक्तिबोधकवाक्यैर्मुक्तिरिति पक्षे वाक्यान्तरादृष्टेर्विप्रतिपत्त्यनुदयान्न  
सन्देहः दृष्टे तु पाद्मवाक्ये विप्रतिपत्त्या सन्देहोदयात्तन्निवृत्त्यर्थं विशेषमाह । सा-  
त्विककल्पस्थजीवादिप्रतर्क्यमाहेत्यर्थः ॥ तथाज्ञानादेव सा शङ्का वक्ष्यमाणरी-  
त्या निरस्यत इति भावः ॥ उत्कर्षस्य प्रतियोगिसापेक्षत्वात्तान्विशदीकुर्वन्ति  
॥ अन्येष्वित्यादि ॥ ॥ तामसेषु जन्म दुःखञ्चेत्यत्र हेतुर्मूले उक्तो धर्महीनपदेन ।

तथाच तेषु धर्माभावात्तथेत्यर्थः ॥ एवं राजसेषु सुखमित्यत्रापि धर्मसाहित्यं हेतुर्मू-  
ले उक्तस्तत्साहितपदेन । अतो नात्रापि सन्देह इति भावः ॥ ५३ ॥

व्रजभाषाटीका ।

और अनेक रूप होयवेकेलियें अनेककल्प श्रीकृष्णचन्द्रने प्रकटकिये हैं । तहां तामसकल्पमें शिवसों सृष्टि है, राजमकल्पमें ब्रह्मासों, सात्विकल्पमें विष्णुसों सृष्टि होवे है ॥ गुणनकरकें मिश्रितकल्पनमें सरस्वती पितृगण आदि सृष्टि करें हैं, याहीसों पञ्चपुराणके उत्तरखण्डमें मात्स्य १ कौर्म २ लैङ्ग ३ शैव ४ स्कान्द ५ आग्नेय ६ इन पुराणनकूं तामस कहे हैं ॥ वैष्णव १ नारद २ भागवत ३ गरुड ४ पाद्म ५ वाराह ६ इन छः पुराणनकूं सात्विक गिने हैं ॥ ब्रह्माण्ड १ ब्रह्मवैवर्त २ माकर्ण्डेय ३ भविष्य ४ वामन ५ ब्रह्म ६ ये छः पुराण राजस हैं ॥ जिन जिन पुराणनमें जिन जिन देवतानसों सृष्टिकी उत्पत्ति लिखी है उन पुराणनमें उनउन देवतानकोंही अधिक भावात्म्य तथा ईश्वरता लिखी है, उनउन देवताको रूप श्रीकृष्णही धारण करें हैं ॥ कूर्मपुराणमें लिखी है “अन्योन्यमनुरक्तास्ते ह्यन्योन्यमुपजीविनः । अन्योन्यं प्रणताश्चैव लीलया परमेश्वराः ॥” अर्थ—ब्रह्मा विष्णु शिवादिक देवता परस्पर अनुरागवाले हैं, परस्पर एककूं एक बड़ो समझके प्रणाम करतेरहते हैं, लीलाकरकें परस्पर एक-देवता एकको आश्रयकरलेत हैं, ये परमेश्वर हैं इत्यादि अनेक शास्त्र देखवेसों अमुकदेवता बड़ो है अमुकदेवता छोटो है यह निश्चय नहिं होय है । जो सबहिनकूं ईश्वर मानलें तो अनेक ईश्वर होयगे तहां समाधान करें हैं ॥ सर्वस्वरूपीति ॥ शास्त्रार्थप्रकरणमें यह निश्चय करआयेहैं ब्रह्मही अनेक आकास्वालो तथा सबको कर्ता है और कोई कर्ता नहिं

होयसकेंहैं तासों ब्रह्मही पुराणनमें शिवब्रह्मादिरूपसों वर्णन कियो है, वह परब्रह्म सदानन्दरूप है तासों कृष्णशब्दवाच्य है ता में “ परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते ” इत्यादि श्रुति प्रमाण हैं ॥ श्रीभागवतमेंभी कृष्णके प्रति अक्रूरकी स्तुति है ॥ “ त्वामेवान्ये शिवोक्तेन मार्गेण शिवरूपिणम् ॥ ब्रह्माचार्यविभेदेन भगवन्समुपासते ” ॥ हे कृष्ण शिवादिरूपकरकें अनेकमार्गद्वारा आपकी ही सबउपासना करें हैं तासों सर्वरूप श्रीकृष्णही उनपुराणनमें सृष्टिकर्ता शिव ब्रह्मादि रूपनसों वर्णनकिये हैं ॥ ५२ ॥ सबजीवन की सबपुराणनके बतायेभये मोक्षके साधनसों मोक्ष होजावेंहैं ऐसे पक्षमें तो सन्देह प्राप्तही नहींहोय परन्तु पद्मपुराणादिक के वचन देखवेसों तो सात्विकजीवनकीही सात्विककल्पानुसारिपुराणोक्तधर्मके आचरण करवेसों मुक्ति होय है वैसे अधिकारी की पाषंडादिधर्मसों मुक्ति नहींहोयहै, अधर्मकर्ता जीवनको तामसकल्पनमें जन्म होय और दुःख प्राप्त होय सुख तथा मोक्ष नहींहोय । धर्मसहित जीवनको राजसकल्पमें जन्म होय न दुःख होवे न मोक्ष होवे किन्तु सुखकी प्राप्ति होय ऐसैं सात्विकजीवनकी सात्विकपुराणोक्तधर्माचरणसों निर्गुणावस्था होयकरकें मोक्ष होवें है ॥ ५३ ॥

अपेक्षितन्तु सर्वत्र सर्वोक्तं गृह्यते कचित् ॥

इदानीं त्रिविधा जीवास्तेन त्रितयमीर्यते ॥ ५४ ॥

प्रवृत्त्यर्थन्तु सर्वत्र मुक्तिः फलमुदीर्यते ॥ तदव-

स्थापरित्यागाद्वचनं सत्यमेव हि ॥ ५५ ॥

तत्त्वदीपप्रकाशः ।

सर्वेषु कल्पेषु कल्पान्तरांक्ता धर्माः पुरुषार्था वा परिग्राह्याः ॥

यदि तत्कल्पानुसारिणो जीवा भविष्यन्ति यथा तीर्थे नाना-

देशवासिनाम् ॥ तदाह ॥ अपेक्षितमिति ॥ प्रकृते त्रिवि-  
धान्यपि पुराणानि सन्तीत्याह ॥ इदानीमिति ॥ राजसादीनाम्प्रका-  
रान्तरेण पुराणं न हृदयारूढम्भवति ॥ अतस्तेषां केवललौकिकत्वे  
कल्पान्तरे तेषान्तामसत्वाद्राजसोच्छेदः स्यात् ॥ राजसधर्मानुष्ठाने  
चोत्तरत्र सात्विकत्वं सम्पद्यते ॥ तथा तामसेष्वपि ज्ञातव्यम् । अति-  
तामसत्वनिवृत्त्यर्थमुत्कर्षार्थञ्च तामसानि पुराणानीत्यर्थः ॥ ५४ ॥  
ननु तत्तत्पुराणेषु तत्तदाचारान्मुक्तिरेव निरूप्यते किमुत्कर्षेण सात्विका  
एव मुच्यन्ते इति तु सात्विककल्पव्यवस्था यथा राज्ञान्तत्तदवसरे ते-  
षामनुग्रहनिग्रहौ । अत इदानीं त्रिविधानां मुक्त्यर्थमेव कथनं त्रिवि-  
धानि पुराणानीत्याशङ्क्याह ॥ प्रवृत्त्यर्थमिति ॥ मुक्तिः सर्वेषामभिल-  
षिता ॥ अतस्तदर्थमेव सर्वेऽपि प्रवर्तन्ते न संसारार्थमिति सर्वेषां प्रवृ-  
त्तिसिद्ध्यर्थं बालानुशासनन्यायेन मुक्तिः फलमुदीर्यते नतु राजसकर्म-  
णा मुक्तिर्भवति ॥ “मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः” इति भगवद्वाक्यात् ॥  
परमानन्दलक्षणस्य मोक्षस्य वैजात्याभावात् ॥ सात्विकानां नैर्गुण्यं  
तेन च मोक्षः ॥ तत्र साधनता सर्वथा भगवत्सम्बन्धेनैवावच्छिद्यते नतु  
ज्ञानित्वेन भक्तत्वेन वा ॥ “मामेव ये प्रपद्यन्ते ” इतिवाक्यात् ॥  
“ तमेव विदित्वातिमृत्युमेति ” इत्यादिपरम्परयेति ज्ञातव्यम् ॥ सर्वथा  
सम्बन्धे पुनर्बहूनि कारणानि तत्रावान्तरजातिभेदेऽपि न काचित् क्षति  
र्दण्डवत् ॥ अतः स एव परमपुरुषार्थः ॥ तत्साधनेष्वपि मोक्षपदप्रयो-  
गो यथा लोके ॥ नहि तादृशीमवस्थामापन्नो मुच्यते ॥ अतस्तदवस्था  
परित्यागो वक्तव्य एव ॥ अतो मुक्तिप्रतिपादकं वाक्यं सत्यमेवेत्याह ॥  
तदवस्थेति ॥ ५५ ॥

आवरणभङ्गः ।

॥ सर्वेष्वित्यादि ॥ ॥ सर्वेषु केवलेषु सङ्कीर्णेषु च कल्पेषु कल्पान्तरोक्तास्तदितर  
कल्पोक्ताः साधनपुरुषार्थदयः परिग्राह्याः । यथा तीर्थे नानादेशनिवासिनान्तर्देश-

निवासिनो हि तीर्थ आगता अपि तीर्थस्नानादिकं कुर्वन्तोऽपि स्वस्वदेशकुलवर्णाश्रम सम्प्रदायमनुसृत्यैव कुर्वन्ति न तु तदतिक्रमेण तथा सङ्कीर्णासङ्कीर्णेषु कल्पेष्वपि ता- दृशा जीवास्तथैव प्रवर्तन्त इति तत्सत्त्वे ते ग्राह्या इत्यर्थः ॥ मूले अपेक्षितं अधिकारि- विशेषणीभूतं श्रद्धादिकं सर्वपुराणेषु सर्वपुराणोक्तं क्वचित् अङ्गादौ गृह्यते इत्यर्थः ॥ प्रकृतइत्यादि ॥ ॥ योयं श्वेतवाराहाख्यः कल्पस्तमधिकृत्य शिवादिभ्यः सु- ष्ट्यकथनादयं सङ्कीर्ण इति भाति तत्र त्रिविधा अपि जीवाः सन्तीति तद्बीजकथ- नपूर्वकन्निविधपुराणसत्तामाहेत्यर्थः ॥ तदुपपादयन्ति ॥ राजसादीनामित्या- दि ॥ ॥ केवललौकिकत्वे इति ॥ ॥ राजसपुराणाभावेन स्वेच्छाचारित्व इत्यर्थः ॥ तथेत्यादि ॥ ॥ तामसपुराणासत्त्वे तामसानां स्वेच्छाचारित्वेऽतिता- मसत्त्वन्ततो नरकः स्यात् । सत्त्वे तु तदुक्तधर्माचरणेऽग्रे राजसत्त्वं ततस्तद्वर्णकर- णे क्रमात्सात्विकत्वं ततो मोक्ष इत्यर्थः ॥ इदम्प्रमेयप्रथमस्कन्धाज्ज्ञातव्यम् । ‘पार्थिवाद्धारुणो धूमस्तस्मादग्निस्त्रयीमयः । तमसस्तु रजस्तम्मात्सत्त्वं यद्वत्प्रद- र्शनम् ’ इति वाक्येऽस्यार्थस्य स्फुटत्वात् ॥ १४ ॥ एवं सति पुराणान्तरविरोधमा- शङ्कन्ते । ननु तत्तदिति ॥ उत्कर्षणेति ॥ ॥ तत्तद्गुणत्याजनरूपेणेत्यर्थः ॥ नन्वेवं व्यवस्थानङ्गीकारे पार्थिवेत्यादिवाक्यम्विरुद्धयेति चेन्नेत्याह ॥ सात्विका इत्यादि ॥ अस्मिन्नर्थे दृष्टान्तमाहुः ॥ यथेत्यादि ॥ ॥ अत्र समाधिमाहुः ॥ प्रवृत्तीत्यादि ॥ बालानुशासनन्यायेनेति त्वं दुग्धं पिब तव केशा दीर्घाः भविष्यंतीति बालोऽनुशा- स्यते तत्र नहि तस्य केशदैर्घ्यं तात्पर्यमपि तु पयःपाने प्रवृत्तौ तथात्र तत्तत्साधने प्रवृत्तावेव तात्पर्यं न मुक्ताविति तथेत्यर्थः ॥ नन्वत्र बालानुशासनन्याय एवेति कथमवगन्तुं शक्य इत्याकांक्षायामर्थापत्तिप्रदर्शयन्ति ॥ नन्वित्यादि ॥ ॥ रा- जसेनैव तामसा अपि व्याख्याताः ॥ नच यत्तु कामेप्सुनाङ्गमेत्यादिना यादृगुच्यते तादृशत्वाभावे कर्मणः कथं राजसत्त्वादिकमिति शङ्क्यम् । इदृशत्वाभावेऽपि ता- दृक्पुराणोक्तत्वमात्रेणापि राजसत्त्वादिसिद्धेः ॥ जैनसिद्धान्तसिद्धमवभूताहिमा वत्तथात्वोपपत्तौ बाधकाभावात् ॥ नन्वेवं द्विविधवचनानुरोधात्कारणवैजात्ये फलवै जात्यदर्शनाच्च मोक्ष एवं वैजात्यमङ्गीकार्यमित्यत आहुः ॥ परमेत्यादि ॥ ॥ न न्वेवं सति सात्विकादपि कर्मणः कथं मुक्तिर्गुणजन्यन्त्यस्य तत्रापि नोन्यादित्य- त आहुः ॥ सात्विकेत्यादि ॥ तथाच नहि तस्मादपि साक्षान्मुक्तिरस्माभिर्मुच्यते ये नेदं दूषणमापद्येत किंतु तस्य कर्मणो नान्तरीयाधिकारसम्पादकत्वं ऊर्ध्वं गच्छं- तीतिवाक्यादङ्गीक्रियते ॥ अधिकारश्च सत्त्वेनैव सत्त्वश्च ब्रह्मदर्शनमिति नेर्गुण्य- सम्पादकत्वादतो न दोष इत्यर्थः ॥ ननु गीतावाक्यस्य कर्तृविशेषफलविशेषबोधक-



त्वेन कर्मविशेषफलविशेषनियमबोधकत्वाभावादविरुद्धत्वेन पुराणेषुच सर्वेष्वेव निष्कामकर्मविशेषान्मोक्षस्य कंठोक्तत्वेन श्रौतकर्मवदेभ्योऽपि ज्ञानेन भक्तौ वा जातायां व्यापारे संपन्ने सर्वेभ्य एव मोक्षो भविष्यति । यद्वा तानि ज्ञानं भक्तिं वा जनयित्वोपक्षीयतां तदुक्तज्ञानभक्तिभ्यामेव मुक्तिर्भविष्यतीत्यङ्गीकार्यम् ॥ अन्यथा मुक्तिवाक्यस्य बाधितार्थत्वेनाप्रामाण्यं स्यादित्याकांक्षायां वचनस्य सत्यत्वमुप-  
पादयितुमाहुः ॥ तत्रेत्यादि ॥ ॥ तत्रेति ॥ ॥ नैर्गुण्ये तथा च निर्गुणत्वेन स-  
म्बन्धत्वेन कार्यकारणभावस्य सावधारणेन गीतावाक्येन निश्चयाद्राजसनामसपु-  
राणीयज्ञानभक्त्यो रूपान्तरविषयकत्वेन सर्वथा भगवत्सम्बन्धाजनकत्वनिश्च-  
याज्जातेऽपि अकिञ्चित्करे इत्यर्थः ॥ नन्विदमप्रयोजकं श्वेताश्वतरश्रुतौ शिवरूप-  
म्प्रकृत्य तमेव विदित्वेति श्रावणाद्रूपान्तरविषयकज्ञानस्यापि मोक्षसाधनत्वादित्य  
त आहुः ॥ तमेवेत्यादि ॥ ॥ इत्यादीति ॥ ॥ इत्यादिवाक्यम्परम्परया नै-  
र्गुण्यजनकव्यापारान्तरद्वारा मोक्षसाधनताबोधकं ज्ञातव्यम् ॥ तथाच श्रौतस्यैव  
कारस्य कर्मवाचकपदसमभिव्याहृतत्वाव्यापारेण व्यापारिणोऽन्यथासिद्ध्यभावा-  
च्च न श्रुतिविरोधः ॥ परम्परानङ्गीकारे तु गीतावाक्यविरोध इति तथेत्यर्थः ॥ नन्वस्तु  
रूपान्तरज्ञानस्य परम्पराकारणत्वन्तथापि सर्वथा भगवत्सम्बन्धे तु तस्य साक्षा-  
त्कारणता वाच्या तथैव भक्तेरपि ॥ एवं सति रूपाणामनंतत्वात्तद्विषयकज्ञानभक्त्योः  
सम्बन्धकारणतायामननुगतादवस्थमित्यत आहुः ॥ सर्वथेत्यादि ॥ ॥ “ कामं  
क्रोधमभयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव वा ॥ नित्यं हरौ विदधते यान्ति तन्मयतां हि ते ।  
सम्बन्धादृण्यो भक्त्या सत्सङ्गान्मायुपागताः । केवले न हि भावेन गोप्यो  
गावः खगा मृगाः ” ॥ इत्यादिवाक्यैस्तस्य नानासाधनकतायाः शास्त्रसिद्धत्वा-  
त्तत्र सम्बन्धेऽवान्तरजातिभेदे शैवत्वादिजातिभेदेऽपि न काचित्क्षतिः “ वृषपर्वा  
बलिर्बाणो मयश्चाथ विभीषणः ” इति तत्तद्रूपभक्तानुपक्रम्य “ बहवो मत्पदम्प्रा-  
प्तास्त्वाष्ट्रकायाधवादयः ” इत्युपसंहारे स्वपदप्राप्तिकथनान्न फलवैजात्यं यथा  
नानाजातीयदण्डैर्घटरूपं फलं तद्वत्सिद्धमाहुः ॥ अत इत्यादि ॥ स इति ॥ ॥ उक्त-  
रूपसम्बन्धः । अयश्च तन्मयत्वरूपः सर्वात्मभावाख्यः । यान्ति तन्मयतामिति-  
वाक्यात् । प्रपत्तिशब्दवाच्योऽप्ययमेव । नच ज्ञानविशेष एव प्रपत्तिरिति वाच्यं  
धात्वर्थविरोधात् । न चोपसर्गेण तदवगमः प्राप्थ्यस्यापि शक्यवचनत्वात् ॥ ननु-  
भवत्वेवं तथापि कर्मणा मुक्तिबोधकानां वाक्यानां कथं सङ्गतिरित्यत आहुः ॥ त-  
त्साधनेत्यादि ॥ ॥ कर्मफलानां तत्तद्रूपविषयकज्ञानादीनां मुक्तिसाधनत्वाह्ला-  
क्षणिकस्तेषु मोक्षपदप्रयोगः । यथा लोके आरोग्यं प्रथमं सुखं स्वानुकूल्येनैन्द्रियप्रवृ-

क्तिकाम इत्यादावित्यर्थः ॥ एवं प्रयोगमुपपाद्य पूर्वोक्तयुक्तिं स्मारयन्तः सद्गतिं  
वदन्ति ॥ नहीत्यादि ॥ ॥ तादृशीमिति ॥ ॥ राजसतामसकर्मरुच्यानुमितां राज-  
सीं तामसीञ्च ॥ अत्रेदं सिध्यति ॥ मुक्त्यर्थं पाषण्डादिरहितेनाधिकारिणा क्रियमा-  
णैस्तामसधर्मेस्तामसावस्थात्यागेन राजसत्वन्ततस्तेन तथा क्रियमाणे राजसधर्मेः  
सात्त्विकत्वन्ततस्तादृशेन क्रियमाणैस्तैः सर्वथा भगवत्सम्बन्धे नैर्गुण्यम् ।  
ज्ञानार्थं क्रियमाणैस्तु राजसतामसैर्वहुजन्मविपाकैस्तत्तद्रूपविषयकज्ञानपरिपाके  
एकं भक्त्यर्थं क्रियमाणैस्तादृशभक्तिपरिपाकस्ततः सर्वथा तद्रूप-  
भगवत्सम्बन्धे नैर्गुण्यत्वेन योक्ष इति तामसानाम्बिलंबब्राह्मण्यं राजसानान्ततो  
न्यूनं सात्त्विकानान्तदभाव इति पौराणिकमुक्तिव्यवस्थेति ॥ एवमत्र क्रममु-  
क्तिरूपम्फलान्निरूपितम् ॥ अयमेवार्थो ब्रह्मपुराणे समाप्तिदशायां विष्णुमायानुकी-  
तनाध्यायेऽपि प्रतिपादितो व्यासवाक्येषु “ शृणुध्वं मुनिशार्दूलाः प्रवक्ष्याम्य-  
नुपूर्वशः ॥ यथा कृष्णे भवेद्भक्तिः पुरुषस्य महाफला ॥ संसारेऽस्मिन्महाघोरे सर्व-  
भूतभयावहे । महाभयङ्करे नृणान्नानादुःखसमाकुले ॥ निययोनिसहस्रेषु जायमानः  
पुनः पुनः ॥ कथञ्चिद्भक्ते जन्म देही मानुष्यकं द्विजाः ॥ मनुष्यत्वेऽपि विप्रत्वं  
विप्रत्वेऽपि विवेकिता ॥ विवेकाद्धर्मबुद्धिस्तु बुद्ध्या तु श्रेयसां ग्रहः ।  
यावत्पक्षद्वयम्पुंसां न भवेज्जन्मसञ्चितम् । तावन्न जायते बुद्धिर्बामुदेवे जगन्मये ॥  
तस्माद्वक्ष्यामि भो विप्राः कृष्णे भक्तिर्यथा भवेत् । अन्यदेवेषु या भक्तिः पुरुष-  
स्येह जायते ॥ कर्मणा मनसा वाचा तद्गतेनान्तरात्मना । तेन तस्य भवेद्भक्तिर्यजने  
मुनिसत्तमाः ॥ स करोति ततो भक्तिं यजने मुनिसत्तमाः । स करोति ततो विप्रा  
भक्तिं चाग्नेः समाहितः ॥ तुष्टे हुताशने तस्य भक्तिर्भवति भास्करे । पूजाङ्करोति  
सततमादित्यस्य ततो द्विजाः ॥ प्रसन्ने भास्करे तस्य भक्तिर्भवति तत्त्वतः ॥ सेवा-  
ङ्करोति विधिवत्स तु शम्भोः प्रयत्नतः ॥ तुष्टे त्रिलोचने तस्य भक्तिर्भवति केशवे ।  
संपूज्य तं जगन्नाथं वामुदेवाख्यमव्ययम् । ततो भुक्तिश्च मुक्तिश्च स प्राप्नोति द्वि-  
जोत्तमाः ” इति । गीतायाञ्च “ येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः । तेऽपि  
मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥ अन्तवत्तु फलन्तेपान्तद्भवत्यन्यमेधसाम् ॥  
देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ” इति ॥ अतो राजसादिपुराणस्थानां  
मुक्तिवचनानान्तदवस्थापरित्याग एव मुक्तिपदार्थ इति निष्कर्षः ॥ अत्रेदं  
सिद्ध्यति ॥ पुराणं वेदवदेव भगवन्निश्वासरूपन्तत्तत्कल्पीयभुवनद्रुमात्मकस्य  
भगवतो लीलाम्प्रतिपादयच्छिवादिरूपस्य माहात्म्यम्परब्रह्मण एव वदन्ति श्रोत-  
धर्मकालादिव्यवस्थां सर्वपदार्थस्वरूपश्च निर्द्धारयति । तदुक्तरीत्या तद्धर्माचरणे

तु तत्तदवस्थानिवृत्तिरूपैव मुक्तिः क्रमेण परमापि मुक्तिर्भवति । तथैव तदुक्तभक्त्या-  
पि तेन तत्तत्कल्पात्मककालाधीनमेव तद्वलं नतु तन्निरपेक्षमिति ॥ ५५ ॥

ब्रजभाषाटीका ।

परन्तु सबकल्पनमें सबकल्पके जीव उत्पन्नहोतेहैं वे जीव अपने अपने कल्पानुसारी धर्मकैही करें हैं, जैसे नानादेशके निवासी एकतीर्थमें आवें । सबकल्पनमें सबकल्पको धर्म ग्रहणकियोजावेंहैं या श्वेतवाराहकल्पमें तीनोंप्रकारके ही पुराण हैं, क्योंकि याकल्पमेंभी तीनोंप्रकारके जीव हैं राजसजीवके तामससात्विकपुराणोक्त धर्म हृदयमें नहीं आवें हैं उनजीवनके राजसधर्म नहीं बताये जायेंगे तो वे जीव केवल लौकिक रहे आवेंगे तो कल्पान्तरमें फिर तामस होजायेंगे तो राजसोच्छेद होयगो तामों उनजीवनकेलियेही राजसपुराण हैं । उनमें लिखेभये धर्मको अनुष्ठान करवेमों आगेके जीव सात्विक होजायेंगे । ऐसैही तामसजीवनको अंत्यन्त तामसपणों दूरहोयके उत्कर्ष होयवेके लिये आगे राजसता होयवेकेलिये तामसपुराण हैं ॥ शङ्का—उन उन पुराणनमें उन २ धर्मके आचरण करवेंसों मुक्तिप्राप्ति लिखीहै । सात्विकजीवनकीही मुक्ति होय औरनकी नहींहोय ये व्यवस्था तो सात्विककल्पकीही होनी-चाहिये । जैसे राजा प्रजाके ऊपर उनउन अवसरनपर अनुग्रह तथा दण्ड दोनों कार्यकूँ करें है केवल दण्ड अथवा केवल अनुग्रहमात्रही नहींकरें है ऐसै सबही कल्पनमें तत्तत्पुराणोक्त धर्मसों मोक्ष और अधर्मसों बन्ध होनोंचाहिये तामों या कल्पमेंभी तीनोंप्रकारके जीवनकी मुक्तिके लिये तीनोंप्रकारके पुराण हैं ॥ उत्तर—मुक्तिकी अभिलाषा सबही जीवनकों है तामों सबजीवनकी धर्ममें प्रवृत्ति होयवेकेलिये सबपुराणनमें मुक्तिफल बताया है । जैसे केश

लोभ देकें बालककूँ दूध पिवायोजाय है कछु दूध पीतेही  
 बढजायहैं ऐसैही क्रमकरकें निर्गुणावस्था भये सों मुक्ति  
 अभिप्रायसों राजसतामसपुराणोक्त राजसतामसधर्म-  
 होनों लिख्योहैं तासों राजसतामसधर्मकूँ मुक्ति करवेवारे  
 जलने, क्योंकि “ मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ” इत्यादिभग-  
 वत्के अनुसार राजसजीवकी मध्यलोकमें तामसजीवकी  
 लोकमेंही स्थिति रहेहै तहां तामसराजसादिजीवनके लिये  
 पारी मोक्ष है यहभी कल्पना नहिकरसकें हैं, क्योंकि पर-  
 ममोक्षमें वैजात्य नहिं है अर्थात् मोक्षपदार्थ एकही है  
 तामसजीव तामसपुराणोक्तसाधनसों आगे राजस होय,  
 तसजीव राजसपुराणोक्तसाधनसों आगे सात्विक होय, सा-  
 व सात्विकपुराणोक्तसाधन करवेसों निर्गुण होय तब मोक्ष  
 में “ राजसस्तु तमः पश्चात्सत्त्वं यद्वह्नददर्शनम् ” इत्यादिभाग-  
 प्रमाणहै ॥५४॥ निर्गुणता भयेसों भगवत्सम्बन्ध होय तब  
 राजसतामसादिपुराणोक्तरूपान्तरकी भक्ति वारूपान्तर  
 भयेसों मुक्त नहिं होयहै । “ मामेव ये प्रपद्यन्ते ” यावाक्यमें  
 में भगवत्सम्बन्ध भयेसोंही मायाको तरणो लिख्योहै, श्वेता-  
 ‘ तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेति ’ यावाक्यके पूर्व शिवकूँ  
 करकें उनके ज्ञानसों मोक्ष लिखीहैं सो परंपराकरकें पूर्वो-  
 सार निर्गुणता होयकें सर्वथा भगवत्सम्बन्ध होय तब मोक्ष  
 र्वथा भगवत्सम्बन्ध होयवेमें बहुत कारण है जैसे कंसराजा  
 द्वारा सर्वथा भगवत्सम्बन्ध भयो । द्वेषके द्वारा शिशुपाल  
 त्सम्बन्ध होयकें तन्मयता भई । भगवत्सम्बन्धमें अवान्तर  
 अर्थात् पशु पक्षी मनुष्य शैव वैष्णव आदि भेद विघ्न-

कर्ता नहिहैं जैसे चाहे जा काष्ठको दण्ड होय वाके सम्बन्धसों  
घट बनजावेंहैं ऐसेही कोईप्रकारसोंभी भगवत्सम्बन्ध होनोंचाहि-  
ये मुक्त होयजावेंहैं । अतएव विभीषणप्रल्हादादिक असुभी भग-  
वत्पदकूँ प्राप्तभये तासों भगवत्सम्बन्ध होनोंही परमपुरुषार्थ है ॥  
और पुराणनमें जो राजसतामसदेवतानके स्वरूपज्ञानकूँ मोक्षरूप  
लिखोहैं सो वह ज्ञान मोक्षको साधन पूर्वोक्तपरम्पराकरकें हैं तासों  
ऐसेस्थलमें पहिलीकी अवस्थाको छूटजानोंही मुक्तिहै॥मुक्तिनाम  
छूटवेको है जैसे राजसदेवताकी उपासनासों जहाँ मुक्ति लिखीहै  
तहाँ पहिलीकी तामसावस्थासों छूटजानोंही मुक्ति है याहीमें ब्रह्म-  
पुराणमें सूर्यकेद्वारा शिवभक्ति वाके द्वारा वासुदेवमें भक्ति वासों  
कृतार्थता लिखीहै तासों मुक्तिप्रतिपादक वाक्यभी सँचे हैं॥५५॥

चतुर्युगे तु व्यासानां नानात्वात्स्वस्वकालजम् ॥  
वृत्तान्तमाहुर्नान्यस्य कल्पान्तास्तेन कीर्ति-  
ताः ॥ ५६ ॥ सर्वनिर्धारणार्थाय व्यासो भागवत  
मुक्तवान् ॥ एकं कल्पमुपाश्रित्य स्त्रीशूद्राणां  
हिते रतः ॥ ५७ ॥

तत्त्वदीपप्रकाशः ।

नन्वेककल्पप्रतिपादकत्वम्पुराणानामसङ्गतं यतश्चतुर्युगवार्तामेव  
पुराणानि कथयन्ति कलौ सर्वेषाम्पर्यवसानात् ॥ अतोऽष्टादशयुगवा-  
र्तैव पुराणानामर्थः कुतो न भवेदित्याशङ्क्याह ॥ चतुर्युगेति ॥ एक-  
स्मिन् कल्पे सहस्रं व्यासा भवन्ति तेषां द्वापरान्तेऽधिकारः ॥ ततः  
पुनः कृतौ सर्वविद्यानाम्पूर्णता ॥ पुनरन्यस्य व्यासार्थं द्वापरान्ते निवे-  
शनमिति ॥ अतस्ते स्वचतुर्युगवार्तामेव कथयन्तीति न दोषः ॥ ५६ ॥

भारते भिन्नप्रकार इति तत्रापि कल्पभेदमाह ॥ सर्वनिर्धारणार्थायेति ॥  
एकं यं कञ्चन ॥ यत्र कल्पे तथा पदार्थाः ॥ ततः स्त्रीशूद्राणाम्महत्त्वं  
सिध्यति ॥ यतस्तत्र सर्वेषामाचारो निरूपितः ॥ “ न शूद्राय मतिन्द  
द्यात् ” इत्यादिनिषेधस्तत्र न भवति ॥ कृतयुगे मानवा धर्माः परा-  
शरवाक्यात् ॥ ५७ ॥

आवरणभंगः ।

अत्र कल्पात्मककालाधीनत्वन्न युज्यत इत्याशयेन शङ्कते ॥ ॥ नान्वत्या-  
दि ॥ ॥ समाधिग्रन्थस्तु प्रकटार्थः । एकैककल्पप्रतिपादकत्वं द्वापरान्ते  
व्यासनिवेशश्चास्माभिः पूर्वं मात्स्यवचनोपन्यासेन प्रदर्शितमेव । न दोष  
इति चतुर्युगवार्त्ताप्रतिपादकत्वं कल्पप्रतिपादकताबाधकम्भवतीत्यर्थः ॥ मूले  
कल्पान्ता इति पुराणार्था इत्यर्थः ॥ ५६ ॥ एवम्पुराणप्रमेयान्निश्चित्येतिहासस्यापि  
पुराणतुल्यत्वात्तत्प्रमेयं निश्चेतुमाहुः ॥ ॥ भारत इत्यादि ॥ ॥ भिन्न इति ॥  
॥ पुराणोक्तप्रकाराद्भिन्नः ॥ ॥ सर्वनिर्धारणार्थायेति ॥ ॥ इदानीं त्रिविध-  
पुराणसत्त्वेन सङ्कीर्णजीवानां किम्पुराणोक्तद्वयमिति पुराणार्थविषयकम्पुराणा-  
नामुपबृंहणत्वेन वेदार्थविषयकश्च सन्देहं दृष्ट्वा “ धर्मं चार्थं च कामे च मोक्षे च  
भरतर्षभ ॥ यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्कचित् ” इति वाक्यात्पुराणो-  
क्तार्थस्वरूपबोधकत्वेन भारतव्यपदेशेन “ आम्नायार्थश्च दर्शितः ” इति वाक्या-  
द्विशेषार्थज्ञापकत्वेन च सर्वेषां श्रुत्युक्तेर्ये सन्देहनिरासायेत्यर्थः ॥ एवम्प्रयोज-  
नकथनमुखेन सनिर्द्धारकन्तस्य प्रमाणस्य स्वरूपमित्युक्तम् ॥ निर्द्धारणे प्र-  
कारमाहुः ॥ एकमित्यादि ॥ तथा पदार्था एवञ्च “ स्त्रीशूद्रादिजबन्धूनाञ्च-  
यी न श्रुतिगोचरा ॥ कर्मश्रेयसि मूढानां श्रेय एवम्भवेदिह ॥ इति भारतमाख्या-  
नं कृपया मुनिना कृतम् ” इति प्रथमस्कन्धे स्त्रियो धन्याः शूद्रो धन्य इत्युपा-  
ख्याने विष्णुपुराणे च प्रसिद्धम् । सर्वनिर्धारणेन किं हितं कृतवानित्यपेक्षा-  
यां धर्मनिर्धारणमिति मूलं विवृण्वन्तस्तदाहुः ॥ तत्रेत्यादि ॥ यतस्तत्रेति ॥  
यतो हेतोर्भारत इत्यर्थः ॥ एतेन साधनमप्युक्तम् ॥ इत्यादीति ॥ मन्वाशुक्तः ॥  
“ भारतव्यपदेशेन आम्नायार्थश्च दर्शितः ॥ दृश्यते यत्र धर्मादि स्त्रीशूद्रादिभिरप्यु-  
त ” इति वाक्यादित्यर्थः ॥ ननु यद्वै किञ्चेति श्रुतेर्नैवमुचितमित्यतः पक्षान्तरमाहुः  
॥ कृतयुगेत्यादि ॥ “ कृते तु मानवा धर्मास्त्रेतायां दक्षगौतमाः ॥ द्वापरेशाङ्गलि-  
खिताः कलौ पाराशराः स्मृताः ” इति पाराशरस्मृतेस्तथेत्यर्थः ॥ ५७ ॥



व्रजभाषाटीका ।

शङ्का—एक एक पुराण एक एक कल्पनको प्रतिपादन करेहै ये बात कैसें सम्भवसकें। पुराणमें तो चतुर्युगकी वार्त्ता लिखीहै तासों अष्टादशचतुर्युगकी वार्त्ताही अष्टादशपुराणनको अर्थ क्यों नहिहो यसकें। उत्तर—एककल्पमें हजार व्यास होवेंहैं और उनको द्वापरान्तमें अधिकार होवे है तापीछें सत्ययुगमें फेर विद्याकी पूर्णता होवेहै फिर दूसरे जीवकों व्यासकरवेकेलियें द्वापरके अन्तमें निवेशकियोजावेहै तासों वे व्यास अपने २ चारोंयुगनकी वार्त्ता कहेंहैं यासों न्यारे २ कल्पके प्रतिपादक न्यारे २ पुराण हैं यानिर्णयमें कछु दोष नहिआवे है, क्योंकि जाकल्पको प्रतिपादक जो पुराण होवे है वा कल्पके सहस्रव्यास वा कल्पकेही सहस्रचतुर्युगनके वृत्तान्त वा पुराणमें कहेंहैं ॥ ५६ ॥ महाभारतको तो प्रकारभिन्न है, अभी तीनोंही गुणनके पुराण विद्यमान हैं, सङ्कीर्णजीवनकूं कोनपुराणके अनुसार वर्ताव करनांचाहिये तथा वेदार्थविषयक सर्व निर्धार करवेकेलियें महाभारत व्यासजीने बनायो ॥ जाकल्प में वैसे उत्तम धर्मोपयोगी पदार्थ हते ऐसे कोई एककल्पको आश्रयकरके भारत बनायो है तहां भारतीय धर्म करवेसों स्त्रीशूद्रादिकनकूंभी महत्त्व सिद्ध होय है याहीसों भारतमें सबनको धर्म वर्णन कियो है ॥ “ नशूद्राय मतिं दद्यात् ” या मनुस्मृतिके वाक्यमें जो शूद्रनकों ज्ञान देवेको निषेध है सो भारतके ज्ञानदेवेको नहींहै क्योंकि भारत तो सर्वहितार्थही बनायो है। दूसरो याप्रश्नको ये उत्तर है कि मनुस्मृतिके धर्मनकूं पराशरजीने सत्ययुगमें मानवेयोग्य कहेहैं, कलियुगमें तो पाराशरस्मृतिके धर्मकोही मानवेयोग्य कहे हैं ऐसे पाराशरस्मृतिके वाक्य याश्लोकके आवरणभंगमें हैं ॥ ५७ ॥

धर्मनिर्धारणन्तत्र सर्वेषां समुदाहृतं ॥ प्रत्यहं  
वृक्षवत्कल्पा भुवनद्रुमरूपिणः ॥ ५८ ॥ अ-  
न्यकल्पोक्तरीत्यापि कथितो भगवान् स्वय-  
म् ॥ कल्पेस्मिन्सर्वमुत्तयर्थमवतीर्णस्तु सर्वतः ॥  
सर्वतत्त्वं सर्वगूढं प्रसङ्गादाह पाण्डवे ॥ ५९ ॥

तत्त्वदीपप्रकाशः ।

कल्पस्वरूपमाह ॥ प्रत्यब्दमिति ॥ ५८ ॥ ननु कृष्णः सर्वमुत्तय-  
र्थमवतीर्णस्तस्य स्वरूपकथनार्थम् भागवतम् प्रवृत्तन्तच्च सारस्वतकल्पानु-  
सारि मत्स्यपुराणे तथा प्रदर्शनात् ॥ अयञ्च श्वेतवाराहकल्पः अतो-  
त्रत्यानाङ्क्यं मुक्तिरित्याशंक्याह ॥ अन्यकल्पेति ॥ अन्यकल्पस्य  
रीतिरेव गृहीता सर्वत्र पुराणे तथैव निर्णयात् ॥ ननु राजसानामेव  
मोक्षदः ॥ ननु स्वरूपेणैव सर्वमुक्तिङ्कुरिष्यति किम् भागवतेनैवेत्याशंक्य  
भगवतोऽभिप्रायकथनार्थमाह ॥ सर्वतत्त्वं सर्वगूढमिति ॥ अर्जुनार्थ-  
म् प्रसङ्गाद्गीतामाह ॥ अतो ज्ञायते शास्त्रद्वारैव मोचक इति प्रवृत्तिं वा  
सम्पादयिष्यतीति ॥ ५९ ॥

आवरणभङ्गः ।

॥ कल्पेत्यादि ॥ कल्पो नाम पूर्वोक्तरीतिकं ब्रह्मणो दिनादिकन्तदुपाश्रय-  
णेन धर्मादीनां वैलक्षण्यं कथम्भवति येन रूपादिहितसिद्धिरित्याकांक्षायाङ्कल्प  
स्वरूपमाहेत्यर्थः ॥ ॥ प्रत्यब्दमिति ॥ तथात्र तेषां स्वरूपवैलक्षण्येन यथा  
लोकसंस्थानां नानात्वं तथा लौकिकधर्मादीनामपि नानात्वमिति सुखेन रूपादि  
हितसिद्धिरित्यर्थः ॥ तेन काम्यफलमप्युक्तम् ॥ ५८ ॥ अतः परं मुख्यप्रमेया-  
दिकं वक्तव्यं । तच्च गीतायां स्फुटमिति तां विचारयितुं तस्याः श्रीभागवतेन  
सहैककोटित्वाय तत्प्रयोजनकथनपूर्वकं मुख्यफलम्विचारयन्त आशङ्कन्ते ॥ ननु  
कृष्ण इत्यादिना ॥ अत्रायमर्थः । स्त्रीशूद्रादीनां महत्त्वसाफल्यं श्रेयःप्राप्त्या  
भवति श्रेयस्तु “ मोक्षमिच्छेज्जनार्दनात् ” इतिवाक्याद्भगवदधीनमिति निर्णीतं

म्भगवांस्त्वस्मिन्कल्पेऽवतीर्णः कामादिना सर्वथा स्वसम्बन्धात् स्वरूपेण मोचितवान् ॥ तदुक्तं श्रीभागवते गोप्यः कामादिति ॥ “बलभीमपार्थव्याजाह्वयेन हरिणानिलयन्तदीयम्” इति गारुडे ॥ च “अज्ञानिनः सुरवरेशमधिक्षिपन्तो यं पापिनोऽपिशिशुपालमुयोधनाद्याः ॥ मुक्तिङ्गताः स्मरणमात्रविधूतपापाः कः संशयः परमभक्तिमताञ्जनानाम्” इति । तेन तदानीं तु न भारतोपयोगः साम्प्रतन्तु नावतार इतीदानीं स्वरूपज्ञाने सति भक्त्यादिसाधने भारतमुपयुज्येत । ज्ञानन्तु श्रीभागवताधीनन्तञ्चोक्तरीत्या नैतत्कल्पानुसारीत्येतत्कल्पीयानान्तदुक्तज्ञानानुपयोगात्तदभावे च भक्त्याद्यभावादिदानीमपि तेन मुक्त्यभाव इतीदानीमपि नोपयोग इत्याशंक्य भारतोक्तप्रकारेण मुक्तिनिरूपणार्थं सार्धेन समाधिमाहेति ॥ अन्येत्यादि ॥ ॥ सारस्वतकल्पे उक्ता या रीतिः सैव भारते गीतायां गृहीता तत्र गमकम् ॥ ॥ सर्वत्रेत्यादि ॥ ॥ श्रीभागवते “अयन्तु ब्रह्मणः कल्पः सविकल्प उदाहृतः ॥ पाद्मकल्पमथो शृणु” “अयन्तु कथितः कल्पो द्वितीयस्यापि भारत । वराह इति विख्यातो यत्रासीच्छूकरो हरिः” ॥ इतिकल्पान्तराणामपि कथनान्मात्स्ये सप्तकल्पकथनादन्येष्वपि तथा दर्शनात्सर्वेषु पुराणेषु नरामराणां वृत्तान्तस्य रीतिरेव गृह्यत इति निर्णयात्तद्वीत्यात्र भगवानुच्यते नतु तत्कल्पीया एव जीवास्तेषां मुक्तत्वादतो न राजसानामेव मोक्षदः किन्तु सर्वेषामतोऽस्मिन्नपि सर्वतः कामक्रोधादितो मोचयिष्यतीत्यर्थः ॥ भारतश्रीभागवतयोरैकाधिकरण्यञ्च । “मुनिर्विवक्षुर्भगवद्गुणानां सखापि ते भारतमाह कृष्णः ॥ यस्मिन्नृणां ग्राम्यसुखानुवादैर्मतिर्गृहीतानु हरेः कथायाम्” इति तृतीयस्कन्धीये विदुरवाक्ये स्फुटम् ॥ ॥ ननु स्वरूपेणैवेत्यादि ॥ ॥ यदि तत्कल्परीतिरेवात्र गृहीता तदा तत्र नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप” इति वाक्यात्स्वरूपेणैव मोक्षन्दास्यति । श्रीभागवतन्तु तत्कल्पानुसारीत्यस्मिन् कल्पे किन्तेन तदीयस्यासाधनांशस्यात्र गृहीतुमशक्यत्वाद्ब्रह्णे व्यवस्थाभङ्गप्रसङ्गादित्याशंक्यतेन साधेननास्मिन्नपि कल्पे भगवतो मुक्तिर्दित्सतेति भगवदभिप्रायकथनार्थन्तद्वमकमाहेत्यर्थः ॥ ॥ मूले सर्वतत्त्वमित्यादि ॥ शोकमोहनिवारणाय सांख्ययोगनिरूपणप्रस्तावे स्वभक्तोपरि कृपया स्मृतस्य बुद्धिस्थस्योपेक्षानर्हत्वाद्राजसवियादिकथने मया ततमिदं सर्वमित्यादिना सर्वतत्त्वं वेदादीनां निष्कृष्टप्रमेयं मन्मना भव । स सर्वधर्मानित्यादिना सर्वगूढं इतराज्ञातं साधनफलश्चार्जुनार्यम्भगवानाहेत्यर्थः ॥ ॥ प्रवृत्तिमिति ॥ ॥ अत्रापि शास्त्रद्वारेति सम्बध्यते । तथाचास्मिन्नपि कल्पे शास्त्रद्वारा मोचयिष्यति भक्तौ शरणे च प्रवृत्तिं वा सम्पादयिष्यती-

ति गीतोपदेशाज्ज्ञायतेऽतो मुख्ये साधने फले च न सन्देह इति भावः ॥ एतेन वेदपुराणार्थनिर्द्धारकमेतस्य स्वरूपं वेदादिप्रमेयमेव निष्कृष्टरूपेण प्रमेयन्तथैव साधनम्फलञ्चेति विचारितन्तेनैतस्य प्रमेयस्य बलं सर्वाधिकमिति निर्णीतम् ॥ ५९ ॥

व्रजभाषाटीका ।

प्रतिवर्ष जैसे वृक्षके पत्र पुष्पादिक नानाभातिके नये नये आतेजावें हैं ऐसे भुवनरूपवृक्षके कल्पानुसार लोकनकी रचना तथा लौकिक धर्म नाना होतेरहे हैं ॥ शङ्का—श्रीकृष्णचंद्र तो सबनकी मुक्तिकेलिये प्रकटभये हैं उनको स्वरूपवर्णन करवेंको भागवत प्रवृत्तभयो है वा भागवतकूं मत्स्यपुराणमें सारस्वतकल्पके अनुसारी बतायो है । अभी श्वेतवाराहकल्प है, अभीके जीवनकी भागवतके ॥ सेवनसों कैसें मुक्ति होवेगी ॥ उत्तर—अन्यकल्पोक्तेति औरकल्पकी रीतिकोही ग्रहण कियो है । सब पुराणमें ऐसोही निर्णय है मत्स्यपुराणमेंही सातकल्पनको वर्णन है भागवतमेंभी । “अयन्तु ब्रह्मणः कल्पः पाद्मकल्पमथो शृणु” इत्यादिस्थलमें ब्रह्मपद्मवाराहकल्पनकोभी वृत्तान्त है । तासों याकल्पमें सबनकी स्वरूपकरकेही मुक्ति करवेंकेलिये प्रकटभये श्रीकृष्णचंद्रभगवानको भागवतमें सारस्वतकल्पकी रीतिके अनुसारभी वर्णन कियो है ॥ ५८ ॥ शङ्का—स्वरूपकरकेही श्रीकृष्णचंद्र सबनकी मुक्ति करदेंगे भागवत बनायवेको कहा प्रयोजन है ॥ उत्तर—उनही श्रीकृष्णचंद्रभगवान्नें प्रसंगसों अर्जुनके अर्थ गूढ सर्वतत्त्वको जामें वर्णन ऐसें गीताशास्त्रको वर्णनकियो तासों मालुमपडें है अभीके जीवनकूं शास्त्रद्वाराही मुक्ति देंहै, अवतारसमयमें तो भारतादिकशास्त्रविनाही स्वरूपकरकेही गोपी पशु पक्षी आदिकनकी मुक्ति होवें है तासों अभीतो भागवतशास्त्रकी अवश्य अपेक्षा है ॥ ५९ ॥

शुकवत्तव्यासगीतं सत्वेनास्यावतारतः॥ईश-  
वाक्यन्तु तस्यापि दुर्बोधम्भजनादृते ॥ ६०॥  
जीवा एव हि सर्वत्र व्यासाः साम्प्रतमेव हि ॥  
स्वयम्भूत्वा हरिः कृष्णः स्वांशं व्यासश्चका-  
रह ॥ स्वज्ञापनाय भक्तानाम्पदप्राप्त्यै ततः  
परम् ॥ ६१ ॥

तत्त्वदीपप्रकाशः ।

नन्वेवं सति कथं व्यासस्यानिर्वृतिस्तत्राह ॥ शुकवदिति ॥ अ-  
भिप्रायाज्ञाने हेतुः ॥ सत्वेनास्येति ॥ सत्वांशव्यवधानेनावतारो यतः ॥  
ननु वाक्यस्य विद्यमानत्वाद्वाक्यार्थविचारकस्य कथम्भ्रमस्तत्राह  
॥ ईशवाक्यमिति ॥ अनेन भजनव्यतिरेकेण भागवतार्थो नावगम्यत  
इति सूचितम् ॥ ६० ॥ नन्वेतादृशोऽग्रे कथन्तत्वं वक्ष्यतीत्याशंक्याह  
॥ जीवा एव हीति ॥ भगवदिच्छया तदर्थमंशावतारणात्प्रयोजन-  
माह ॥ स्वज्ञापनायेति ॥ ततःपरं रूपलीलातिरोभावनानन्तरं  
नामलीलया क्रीडाङ्कतुं व्यासावतार इत्यर्थः ॥ ६१ ॥

आवरणभंगः ।

तदेतत्सर्वमेव सप्रपञ्चं सार्द्धैःपञ्चभिः परिहरन्ति ॥ नन्वित्यादिना ॥ ॥ एवं  
सतीति ॥ व्यासेन भारते गीतोपनिबन्धनादिना सर्वनिर्द्धारि कृते सति । शुक-  
वत्तव्यासगीतमिति ॥ ॥ तत् गीतोपनिबन्धनरूपं व्यासवाक्यं शुकवत् । शुकस्य  
पक्षिण इव अर्थनिवबोधेन युद्धारम्भे गीताया उक्तत्वेन युद्धप्रतिबन्धनिवर्त्तकतया  
युद्धशेषत्वेनैवोच्चारितं । एवमानुशासनिकेऽपि कालादिशेषत्वेन धर्मत्वेन चोच्चा-  
रितन्तेनानिर्वृतिरित्यर्थः ॥ अभिप्रायाज्ञान इति ॥ ॥ अनिर्वृतिहेतुभूते तस्मि-  
न्नित्यर्थः ॥ भागवतार्थ इति ॥ ॥ भगवत्प्रोक्तवाक्यार्थः ॥ ६० ॥ अग्रे इति ॥  
सूत्रेषु श्रीभागवते चेत्यर्थः ॥ तदर्थमिति ॥ ॥ तत्त्वकथनार्थन्तथा चांशावतार-

१ अहं युगानां च कृत्वं धीराणां देवलोऽसितः ॥ द्वैपायनोऽस्मि व्यासानां कर्त्वीनां कव्य आत्म-  
वाच् ॥ १ ॥ इत्येकादशीयवाक्यात् ॥

कत्वाद्दृश्यतीत्यर्थः ॥ प्रयोजनमिति ॥ ॥ तत्त्वकथनप्रयोजनम् । पदप्राप्त्या  
इत्यत्र हेतुर्नामलीलया क्रीडाङ्कुरमिति ॥ ॥ इत्याशङ्क्याहेति ॥ ॥ एवञ्जी-  
वशक्यत्वन्तत्त्वकथनस्याशङ्क्य तदशक्यत्वमाहेत्यर्थः ॥ ६१ ॥

व्रजभाषाटीका ।

शंका-सर्वतत्त्व गीताजीमें वर्णनकियोहोतो तो भारत बनायें-  
पीछे व्यासजीको आत्मा क्यों नहिं प्रसन्नभयो, भागवत बनाये  
पीछेही क्यों भयो क्योंकि भारतमें तो गीताभी आगई है॥ उत्तर-  
व्यासजीनें भारतमें गीताजीको वर्णनकियो है सो सुवाकेंतुल्य अ-  
भिप्राय जानेंविना भगवान्के वाक्यनको वैसोको वैसो पुण्यपाठ  
करदियो हतो, क्योंकि सत्वगुणके व्यवधानकरके व्यासजीको अव-  
तार भयो तासों गीतावाक्य विद्यमान हते तथापि भगवान्के भजन  
विना उनकूं अर्थको यथार्थज्ञान नहिं भयो तहां ऐसे व्यासजी जि-  
नकूं गीतार्थज्ञान नहिं है भागवतरूप तत्वको कैसें वर्णनकरेंगे यह  
शंका नहिं करनी, क्योंकि भगवान्की भक्तिसों सत्वको व्यवधान  
दूरभयो तब भागवत वर्णन कियो है ॥ ६० ॥ और द्वापरयुगमें  
जीवही व्यास होजावें हैं या द्वापरयुगमें तो स्वयं पूर्णरूप कृष्ण-  
चंद्र प्रकटहोयके रूपलीलाकरके क्रीडा करतेभये रूपलीलाके तिरो-  
भाव करेंपीछे नामलीला शब्दात्मक भागवतको स्वरूप धारण-  
करके क्रीडाकरवेकेलिये पहिलीसोंही अपने अंशकरके व्यासजी-  
कूं प्रकटकिये ॥ वेद पुराण विद्यमानही हैं जीवभी धर्मनिर्णय  
करसक्तेहते ये शंका नहिं करनी जाविषयमें व्यासजीकूं अज्ञान है  
तहां जीवनकी कहा चलाई, यह बात व्यासजीनें भागवतमें कही  
है कि मैंनें भारतके मिषसों वेदको अर्थ दिखायो, जाभारतमें  
स्त्रीशूद्रादिकनकोभी वर्णनलिख्यो है ऐसो भारतभी मैंने बनायो  
परन्तु मेरो आत्मा संतुष्ट नहिं भयो तापीछे भगवद्भजनद्वारा - जब



भगवान् प्रसन्नभये तब भगवदिच्छासौ व्यवधानकरवेवालो सत्व-  
गुण दूर भयो तब श्रीभागवत प्रकटकियो सो भागवत भगवान्-  
को स्वरूप जतायवेकेलिये तथा भगवत्पदकी प्राप्ति करवेकेलिये  
प्रकटभयो है ॥ ६१ ॥

सत्वस्य व्यवधानत्वादात्माज्ञानात्तु योगतः॥  
व्यासकार्यं समस्तञ्च कृतवानधिकन्तथा ॥अ-  
निर्वृतिस्ततो जाता तेन भागवतं कृतम् ॥६२॥  
सर्वगोप्यो हि धर्मस्तु वेदे मुख्यतयोदितः ॥  
ब्रह्ममात्रप्रकाशस्तु कृपया सनकादिगः ॥६३॥

तत्त्वदीपप्रकाशः ।

नन्वस्यार्थस्य बुद्धिपरिकल्पितत्वे काव्यवदसत्यता स्यात् ॥ वेद-  
पुराणयोर्विद्यमानत्वे जीवैरपि कर्तुं शक्यत इति किं व्यासावतारेण-  
त्याशंक्याह ॥ सत्वस्येति साङ्ख्यैस्त्रिभिः ॥ यत्र व्यासस्याप्यज्ञानं  
तत्र जीवानाङ्गा वार्तेति निरूपयितुमनिर्वृतिर्भारतनिर्माणं चोक्तन्ततो  
भगवदिच्छया व्यवधायके अपगते भागवतं कृतमित्यर्थः ॥ ६२ ॥  
ननूक्तम्पूर्वसिद्धोऽर्थो न वेति तत्राह ॥ सर्वगोप्यो हीति ॥ भवति वे-  
दार्थ एव परं गुप्तः भगवदिच्छया यदा पुनः सर्वोद्धारार्थं प्रयत्नं कृत-  
वान् तदा परम्पराया अभावान्नान्यैर्व्यासैर्वक्तुं शक्यत इति व्यासा-  
वतारः ॥ ६३ ॥

आवरणभंगः ।

सत्वस्येति ॥ ॥ मूले तुः पूर्वपक्षनिरासे । 'ततः सप्तदशे जातः' इति वाक्येन  
पुरुषावतारतया सत्वस्य व्यवधानेन स्वस्वरूपाज्ञानात्केवलयोगतो व्यासकार्यं वे-  
दानां व्यासं समस्तं पुराणसमसनञ्च कृतवान् । तथा तेनैव प्रकारेण स्वरूपाज्ञान-  
सहभूतेन योगेन अधिकम्भारतञ्च कृतवान् । मत्स्यपुराणादिषु पुराणसमसनमेव  
व्यासकार्यत्वेनोक्त्वाप्रे पुराणसंख्यादानफलतल्लक्षणान्युक्त्वा सत्यवतीसुतो भार-  
ताख्यानञ्चक्र इत्यनेन सत्यवतीसुतस्यैव भारतकर्तृत्वमुच्यते तेन व्यासान्तरापेक्ष-

या कार्याधिक्यमुच्यते ॥ तथा सति यत्सिद्धयति तदाहुर्विवृतौ ॥ यत्रेत्यादि ॥ व्यासस्येति ॥ ॥ उक्तस्वरूपात्मकस्येत्यर्थः ॥ उक्तमिति ॥ ॥ श्रीभागवते व्यासेनैवोक्तमित्यर्थः ॥ तेन सिद्धमाहुः ॥ तत इत्यादि ॥ ॥ अतो जीवानां सर्वथैवेदमशक्यमिति भावः ॥ एवमनिवृत्तिहेतुकथनमुखेनतस्याः सर्वतत्त्वकथने अबाधकत्वमुक्तम् ॥ ६२ ॥ उक्तार्थं दृढीकर्तुम्पुनः किञ्चिदाशंक्य परिहरन्ति ॥ नन्वित्यादि ॥ सर्वगोप्यइत्यादि ॥ ॥ अत्र सार्द्धेन श्रीभागवतस्य प्रमेयमुक्तं गीतासामानाधिकरण्यञ्च बोधितम् ॥ सर्वगोप्यत्वञ्च ॥ “सर्ववेदेतिहासानां सारं सारं समुद्धृतम्” इति वाक्यात् “धर्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र” इति वाक्याच्च ज्ञायते । वेदे मुख्यतया कथितत्वञ्च “भगवान् ब्रह्म कात्स्न्येन” इति “धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसाम्” इत्यादिवाक्यैः “तमु स्तोतारः पूर्वम्” इत्यादिश्रुतिभिश्च ज्ञायते ॥ ब्रह्ममात्रप्रकाशत्वञ्च द्वितीयस्कन्धीयपुरुषात्काध्यायात् । कृपया सनकादिगत्वञ्च हंसगीतायां ज्ञेयम् ॥ नन्वेवमन्त्राग्युच्यत इति नास्य विनिगमनेत्यत आहुः ॥ यदा पुनरित्यादि ॥ ॥ ‘यदा यदा हि धर्मस्य’ इतिवाक्यात् “यत एतद्विमुच्यते” इति वाक्याच्च सर्वोद्धारार्थमेव भगवदवतारः । तथा यदा पुनरिच्छा तदेत्यर्थः ॥ ६३ ॥

व्रजभाषाटीका ।

इन व्यासजीनें और व्यासको कार्य वहभी कियो तथा वासों अधिकभी कियो अर्थात् महाभारत सत्यवतीसुतव्यासजीनें वर्णनकियो है ऐसैं मत्स्यपुराणमें लिखो है यह भारत बनानो और व्यासनकी अपेक्षा इननें अधिक कार्य कियो ॥ ६२ ॥ शङ्का-भागवत पहलीसोंही चलोआवें है अथवा नवीनही प्रकट-कियोहै ? तथा भागवतको सिद्धान्त पहिलीसोंही सिद्ध है अथवा नवीन है ? उत्तर-वेदमें मुख्यधर्म अत्यन्तही गुप्त है ब्रह्मही जानें ऐसो है कृपाकरके हंसरूप धारणकरके सनकादिकनके अर्थभी भगवाननें वेदोक्त गुह्यधर्मको वर्णनकियो, फिर जब भगवाननें इच्छाकरके सर्वोद्धारार्थ प्रयत्नकियो तब परम्परा न रहवेके कारण-सों और व्यास गुप्तवेदार्थको वर्णन नहिंकरसके तब भगवाननेंही अंशकरके व्यासावतार धारणकियो ॥ ६३ ॥

स इदानीं तु गीतायां प्रकटो भगवत्कृतः ॥ त-  
द्व्यासत्वाद्भागवतं पूर्वं भगवतोदितम् ॥ ६४ ॥  
विश्वासार्थम्पुराणेषु पठितं भक्तिहेतुकम् ॥ प्र-  
तिपाद्येशलीलायाः पुराणार्थन्ततः पुनः ॥ ६५ ॥

तत्त्वदीपप्रकाशः ।

अभिप्रायज्ञापनार्थं गीतायां स एव प्रकटीकृतः ॥ तर्हि तावन्मात्र  
एव वक्तव्यः स्यादित्यत आह ॥ तद्व्यासत्वादिति ॥ यथा भागवतं गी-  
ताविस्तारस्तथा नामलीलारूपभगवद्विस्तारो व्यासः परम्परान्तरम-  
प्याह ॥ पूर्वं भगवतोदितमिति ॥ ६४ ॥ तर्हि पञ्चरात्रवत्स्वतन्त्रता  
भवत्वित्याशङ्क्याह ॥ विश्वासार्थमिति ॥ आगमापेक्षयापि लोकाना  
पुराणे विश्वासः ॥ हेत्वन्तरमाह ॥ भक्तिहेतुकमिति ॥ तद्ध्युपासना-  
विधायकम् ॥ अन्यमपि हेतुमाह ॥ प्रतिपाद्येति ॥ ईशलीला सर्गा-  
दिरूपा ॥ अन्यथा श्रोतुस्तद्भावापत्त्यभावे तत्तत्कर्मक्षयाभावान्न मोक्षः  
स्यात् ॥ अतो दश लीलाः पुराणलक्षणरूपा इति पुराणेषु प्रवेशः ॥ ६५ ॥

आवरणभङ्गः ।

अभिप्रायज्ञानार्थमित्यादि ॥ ॥ स्वस्य भगवदभिप्रायज्ञानावृत्तमस्तीति  
स्वाभिप्रायज्ञापनाय प्रकटीकृत इत्यर्थः ॥ तर्हीति ॥ ॥ यदि व्यवधायकेऽपग-  
ते गीतार्थ एव श्रीभागवते उक्तस्तर्हीत्यर्थः ॥ तद्व्यासत्वादिति ॥ ॥ तद्वीतापेक्षया  
आधिक्येन कथनं व्यासत्वात्स्वस्य नामलीलात्मकभगवद्विस्ताररूपत्वात् । एत-  
देव विवृण्वन्ति ॥ यथेत्यादि ॥ तथाच व्यासत्वाद्यथा वेदस्य व्यासः कृतस्तथा गीता-  
या अपीत्यतस्तावन्मात्रोक्तमित्यर्थः ॥ परम्परान्तरमप्याहेति ॥ ॥ आश्वमेधि-  
के गीतार्थो यथा प्रकारान्तरेणानूदितस्तथैवात्र कुतो नोक्तमित्याकांक्षायामेतदा-  
हेत्यर्थः ॥ तथा च यथा चतुःश्लोक्यां यद्भगवतोक्तन्तदेव ब्रह्मणा नारदाय त्रिभि-  
रध्यायैरुक्तन्तत्रैव त्वमेतद्विपुलीकुर्वित्याज्ञप्तञ्च विपुलीकरणञ्चैकस्यैवार्थस्य तत्त-  
दधिकारिणां हृदि प्रवेशाय नानाप्रकारेण कथनम् । यथाच नृसिंहोत्तरतापनीय अं-  
कारव्याख्यानस्य । अतो नारदवदेव व्यासेनापि विपुलीकरणात्परम्परान्तरेपीद-



है तासों पुराणनमेंही श्रीभागवतकी गणनाहै, दूसरो कारण येभी है नारदपंचरात्र उपासनाविधायक है श्रीभागवत भक्तिविधायक है । पुराणनमें गणनाको तृतीय हेतु यह है कि श्रीभागवतमें सर्गविसर्गादि दशप्रकारकी लीलाको प्रतिपादन है यदि दशप्रकारकी सर्गादिलीलाको वर्णन नहीं होय तो सुनवेवालेको कर्मक्षय नहीं होय कर्मनाशविना मोक्षभी नहींहोय तासों दशविधा लीला पुराणको लक्षण है सो श्रीभागवतमें मिलेहै तासों याको पुराणमें प्रवेशहै ॥ ६५ ॥

सर्वमुक्तिनिवृत्त्यर्थं वेदत्वन्तस्य नोक्तवान् ॥ वे-  
दकर्तृवचस्त्वाद्वि सतां सर्वम्भविष्यति ॥ ६६ ॥  
स्वस्यान्यस्य च निर्वाहं वेदः कर्तुं हि क्षमः ।  
अत्यन्तमलिना लोकास्ततो भागवतं कृतम् ॥  
एतदभ्यसनालोको मुच्यतेऽनुपजीवनात् ॥ ६७ ॥

तत्त्वदीपप्रकाशः ।

ननु पूर्वसिद्धं वेदत्वमेव कुतो नोक्तवांस्तत्राह ॥ सर्वमुक्तिनिवृ-  
त्त्यर्थमिति ॥ व्यासस्यैतावान्सङ्कोचोऽग्निमावतारकार्यसिद्धयर्थं विश्वा-  
साभावांय वेदत्वाकथनं पाक्षिकप्रयोजनसिद्धयर्थं वा बुद्धावतारे वेदा-  
नान्निराकरणात् ॥ अतः पुराणार्थत्वेन वा तिष्ठत्विति युक्तमुत्पश्या-  
मः ॥ विश्वासस्तु भविष्यतीत्याह ॥ वेदेति ॥ सतां दैत्यावेशरहिताना-  
म् ॥ ६६ ॥ मर्यादाशास्त्रापेक्षया भागवतस्योत्कर्षं वक्तुमाह ॥ स्वस्ये-  
ति ॥ वेदार्थानुष्ठाने सिद्धे वेदः सफलो भवति नतु स्वार्थानुष्ठानं  
सम्पादयितुं शक्तः ॥ अतः स्वनिर्वाहे कुण्ठितः ॥ तत्र हेतुः ॥ अत्यन्त-  
मलिना इति ॥ तर्हि भागवते कथन्न दोषस्तत्राह ॥ एतदभ्यसनादि-  
ति ॥ अभ्यासमात्रेणैव तदर्थानुष्ठानाभावेऽपि लोको मुच्यते ॥ परमत्रै-

को दोषस्तदुपजीवनमिति ॥ अतस्तदभावमाह ॥ अनुपजीवनादि-  
ति ॥ वृत्त्यर्थमुपायो न कर्तव्यः ॥ ६७ ॥

आवरणभंगः ।

पूर्वसिद्धमिति ॥ ॥ वेदसारोद्धाररूपत्वात्पूर्वसिद्धम् ॥ सङ्कोचस्वरूपं सप्रयो-  
जनमाहुः ॥ अग्रिमेत्यादि ॥ अभिप्रायान्तरमाहुः ॥ पाक्षिकेत्यादि ॥ ॥ तच्च  
प्रयोजनम्पुराणोक्तरीत्या सर्वमुक्तिः । तथा सन्ति मूलस्थं सर्वमुक्तिनिवृत्त्यर्थपदं वे-  
दत्वमित्यस्य विशेषणम् । सर्वमुक्तिनिवृत्तिरर्थः प्रयोजनं यस्य तादृशं वेदत्व-  
मिति । एतदेव स्पष्टयन्ति ॥ बुद्धेत्यादिना ॥ ॥ दैत्यावेशरहितानामिति ॥ यथा  
बुद्धावतारेण कृतेऽपि वेदनिन्दने सर्वेषां बाह्यत्वमपि तु दैत्यादीनामेव तथात्रापीति  
भावः ॥ ६६ ॥ आहिति ॥ ॥ श्रीभागवतकरणमित्याहेत्यर्थः ॥ अभ्यासमात्रेणेत्या-  
दि ॥ ॥ “किं वा पैररीश्वरः सद्यो हृदयवृद्धयतेऽत्र कृतिभिः शुश्रूषुभिस्तक्षणात्”  
इत्यादिवाक्यात् ॥ “अस्यां वै श्रूयमाणायां कृष्णे परमपूरुषे । भक्तिरुत्पद्यते  
पुंसः शोकमोहभयापहा” इति वाक्यात् तस्माद्भारत सर्वात्म्येत्यत्र श्रवणादिसाध-  
नत्रयविधानमुखेनावृत्तिबोधनाच्च तथेत्यर्थः ॥ एतेन साधनम्फलश्रोक्तम् ॥  
तर्हि सर्वमुक्तिरेव स्यादिति तद्धारणाय कालादिकृतम्प्रतिबन्धकमुद्धाटयन्ति ॥  
परमत्रापीत्यादि ॥ ६७ ॥

व्रजभाषाटीका ।

वेदको साररूप श्रीभागवत है तासों वेदरूपही है परंतु व्यास-  
जी याविषयमें संकोच करगयेहैं, आसुरजीवनको विश्वास  
नहीं करायवेकेलिये वेदत्व भागवतकूँ नहिं कह्यो क्योंकि आसुर-  
नकूँ सन्मार्गसों निवृत्तकरनों बुद्धावतारको काम है सो व्यासजीनें  
पहिलीसोंही कियोहै। दूसरो प्रयोजन यह है जो भागवतकूँ वेदरू-  
प मानते तो बुद्धभगवानेन वेदनको खंडन कियो तामें श्रीभाग-  
वतकोभी खंडन होयजातो तथा श्रीभागवतकी वेदमें गणना  
होती तो वेदसों जैसे सबकी मुक्ति नहिं होवेहै ब्राह्मण क्षत्रिय वै-





तत्त्वदीपप्रकाशः ।

योर्वैलक्षण्ये युक्तिमाह ॥ कालादीति ॥ कालादयः षट् शुद्धाः  
धयन्ति ते कलौ कथमपि न शुद्धा भवन्ति ॥ वेदाद्यर्थाश्च का-  
धनापेक्षाः ॥ ६८ ॥ भागवतार्थस्तु न तानपेक्षते नित्यत्वात्सर्वाधि-  
त्सुलभत्वाच्चेत्याह ॥ कालादिसाधनापेक्षारहित इति ॥ ६९ ॥

आवरणभंगः ।

गोरित्यादि ॥ ॥ वेदार्थापेक्षया श्रीभागवतार्थस्य बलवत्त्वबोधयितुमु-  
क्तश्रीभागवतोक्तसाधनयोर्वैलक्षण्ये युक्तिमाहेत्यर्थः ॥ ६८ ॥ नित्यत्वा-  
त् ॥ ॥ नित्यत्वन्तु “ तस्मात्सर्वात्मना राजन्हरिः सर्वत्र सर्व-  
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यो भगवान्नृणाम् ” इत्यादि शुकवाक्येन  
सर्वकाले च कर्तव्यत्वेनोक्तत्वाज्ज्ञेयम् ॥ सर्वाधिकारत्वञ्च ‘ देवो-  
नुष्यो वा ’ इति सप्तमस्कन्धाज्ज्ञेयम् ॥ सुलभत्वञ्च ‘ त्वन्तु सर्वम्परित्यज्य’  
मान्मद्भक्तियुक्तस्य’ इत्यादिवाक्येभ्यो ज्ञेयम् ॥ एतेन ब्राह्मपाद्मवैष्णवादि-  
जगत्कर्तृत्वादिलक्षणकब्रह्मत्वेन भगवतः प्रतिपादनेऽपि स्वातन्त्र्येण  
प्रतिपादने शतकोटिविस्तीर्णपुराणसात्विकभागसमसनरूपत्वमेव तस्य  
निर्भवपूर्वकत्वं समाध्यभावादतएव वैष्णवादीनामेतच्छेषत्वम् । अतएव चै-  
म्यम्पुराणान्तरे दृश्यते गीतामाहात्म्यवत् । नत्वन्येषां नाप्यस्मिन्नन्ये-  
मतएव चैतस्य परिपक्ववेदफलरूपत्वं निगमकल्पतरोरिति वाक्यात् । न-  
तथावाक्याभावादित्यपि श्रैष्ठ्यं सूचितं ज्ञेयम् । एवं श्रीभागवतस्य स-  
उत्कृष्टत्वम्प्रमाणप्रमेयसाधनफलैरुपपादितम् । तेन वेदादिसन्देहवारक-  
तम् ॥ ६९ ॥

ब्रजभाषाटीका ।

भागवतमें परस्पर विलक्षणता दिखावें हैं, काल देश द्रव्य  
न्त्र कर्म ये छः पदार्थ शुद्ध होंय तब फल सिद्ध करें हैं  
द स्मृति पुराणार्थ इन छः पदार्थनके आधीन हैं । कलियुगमें  
दार्थ कोई रीतिसोंभी शुद्ध नहीं होयसकें, कलियुग जैसा  
गे-हेतु काल है देश है वे म्लेच्छनकरके आक्रांत द्रव्य जे  
कके सोमलता आदि पदार्थ हैं वेभी नहीं मिलें हैं । जे

मिले हैं वेभी शुद्ध नहीं मिले हैं । कर्ता आचारहीन मलिन हैं, मंत्रभी बहुतकरके स्वरार्थकरके हीन हैं, कर्मकरवेकीभी रीति परम्पराप्राप्त नहीं है तासों वेदार्थानुष्ठान अभी दुर्लभ है ॥ ६८ ॥ भागवतार्थ तो इनकी अपेक्षा नहीं करें है क्योंकि “हरिः सर्वत्र सर्वदा श्रोतव्यः” इत्यादिवाक्यनसों भागवतको तो सब कालमें सबदेशमें सुननों कीर्तनकरनो लिखे हैं तासों नित्यहै । तथा दैव आसुर मनुष्य कोई होय सबही याके अधिकारी हैं और सुलभ है सो १०० कोड पुराणमें ३३ कोड राजसभाग है ३३ कोड तामसभाग है ३३ कोड सात्विकभाग है तिनमें जो ३३ तेतीसकोडके अंदाज सात्विकभाग है वाको संक्षेपकरके भागवतमेंही निरूपण है स्वतंत्रतासों भगवान्‌के यशको याहीमें वर्णन है और सात्विक पुराण याके अंग हैं याहीसों भागवतको माहात्म्य और पुराणमें है भागवतमें और पुराणको माहात्म्य नहीं है ॥ वेदको पक्यो भयो रसमय फल श्रीभागवत है ॥ वेदादिकनके सन्देह दूरकरवेवारो है ॥ ६९ ॥

फलतः सुगमश्चैव सर्वथा फलसाधकः ॥ योगसांख्ये तु ये मुख्ये तयोः सत्वे प्रयोजनम् ॥ ज्ञानदुर्बलवादानान्न मनोरथवार्तया ॥ सिद्धिं यान्ति नरा दुष्टाव्यामोहस्तु ततः फलम् ॥ ७० ॥ ग्रन्थान् पुराणवाक्यानि वेदरूपेण वै क्वचित् ॥ कृत्वा वृथा वेषधराः कृष्णन्नोपासते परे ॥ ७१ ॥ इति पुराणप्रकरणम् ॥

तत्त्वदीपप्रकाशः ।

नञ्चन्योऽपि मार्गो योगः सांख्यश्च कालाद्यपेक्षारहितः । योगेनैव

सर्वानर्थनिवृत्तिज्ञानेन चेत्याशङ्क्यैतद्वयन्दूषयन्ति॥योगसांख्ये इति॥  
किं मुख्ये योगसांख्ये तथाभूते आहोस्विद्यादृशे तादृशे ॥ तत्राद्ये ना-  
स्मिन्युगे भवतस्तत्साधनानाङ्गालाद्यपेक्षणात् ॥ साधनरहितयोस्त्वप्रयो-  
जकत्वं सत्वे सत्यरूपत्वे ससाधने उत्कृष्टरूपे योगसांख्ये सफले इत्यर्थः॥  
अन्ये पुनर्ज्ञानदुर्बलवादसिद्धे॥अतस्तेषाम्पनोरथकल्पितत्वान्न ताभ्या-  
म्फलङ्घिन्तु व्यामोह एव ताभ्याञ्जन्यते ॥ ७० ॥ कथमेवमवगम्यत  
इत्याकांक्षायामाह ॥ ग्रन्थानिति ॥ स्थूलान्मिथ्यार्थप्रतिपादकान्  
यथा बुद्धिस्तत्रैव लप्ता भवति पुराणवाक्यानि च कल्पयन्ति कचि-  
द्वेदरूपेणापि ॥ यथा परमहंसोपनिषत् ॥ एवं कृते यज्जातन्तदाह  
॥ वृथा वेषधरा इति ॥ मुण्डादिपारलौकिकवेषान्धृत्वा मोहः सिद्ध  
इति स्वयमपि कृष्णं नोपासते तथा सति भजनम्प्रवर्तेतेति ॥ एवम्भा-  
गवतेनैव सर्वनिस्तार इति पुराणप्रकरणे निरूपितम् ॥ ७१ ॥

आवरणभंगः ।

अतः परं गीतायां श्रीभागवते च योगसांख्ययोरप्युक्तत्वात्तयोरेतत्साम्यमा-  
शंक्य परिहरन्ति ॥ नन्वित्यादि ॥ ॥ मुख्ययोगसांख्ये इति । पौराणिके पतञ्ज-  
लिप्रणीते चेत्यर्थः ॥ मूले प्रयोजनमिति ॥ ॥ सिद्धयतीति शेषः । एतदेव वि-  
वृण्वन्ति ॥ ससाधनेत्यादि ॥ ॥ अन्य इति ॥ ॥ पतञ्जलिकपिलप्रणीतेषु वा-  
माद्यागमेषूच्यमाने चेत्यर्थः ॥ ७० ॥ कल्पयन्तीति ॥ ॥ यथा आत्मपुराणङ्के-  
नचिन्मायावादिना कल्पितन्तथेत्यर्थः ॥ परमहंसोपनिषदिति ॥ ॥ उपलक्ष-  
णमेतत् ॥ वैतथ्याद्वैतालातशांत्याख्यम्प्रकरणत्रयं मांडूक्यस्थाः श्लोकाश्च गौड-  
पादीयान्येतानीदानींतनैरुपनिषत्सु पठ्यन्ते । एवमन्यान्यपि सर्वोपनिषदादीनि  
प्राचीनमायावादिग्रन्थेष्वपि तत्सम्मत्यदर्शनादाकरालाभाच्च ज्ञेयानि । तथास-  
तीति ॥ ॥ उपासने कृते सतीत्यर्थः ॥ यद्यपि तत्र भजनन्तथापि द्वारन्तद्भ-  
वतीति तदपि निरुन्धन्तीति भावः ॥ प्रस्तुतप्रासङ्गिकसर्वनिरूपणेन सिद्धमाहुः ।  
एवम्भागवतेत्यादि ॥ ॥ निरूपितमिति ॥ ॥ बलवत्वाय निरूपितम् ॥ ७१ ॥

इति पुराणप्रकरणम् ॥

ब्रजभाषाटीका ।

शङ्का-योगसांख्यभी गीता तथा भागवतमें लिखेहैं तथा कालदेशादिकनकीभी अपेक्षा इनकूँ नहिं है तथा ज्ञानभी सर्व-कर्मनकूँ भस्म करवेवारो है तासों इन तीन साधनकरकेभी अनर्थ निवृत्ति होजायगी ॥ उत्तर-पौराणिक तथा पातञ्जलिप्रणीत जे योगसांख्य हैं वेही अनर्थकी निवृत्ति करवेवाले हैं अथवा जहां तहां लिखे सबप्रकारकेही सांख्य योग अनर्थकी निवृत्ति करवेवारो हैं यह विचार करना योग्यहै- तहां पौराणिक पातंजल सांख्य योग तो कालदेशादिसाधनकी अपेक्षावाले हैं तासों यायुगमें नहिं सिद्धहोयसकें । जे देशकालादिसाधनरहित योग सांख्य हैं वे प्रयोजन सिद्धकरवेवारो नहिं हैं किन्तु साधनसहितही योगसांख्य उत्तम हैं तथा वाममार्गीनके शास्त्रनमें कहे योगसांख्य तो ज्ञानदुर्बल हैं तासों सिद्ध नहिं हैं अर्थात् असंगत हैं मनकी कल्पनाके बनेभये हैं तासों उनकरके फल सिद्ध नहिं होवे है किन्तु केवल मोहके करवेवारो हैं ॥ ७० ॥ ये बात कैसे जानी जावें है तहां आज्ञा करें हैं ॥ ग्रन्थानिति ॥ वृथा मुंडादि पारलौकिक वेषकूँ धारण करकें मिथ्या अर्थके कहवेवारो बडे बडे ग्रन्थनकूँ बनायदेहैं जिसमें मनुष्यकी बुद्धि शीघ्र लगजाय ऐसैही कितनेक पुराणनके वाक्यभी मन-सोंही बनालिये हैं । जैसे आत्मपुराण कोई मायावादीने बनाय-लियो है वेदमेंभी कितनेक उपनिषत् बनायलिये हैं जैसे हंसोप-निषद् मांडूक्यके गौडपादके बनायेभये श्लोक उपनिषदनमें पढादिये हैं । जैसे सर्वोपनिषद् प्राचीनमायावादके ग्रन्थमेंभी जाकी संमति नहीं दीखपडे है इत्यादि अनेक शास्त्र बनायकें बनायवे-वारो स्वयंभी कृष्णकी उपासना नहिंकरें हैं वे कर्ते होय तो उनकूँ देखकें औरभी भजनमें प्रवृत्त होय तासों भागवतसोंही सब

र होयसकेहै येही बात पुराणप्रकरणमें निरूपण करीहै ॥७१॥

इति पुराणप्रकरणं संपूर्णम् ॥

इज्जानि यथा वेदे वेदरक्षाफल्गानि हि ॥ स्व-  
ततोऽर्थतश्चैव ह्यनुष्ठानात्रिधा हि तत् ॥७२॥  
शिक्षा छन्दः स्वरूपे तु निरुक्तं व्याकृतिस्त-  
॥ अर्थे ज्योतिस्तथा कल्पो ह्यनुष्ठाने प्र-  
जकः ॥ विशेषतो हीदमुक्तं सर्वं सर्वत्र चैव-  
॥ ७३ ॥

तत्त्वदीपप्रकाशः ।

श्रुतिस्मृतिपुराणानि निरूप्य षडङ्गानि निरूपयन्ति ॥ षडङ्गा-  
॥ “शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तञ्छन्दो ज्योतिषम्” इति ॥  
सामान्यफलं वेदरक्षा सा च त्रिविधा ॥ वैदिकशब्दा विसदृशा  
मद्रङ्गर्णेभिः” इत्यादौ पण्डितैरन्यथाकरणं सम्भवति तन्निराकृत्य  
तो रक्षणीयाः ॥ अर्थतोऽपि रक्षणीयाः ॥ अन्यथा यागमेव न जा-  
॥ अतएव साम्प्रतन्दानमेव यागं मन्यन्ते ॥ अनुष्ठानादपि रक्षा ॥  
॥ अन्यथानुष्ठानं स्यात्कल्पाद्यभावे ॥ ७२ ॥ तत्र द्वयोर्द्वयोरुप-  
ह ॥ शिक्षेति ॥ स्वरादिविधौ शब्देऽपि व्याकरणोपयोग इति  
परमाशङ्क्याह ॥ विशेषत इति ॥ ७३ ॥

आवरणशङ्काः ।

ज्ञानीति ॥ ॥ तथाच वेदाङ्गत्वेन रूपेणैषाम्प्रामाण्यमित्यर्थः । फ-  
॥ एतेषामित्यादि ॥ ॥ त्रिविधेति ॥ ॥ स्वरूपरक्षार्थं रक्षानुष्ठा-  
त्यर्थः । तद्विशदीकुर्वन्ति ॥ वैदि केत्यादि ॥ अतएवेति ॥ ॥ याग-  
ज्ञानादेवेत्यर्थः ॥ सामान्यफलमुक्त्वा विशेषफलं वक्तुं यत्र यस्य योग-  
ते ॥ ७२ ॥ तत्रेत्यादि ॥ ॥ शिक्षा छन्द इति । तत्र शिक्षा “ अ-  
म्प्रवक्ष्यामि ” इत्यादि ॥ पञ्चस्य गडात्मिका पाणिनिप्रकाशिता सर्ववेद-



साधारणा । तस्याः प्रयोगजनं चोदात्तानुदात्तस्वरितह्रस्वदीर्घप्लुतविशिष्टस्वरव्यञ्जनात्मकवर्णविशेषज्ञानं उच्चारणप्रकारविशेषज्ञानं चेति स्वरूप उपयोगः ॥ तदभावे मन्त्राणामनर्थजनवत्त्वं स्यात् । “मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा” इतिवाक्यात् । छन्दस्तु “मयिरसतजभनलगसम्मितम्” इत्याद्यष्टाध्यायात्मकम्पिङ्गलेन प्रकाशितम् ॥ तत्र अथालौकिकमित्यादिनाऽध्यायत्रयेण गायत्र्युष्णिगनुष्टुप् जगतीति सप्तछन्दांसि सावान्तरभेदानि निरूपितानि । अथ लौकिकमित्याद्यध्यायपञ्चके तु पुराणेतिहासादिषूपयुक्तानि काव्यानुपयुक्तानि च प्रसंगतो निरूपितानि ॥ व्याकरणे लौकिकपदवच्छदांसि च मन्त्रेषूपयुक्तानि अन्यथा गायत्र्यादौ वरेणियमिति व्याख्येयं पाठो न स्यात्तदभावे च मन्त्रो वर्णतो हीयेत । अतच्छन्दसोऽपि स्वरूपोपयोगः ॥ निरुक्तव्याकरणयोज्योक्तिः कल्पयोश्च यथायथमर्थेऽनुष्ठाने चोपयोगः स्पष्ट एव ॥ किञ्चिदाशंक्य परिहरन्ति ॥ स्वरादीत्यादि ॥ ॥ विशेषत इति ॥ ॥ तथाच व्याकरणस्य यः स्वराद्युपयोगः सोऽर्थद्वारकः । यथेन्द्रशत्रुपदे स्वरभेदेन बहुव्रीहिणाऽर्थस्य वैपरीत्यमभूत्तथाभूतदिति । अतः परम्परया त्रिष्वपि षण्णामुपयोगोऽतो न दोष इत्यर्थः ॥ ७३ ॥

ब्रजभाषाटीका ।

वेदके छः अंगनको निरूपण करें हैं ॥ शिक्षा कल्पसूत्र व्याकरण निरुक्त छन्दोग्रन्थ ज्योतिष ये छः शास्त्र वेदके अङ्ग हैं । वेदकी रक्षा करना इनको सामान्य फल है ॥ वेदकी रक्षा तीन प्रकारकी है स्वरूपरक्षा अर्थात् वेदके शब्द लोकके शब्दसों विलक्षण हैं स्वरवर्णनकूँ जैसेके तैसें बनें राखने जो या प्रकारकी रक्षा नहीं कीनीजाय तो पांडितलोगभी “भद्रं कर्णेभिः” याठिकाने “भद्रं कर्णेः” ऐसो पाठ करदेंगे तासों अन्यथा पाठ न होय यालिये वेदकी स्वरूपसों रक्षा करी ॥ ऐसही वेदके अर्थकीभी रक्षा करनी अर्थकी रक्षा न होयगी तो यज्ञपदार्थकूँभी लोग नहीं जानेंगे जैसे अभी यज्ञकूँना हैं जानें हैं वे लोग यजधातुको दान अर्थमात्र ग्रहण करके दान कूँही यज्ञ मानें हैं ऐसही वेदके अनुष्ठानकीभी रक्षा करनी योग्य है अन्यथा कल्पसूत्रकरके कर्म-

की रक्षा न करी जायगी तो यज्ञादिकनको अनुष्ठान नहीं होय-  
सकेंगे तासों दो दो अंगनको एक एकके रक्षामें उपयोग है॥७२॥  
शिक्षा छन्दोग्रंथ वेदके स्वरूपकी रक्षा करवेवारे हैं अर्थात् स्वर  
अक्षरनकूँ यथार्थ राखवेवारे हैं । व्याकरण निरुक्त दोनों शास्त्र  
वेदके अर्थकी रक्षा करवेवारे हैं । ज्योतिष कल्पसूत्र वेदके अनुष्ठान-  
की रक्षा करवेवारे हैं ॥ ७३ ॥

ये धातुशब्दा यत्रार्थ उपदेशे प्रकीर्तिताः ॥  
तथैवार्थो वेदराशेः कर्तव्यो नान्यथा कचि-  
त् ॥ ७४ ॥ साक्षाद्धर्मप्रतीतिस्तु कल्पः स्मृति-  
षु चिन्तितः ॥ दर्शादिकालनिर्धारो ज्योतिः-  
शास्त्रफलं स्मृतम् ॥ ७५ ॥

तत्त्वदीपप्रकाशः ।

कथं व्याकरणस्यार्थोपयोग इत्याशंक्याह ॥ ये धातुशब्दा इति ॥  
धातुपारायणे नामपारायणे च यत्रार्थे “यज—देवपूजासङ्गतिकरणदाने-  
षु” गौः रमा उमा क्षमेत्यादिप्रकरणेन पृथिव्या इति प्रकीर्तितास्तथैव वे-  
दार्थो निर्णेतव्यः ॥ यथा कैश्चिदुक्तं “विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः” उत्स-  
शब्देन कूपवाचकेन उत्सुको व्याख्यातः ॥ तथा व्याख्याने स्वार्था-  
त्प्रच्यवेतातस्तन्निषेधार्थमाह ॥ कर्तव्यो नान्यथा कचिदिति ॥ ७४ ॥  
ननु कल्पसूत्रे साङ्कर्यमङ्गत्वं स्मृतित्वञ्चेत्याशंक्याह ॥ साक्षादिति ॥  
तत्र धर्मः प्रतीयत इति वेदत्वं स्मृतित्वञ्चोक्तं वस्तुतस्त्वङ्गत्वमेव ॥ ज्यो-  
तिष उपयोगमाह ॥ दर्शादीति ॥ ७५ ॥

आवरणभंगः ।

॥ कथमित्यादि ॥ ॥ व्याकरणस्य पदसाधुताज्ञापनरूपमेव प्रयोजनं  
स्फुटम्प्रतीयते इति कथमित्यर्थः ॥ ॥ नामपारायणे इति ॥ ॥ निघण्टुरूपे

तत्त्वदीपप्रकाशः ।

निरुक्तस्य विवरणरूपस्य कथमङ्गत्वमित्याशङ्क्याह ॥ पदनिर्वचनादिति ॥ निघण्टौ यद्यपि कोशवच्छब्दा उक्तास्तथापि निर्वचनाभावान्नाङ्गत्वम् ॥ विवृतित्वेऽपि निर्वचनादेव निरुक्तस्याङ्गत्वं व्याकरणापेक्षया तस्याल्पो विषयः ॥ ७६ ॥ यद्यपि बहूनि व्याकरणानि सन्ति तथापि पाणिनीयमेवाङ्गम् ॥ प्रातिशाख्यन्तु प्रातिशाखं भिन्नमिति न साधारणमङ्गं यद्यपि कल्पेप्यपन्दोषः सम्भवति तथापि कल्पत्वेनाङ्गता ॥ प्रातिशाख्ये तु कापि नार्थज्ञानम्भवति ॥ अतः शब्दोपयोगित्वात्पाणिनीयान्तर्भावेनैवाङ्गता ॥ ७७ ॥

आवरणभङ्गः ।

इत्याहेति ॥ इति हेतोरङ्गत्वप्रयोजकान्निरुक्तस्वरूपमाहेत्यर्थः । निरुक्तश्च वास्ककृतं “समाधायः समाधायः” इत्यादित्रयोदशाध्यायात्मकम् । तत्र च नामाख्यातनिषातोपसर्गरूपश्चतुर्विधम्पदजातान्निरूप्य मंत्राणामर्थो दर्शितः । अन्यथा “सृण्येव जर्भरी तुर्भरी पर्फरी” इत्यादिदुरूहपदानामर्थो न ज्ञायेतेति तदावश्यकत्वान्निघण्टुस्तु निरुक्तशेषत्वेनोपयुक्त इत्याशयेनाहुः ॥ निघण्टावित्यादि ॥ ७६ ॥ व्याकरणानामनेकत्वात्किञ्चिदाहुः ॥ ॥ यद्यपिबहूनीति ॥ ब्राह्मरौद्रचान्द्रादीनि कौमारकालापसारस्वतादीनि च ॥ ॥ तथापीति ॥ ब्रह्मादीनां च लोकमात्रोपयोगित्वादित्यर्थः ॥ ७७ ॥

प्रजभाषाटीका ।

तहाँ निरुक्तमें मन्त्रकी व्याख्या लिखीहै वाकूँ अङ्गणो कैसे सम्भवसकें यह शङ्का नहिंकरनी निघण्टुमें कोशके समान शब्द कहेहैं परन्तु उनकी व्युत्पत्ति नहिं करी तासों निघण्टु वेदको अंग-नहिंहै निरुक्तकोही अंगहै ॥ निरुक्तमें तो शब्दनको निर्वचन ( व्युत्पत्ति ) कीनी है तासों वेदव्याख्यारूपत्व है तथापि अंगत्व है निरुक्त नहिंहोय तो “ सृण्येव जर्भरी तुर्भरी पर्फरी ” इत्यादि-पदनके अर्थ नहिंजानेंजावें तथापि व्याकरणकी अपेक्षा निरुक्तको संचार वेदमें अल्पहै ॥ ७६ ॥ ऐसेही व्याकरण बहुत हैं-ति-

नमें पाणिनीयव्याकरणही वेदको अंग है प्रातिशाख्य वेदभाष्य तो शाखा २ प्रति न्यारो २ है तासों साधारणरीतिसों सर्ववेदको अङ्ग नहीं है शब्दको उपयोगी है तासों व्याकरणमें याको अन्तर्भाव है॥ लक्षणग्रंथनको प्रातिशाख्यमें अन्तर्भाव है प्रातिशाख्यको व्याकरणमें अन्तर्भाव है ॥ ७७ ॥

अनिङ्ग्यादिप्रातिशाख्ये विशेष्याकरणे तु  
तत् ॥ छन्दसः पाठहेतुत्वं शब्दज्ञानोपयो-  
गतः ॥ ७८ ॥ आरोग्ये धर्मसिद्धिः स्यात्  
रक्षा च धनुषो भवेत् ॥ उद्वेगहानिर्गान्धर्वे  
स्थापत्यं च स्त्रुगादिषु ॥ ७९ ॥

तत्त्वदीपप्रकाशः ।

तथा लक्षणानान्तेषान्मङ्गे प्रवेशप्रकारमाह ॥ अनिङ्ग्यादीति ॥  
सर्वाणि लक्षणानि प्रातिशाख्ये प्रविशन्ति ॥ प्रातिशाख्यं व्याकरणे ॥  
छन्दसोऽनुष्ठानेष्वुपयोगो दृश्यत इति कथम्पाठहेतुत्वन्तत्राह ॥  
शब्दज्ञानोपयोगत इति ॥ अनुष्ठानेऽपि शब्दधर्मत्वेनैव तज्ज्ञानमुपयु-  
ज्यते नान्यथेत्यर्थः ॥ ७८ ॥ उपवेदानाम्प्रयोजनमाह ॥ आरोग्य इति ॥  
ऋग्वेदस्यायुर्वेद उपवेदः । तस्यारोग्यफलन्तेन धर्मः सिद्ध्यतीत्यारो-  
ग्य द्वारा धर्मोपयोगः । एवं रक्षाद्वारा वनुर्वेदस्य । उद्वेगहानिद्वारा गा-  
न्धर्वस्य ॥ स्थापत्यस्य तु स्त्रुगादिषूपयोगः ॥ एवमष्टादशविद्यानान्ध-  
र्मोपयोग उक्तः ॥ अर्थशास्त्रस्यार्थद्वारैव तदुपयोगः ॥ तच्च न्याये प्रविशति ॥  
तथा वात्स्यायनादीनाङ्गामोपयोगः स च दृष्टान्तो मोक्षसुखे ॥  
अतो नाष्टादशविद्यासु निरूपितः ॥ तच्छेषत्वमेव काव्यालङ्कारना-  
टकादीनाम् ॥ यथाग्निमथनं योगे दृष्टान्तस्तथा मोक्षे काम इति  
सर्वमनवद्यम् ॥ ७९ ॥

आवरणभंगः ।

लक्षणानामिति ॥ ग्रन्थविशेषाणाम् ॥ ॥ अनिङ्चोदीति इङ्चो मावग्रहपदम् ।  
न इङ्चमनिङ्चनिरवग्रहमित्यादीनीत्यर्थः ॥ अवग्रहश्च मात्राकालविशेषः  
संहिताविच्छेदरूपः ॥ यथा “रत्नधातमम्” इत्यादौ उपयोग इति ।  
कृतस्यापि कर्मणः छन्दो ज्ञानाभावे वैफल्यस्मारणात्साम्रां शरलेशप्रसङ्ग-  
वारणाच्च तथेत्यर्थः । शरलेशप्रसङ्गश्च नवमस्य द्वितीये विचारितः । तत्र हि साम-  
ग्र्येण गेयमिति वाक्याव्यक्तिसृष्टु ऋतु गेयन्तर्लिक विषमच्छन्दस्कासु वा  
समच्छन्दस्कासु वा यथेच्छङ्गेयमुत समास्वेवेति सन्देहे । यथेच्छङ्गेयनियामकस्या-  
भावादिति पूर्वपक्षे समास्वेवेति । सद्धान्तितम् । यदि अधिकच्छन्दस्कायामव्युत्प-  
न्ने सामान्यूनच्छन्दस्कयोरुत्तरयोर्गेयन्तदा सामभागेन कर्तुं रैवशिष्टः सामभागः  
आश्रयाभावाद्धिसितः स्यात् । यदि सामयोनेरधिकच्छन्दस्कयोगायेत्तदा सामो-  
लपत्वादवशिष्ट ऋक्भागः सामहीनः स्यादसमानास्वेवङ्गेयमिति । अतोऽत्र छन्दस्त-  
द्वारण उपयोगात्पाठोपयोगोऽनुष्ठाने शब्दधर्मत्वेनैव च स इति ॥ ७८ ॥ ॥ आयु-  
र्वेद इति ॥ ब्रह्मप्राजापत्यश्विधन्वन्तरीन्द्रभरद्वाजात्रेयामिवेश्यभोजभेदादिप्रणी-  
तं वैद्यकशास्त्रमित्यर्थः ॥ ॥ धनुर्वेदस्येति ॥ धनुर्वेदश्च महादेवप्रणीतस्ततो  
विश्वामित्रप्रणीतः पादचतुष्टयात्मकः । तत्र प्रथमो दीक्षापादः । तस्मिन्धनुर्लक्षण-  
मधिकारिलक्षलंश्च कृतम् । धनुः शब्दश्चापे रूढोपि चतुर्विधायुधेषु वर्तते । चतु-  
र्विधत्वञ्च । मुक्तममुक्तमुक्तोमुक्तं यन्त्रमुक्तञ्चेति भेदात् । मुक्तञ्चक्रादि । अमुक्त-  
ङ्गादि । मुक्तमुक्तं शल्यावान्तरभेदादि । यन्त्रमुक्तं शरादि । तत्र मुक्तं अस्त्रमि-  
त्युच्यते । अमुक्तं शस्त्रमित्युच्यते । अस्त्रञ्च ब्राह्मवैष्णवादिभेदेनानेकविधम् ।  
साधिदैवतेषु समन्त्रकेषु चतुर्विधायुधेषु येषामधिकारो हस्त्यश्वरथारूढपदाती-  
नान्ते सर्वे दीक्षाभिषेकशकुनमङ्गलकरणसहिता निरूपिताः ॥ द्वितीये संग्रह-  
पादे गुरुसम्प्रदायसिद्धानामस्त्रविशेषाणामभ्यासो निरूपितः ॥ तृतीये पादे  
सिद्धिनामके मन्त्रदेवतासिद्धिकरणं निरूपितञ्चतुर्थे प्रयोगपादे देवतार्चनाभ्या-  
सादिभिः सिद्धानामस्त्रविशेषाणाम्प्रयोगो निरूपितः ॥ सचोपवेदो रक्षोपयोगीति ॥  
तथा गान्धर्वस्येति ॥ स च भरतेन प्रणीतः । स्थापत्यञ्च विश्वकर्मप्रणीतम् ।  
अतः स्थापत्यस्योपवेदत्वं श्रीभागवतानुसारेणोक्तम् ॥ ॥ अष्टादशविद्यानामिति ॥  
“पुराणन्यायमीमांसा धर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः । वेदाः स्थानानि विद्यानान्धर्मस्य च  
चतुर्दश” इति याज्ञवल्क्योक्तानामुपवेदसाहित्येऽष्टादशत्वम् ॥ अत्र फलकय-  
नेनाङ्गोपवेदप्रमेयबलमुक्तप्रायम् । ननु गान्धर्वं चार्थशास्त्रकमिति भविष्यवाक्ये  
अर्थशास्त्रस्योपवेदत्वमुक्तन्तस्य का गतिरित्यत आहुः ॥ ॥ अर्थशास्त्रस्येत्यदि ॥

तथा च स्थापत्यं साक्षादुपयुक्तमिदं तु सद्धारकमतस्तदेव साध्विति भावः ॥  
 अर्थशास्त्रञ्च गजतुरगमण्यादिपरीक्षणशास्त्रं पालकाप्ययशालिहोभ्रागस्त्या-  
 दिज्ञेयम् । तस्य कुत्र निवेश इत्यत आहुः ॥ तच्च न्याये इति न्यायस्वरूपम-  
 ग्रे वाच्यम् ॥ अन्यान्यपि कामशास्त्रादीनि सन्तीति कथमष्टादशैव विद्या इत्यत  
 आहुः ॥ ॥ तथा वात्स्यायनादीनामिति ॥ ॥ आदिपदेन पाकादिशास्त्राणि  
 कामसूत्राङ्गविद्यारूपाणि ज्ञेयानि ॥ ॥ निरूपित इति ॥ कामशास्त्रादिरिति  
 शेषः ॥ तथाच धर्मानुपयोगादष्टादशविद्यास्तु तानि न निरूपितानीति दृष्टान्तशेष-  
 स्त्वेन कया चित्प्रनाड्या मुख्यफले आगमवदुपयोग इतिभावः ॥ ७९ ॥

ब्रजभाषाटीका ।

छन्दोग्रंथको अनुष्ठानमेंभी उपयोग है क्योंकि उपनिषद्,  
 छन्द नहिंजानों वार्के अनुष्ठानकोभी फल नहिं होय तथापि श-  
 ब्दद्वाराही अनुष्ठानमें उपयोग है तासों शब्दरक्षाही छन्दोग्रंथको  
 प्रयोजनहै ॥ ७८ ॥ उपवेदनको प्रयोजन दिखावे है; ( आरोग्य  
 इत्यादि ) ऋग्वेदको उपवेद जो ( आयुर्वेद ) वैद्यशास्त्र है वा-  
 को आरोग्य फल है । नैरोग्यसों धर्म सिद्ध होयहै तासों रोगनि-  
 वृत्तिद्वारा धर्ममें वैद्यशास्त्रको उपयोग है धर्ममें धनुर्वेदको रक्षा-  
 द्वारा उपयोग है ॥ ७९ ॥

काव्यादीनामसत्यत्वान्नोपयोगः कथञ्चन ॥ धर्मं  
 कर्तुः कचित्कीर्तिर्नैपुण्यं पाठतः क्वचित् ॥ ८० ॥  
 रामायणमनन्तं हि पुराणमिव सम्मतम् ॥  
 व्यासः पूर्वमनेकोक्तो वाल्मीकिः साम्प्रतङ्किल ॥  
 समाधिभाषया प्राह प्रमाणं सर्वथैव तत् ॥ ८१ ॥

तत्त्वदीपप्रकाशः ।

काव्यादीनान्धर्म नोपयोग इत्याह ॥ काव्यादीनामिति ॥ सत्य-  
 त्वमुत्प्रेक्षाजन्यत्वात् ॥ कीर्तिर्धर्मवत्फलसाधिकेति फलांशे काव्या-  
 दीनामुपयोगमाह ॥ कर्तुः कचित्कीर्तिरिति ॥ नैपुण्यञ्जीतिशास्त्रे



युज्यते तच्च पाठात् ॥ रामायणञ्च काव्यमिति सर्गबन्धनात् ॥८०॥ न  
तस्य धर्मोपयोगो भविष्यतीत्याशङ्क्याह ॥ रामायणमिति ॥ “चरितं रघु-  
नाथस्य शतकोटिप्रविस्तरम् ॥ एकैकमक्षरं पुंसां महापातकनाशनम् ”  
इति वाक्याद्धर्मजनकमेव अनन्तमपरिमितम् ॥ प्रतिकल्पप्रतियुगं  
रामावतारा भवन्ति तत्रान्यपदार्थेष्विव रामचरित्रस्य स्वरूपज्ञ भवति  
उत्तरेण पूर्वोपचरितार्थरूपमतः पूर्वपूर्वरामकथाया उत्तरया सह  
कथनादनन्तत्वम् ॥ क्वचित्पुनरुक्तेऽपि धर्मो भवतीति हिशब्देनाह ।  
आख्यायिकायाः प्रामाण्यार्थम्पुराणमिव सताम्मतम् ॥ अस्य व्यासो  
विस्तारः पूर्वमनेकैरुक्तः साम्प्रतं वाल्मीकिः समाभावुपलभ्य सर्वमुक्त-  
वानतः सुतरामिदानीन्तनम्प्रमाणम् ॥८१॥

आखरणभंगः ।

किञ्चिदाशङ्क्य परिहरन्ति ॥ ॥ काव्येत्यादि ॥ तर्हि तेषां किञ्चित्प्रमाणम्  
आहुः ॥ ॥ कीर्त्तित्यादि ॥ तथाच जघन्यफलेस्वर्गादिके तदुपयोग इति भावः  
॥८०॥ किञ्चिदाशङ्क्य परिहरन्ति ॥ ॥ रामायणमित्यादि ॥ प्रतियुगमिति ॥ वैवस्व-  
तमन्वन्तरीयाष्टाविंशतिमन्त्रेतायामित्यर्थः ॥ एवम्प्रमेयम्प्रमाणस्वरूपञ्चोक्तम् ॥  
साधनम्फलञ्च चरितंरघुनाथस्येति श्लोक एव स्फुटम् ॥ ॥ अनेकैरिति आप-  
स्तम्बप्रभृतिभिः । आपस्तम्बोक्तस्य रामायणस्य दक्षिणे प्रसिद्धत्वात् ॥ ८१ ॥

वज्रभाषाटीका ।

गान्धर्ववेदको धर्ममें उपयोग है क्योंकि वेदको अर्थात् खाती-  
के कामको सुग सुवा स्तम्भ गन्नादि जगत्में उपयोग है तासों  
परम्पराधर्मको उपयोगी है या प्रकार पुराणे न्याय मीमांसा धर्म-  
शास्त्र अङ्ग ६ वेद ४ उपवेद ४ इन अष्टादशविद्याको उपयोग है  
जा शास्त्रमें हाथी घोडा मणिआदिके लक्षण हैं वा अर्थशास्त्रको  
अर्थसिद्धिद्वारा धर्ममें उपयोग है वा अर्थशास्त्रको न्यायशास्त्रमें  
अन्तर्भाव है वात्स्यायनादि जगत्में कामभोगमें उपयोग है  
कामसुख है सो मोक्षसुखको दृष्टान्त है । जैसे स्वर्गसुखको दृष्टा-

न्त राज्यसुख है। यद्यपि राज्यसुखसों क्रोडगुण अधिक स्वर्गसुख है तथापि अदृष्ट अर्थात् विनादेखें स्वर्गसुखमें प्रवृत्ति होयवेकेलिये राज्यसुखको दृष्टान्त दियोजायहै तैसे ही विनादेखें अनन्त अचल मोक्षसुखमें प्रवृत्तिकरायवेकेलिये अल्पनाशवाले कामसुखको दृष्टान्त है जाकरकें तुच्छकामसुखकों छोडके अनन्तमोक्षसुखकी प्राप्तिकेलियें प्रवृत्त होय तासों अष्टादशाविद्यामें कामशास्त्रकी गणना नहिं है काव्यनाटकादिक कामशास्त्रकेही अङ्ग हैं ॥ काव्य नाटक अलङ्कारादिकनको धर्ममें उपयोग नहिं है क्योंकि मनकी उत्प्रेक्षाकरकें बनायेजावे हैं ॥ ८० ॥ परन्तु काव्यादिकनसों काव्य बनावेवारेकी कीर्ति होवे है और जैसे धर्मसों स्वर्गप्राप्तहोवेहै तैसे मनुष्यकों कीर्तिभी स्वर्गादिफलकी देवेवारी है तासों स्वर्गादिफलप्राप्तिमें काव्यादिकोभी उपयोग है मोक्षमें उपयोग नहिं है ॥ ये अच्छे काव्यादि बनायवेको फल है काव्यादिकनके पाठ करवेसों तो निपुणता होयहै निपुणताको नीतिशास्त्रमें उपयोग है तहाँ काव्यादिकमेंही रामायण है तासों रामायणकोभी धर्ममें उपयोग नहिं होयगो ऐसी शङ्का नहिंकरनी क्योंकि रामायण अनन्त हैं आपस्तम्बादिक्रषिननेंभी बनाई है दक्षिणमें प्रसिद्ध है। श्रीमान् राजाधिराज चक्रवर्तिचूडामणि श्रीरघुनाथजीके चरित्रको सौक्रोडश्लोकमें विस्तार है याको एक एक अक्षर महापातकको नाश करैहै तासों धर्मको उत्पन्न करेवारी है। प्रतिकल्पमें प्रतियुगमें रामावतार होवेहै और पदार्थके समान श्रीरामचरित्रको स्वरूप नहिं है तासों पहिलीको चरित्र आगेके कल्पके चरित्रमें गतार्थ नहिं होयसकैहै तासों आगेके कल्पकी रामचरित्रकी कथाके साथ पीछेके कल्पकी कथाभी वर्णन कीनीहै तासों अनन्त है वर्णन करेभयेकोभी फिर वर्णन कहीं

कहीं धर्म सिद्धिके लिये कियोहै तासों याकूँ पुराणके समान प्रमाण माननो ॥ रामचरित्रको विस्तार पहिली बहुत ऋषिनने कियोहै परन्तु अभी वाल्मीकि ऋषिनें समाधिमें देखकें रामायण कहीहै तासों ये रामायण प्रमाण है और ऋषिनने तो सुनकरके रामचरित्रको वर्णन कियोहै तासों वाल्मीकि रामायणमें मिलती-भई और रामायणकी कथा प्रमाण है ॥ ८१ ॥

वासिष्ठादेस्तु संवादात्प्रामाण्यं नान्यथा क-  
चित् ॥ न्यायस्तु नीतिशास्त्रं हि तर्को मीमां-  
सया युतः ॥ ८२ ॥ मोहार्थान्यन्यशास्त्राणि  
बुद्धे कृष्णे तदिच्छया ॥ देवांशैः कल्पितान्येव  
तदुक्तं सर्वथा मृषा ॥ ८३ ॥ इति प्रमाणप्रकरणम् ॥

तत्त्वदीपप्रकाशः ।

वासिष्ठरामायणादेर्न तथात्वमित्याह ॥ वासिष्ठादेरिति ॥ संवादः प्रमाणेन ॥ पुराणन्याय इत्यत्र साम्प्रतमक्षपादविरचितन्वमोपयोगि भविष्यतीत्याशंक्य समानशब्दत्वमेव तत्रेत्याह ॥ न्यायस्त्विति ॥ पुराणन्यायेत्यत्र नीतिशास्त्रमेव न्यायशब्देनोच्यते न तु लोके प्रसिद्धम् ॥ 'यस्तर्केणानुसन्धत्त' इत्यत्र तर्कशब्दो वेदानुकूलतर्कवाचकमीमांसापरः ॥ ८२ ॥ अन्यानि काणादादिशास्त्राणि मोहार्थान्येव अतस्तत्रादरणीयमित्यर्थः ॥ ८३ ॥ इति प्रमाणप्रकरणम् ॥

आवरणभंगः ।

संवादः ॥ प्रमाणेनेति । वाल्मीकिना स्वयं समाधावनुभूयोक्तत्वादन्येस्तु श्रुत्वोक्तत्वेन मध्ये परंपरापाते दोषस्यापि सम्भवात् ॥ ॥ प्रमाणेन ॥ वाल्मीकीयेन संवाद एव वासिष्ठादेः प्रामाण्यप्रयोजक इत्यर्थः ॥ अर्थशास्त्रस्य न्याये प्रवेश उक्तः । न्यायश्चतुर्दशविद्यासु निरूपित इति तन्निश्चेतुमाहुः ॥ पुराणेत्यादि ॥ नीतिशास्त्रमिति ब्राह्मबर्हस्पत्यादिरूपम्भारते राजधर्मे प्रसिद्धमिति ॥ आग्नेये न्यायसार-

प्रवक्ष्यामीति प्रतिज्ञाय नीतिशास्त्रसारस्यैव कथनात् । मात्स्यतृतीयाध्याये “मी-  
 मांसा न्यायविद्या च प्रमाणाष्टकसंयुता” इतिवाक्येऽप्यष्टप्रमाणयोगलिङ्गाच्च नाक्ष-  
 पादप्रणीतम्पुराणन्यायेत्यत्र विवक्षितमित्यर्थः ॥ एवमेव पुराणानुक्रमणा-  
 ध्यायेऽपि ‘पुराणन्यायविस्तर’ इत्यत्रापि ज्ञेयम् । प्रमाणाष्टकन्तु प्रत्यक्षानुमानो-  
 पमानशब्दार्थापत्त्यनुपलब्धिसम्भवैतिह्यभेदेन ज्ञेयम् ॥ ॥ मीमांसापर इति ॥  
 निबन्धेषु सर्वत्रमीमांसयैव धर्मनिर्णयदर्शनात् ॥ तर्कविद्यावाचकस्यान्वीक्षिकी-  
 पदस्य “विद्यामान्वीक्षिकीहित्वा” इत्यादौ तथा दर्शनाच्चेत्यर्थः ॥ केचित्तु । “आ-  
 अन्वीक्षिकीमलकार्य प्रह्लादादिभ्य ऊचिवान् ” इति प्रथमस्कन्धवाक्यादत्तात्रेयो-  
 क्तयोगपरमान्वीक्षिकीपदं मार्कण्डेयेऽलर्कस्य योगोपदेशदर्शनादित्याहुः ॥  
 किञ्च । मनौ आन्वीक्षिकीश्चात्मविद्भ्य इति वाक्यान्मिताक्षरायां स्वरन्धगो-  
 सान्वीक्षिक्यामित्यत्रात्मविद्यापरत्वेन व्याख्यानाच्चोत्तरमीमांसापि तद्वाच्या ॥ क-  
 श्चित्तु । प्रतिपदमनुपदंछन्दो भाषाधर्मो मीमांसान्यायस्तर्क इत्युपाङ्गानीतिच-  
 रणव्यूहे वेदोपाङ्गनिरूपणे यौ न्यायतर्कावुक्तौ तावक्षपादकणादप्रणीतशास्त्र-  
 परौ । तयोरप्यास्तिकशास्त्रत्वात् । नैषा तर्केणेत्यादौ निन्दा तु अधर्मस्येव  
 निरुद्धत्वादिति वदति । तदापि श्रुतिविरुद्धांशत्यागस्य तत्रावश्यकत्वायस्तर्के-  
 णानुसन्धत्त इत्यत्र तर्कपदम्मीमांसापरमेव सेत्स्यति । किञ्च निन्दाप्रयोजको  
 निष्कर्षोऽपि क इति विचार्यम् । स यदि पुराणोक्तमोहकत्वरूपस्तदा तु धर्म-  
 स्थानत्वाभावात् विद्यासु निवेष्टुमर्हति । यदि लोकतत्त्वविचारणरूपस्तदापि तथा  
 धर्मस्य चोदनालक्षणस्यालौकिकत्वादिति । वस्तुतस्तूपाङ्गोक्तौ संख्याया अभा-  
 वान्मीमांसा-  
 धिकरणात्मकस्तर्क इत्येवार्थः । एवञ्चोपाङ्गानामपि षड्-  
 त्वादङ्गैः समानैव संख्या भवतीत्येतदाभिसन्वायोक्तं मीमांसापर इति ॥ ८२ ॥  
 नन्वक्षपादीयं न्यायत्वेन कुतो न गृह्यत इत्यत आहुः ॥ ॥ अन्यानीत्यादि ॥  
 तदुक्तम्पाद्गोत्तरखण्डीयगुणत्रयविवरणाध्याये पार्वतीं प्रति शङ्करेण । तथाहि ।  
 “शृणु देवि प्रवक्ष्यामि तामसानि यथाक्रमम् । येषां श्रवणमात्रेण पातित्यं ज्ञानि-  
 नामपि । प्रथमं हि मयैवोक्तं शैवपाशुपतादिकम् । मच्छक्त्यावेशितैर्विप्रैः सम्प्रो-  
 क्तानि ततःपरम् । कणादेन तु सम्प्रोक्तं शास्त्रं वैशेषिकम्महत् । गौतमेन तथा  
 न्यायं सांख्यन्तु कपिलेन वै । धिषणेन तु सम्प्रोक्तञ्चार्वाकमतिगर्हितम् । दैत्यानां  
 नाशनार्याय विष्णुना बुद्धरूपिणा । बौद्धशास्त्रमसत्प्रोक्तं नग्ननीलपटादिकम् ।  
 मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नम्बौद्धमुच्यते । मयैव कथितन्देवि कलौ ब्राह्मण-  
 रूपिणा ॥ ” इत्याद्युक्त्वा “मयैव वक्ष्यते देवि जगतान्नाशकारणात् । द्विजन्मना  
 जैमिनिना पूर्वं वेदमपार्थतः ॥ निरीश्वरेण ब्राह्मेन कृतं शास्त्रं महत्तरम् ॥ ” इति ॥

॥ पराशरोपपुराणे च ॥ ॥ अक्षपादप्रणीते च काणादे सांख्ययोगयोः ॥  
त्याज्यः श्रुतिविरुद्धः सः श्रुत्यैकशरणैर्नृभिः ॥ जैमिनीये च वैयासे न विरो-  
धोऽस्ति कश्चनेति ॥ जैमिनीयपदम्पूर्वाद्धेऽन्वेति ॥ ॥ पाद्मस्वारस्यात् ॥  
॥ हयशीर्षपञ्चरात्रे च । “कपिलश्चाक्षपादश्च नास्तिको नग्न एव च ॥ ऋषयस्तामसा  
ह्येते शास्त्रमेषांविमोहनम् ” इति ॥ एतेन एतद्विरुद्धं यत्सर्वं न तन्मात्रदृष्टचनेति  
पूर्वप्रकरणोक्तं निर्णीतं ज्ञेयम् ॥ ८३ ॥ इति प्रमाणप्रकरणम् ॥

ब्रजभाषाटीका ।

अठारह विद्या में अक्षपादको बनायो न्यायशास्त्र नहीं है किन्तु  
बृहस्पति आदिको बनायो नीतिशास्त्रही न्याय शास्त्रके नामसों  
ग्रहण करनेों वाहीकी अष्टादश विद्यामें गणना है “ यस्तर्केणा-  
नुसन्धत्ते ” इत्यादि स्थलमें तर्कशास्त्र करके विचार करने लिख्यो  
है तहाँ तर्कशास्त्रकरके मीमांसाशास्त्र लेनों ॥ ८२ ॥ और का-  
णाद आदिकनके बनायेभये सब शास्त्र जीवकी बुद्धिकूँ मोह  
करायवेकेलिये हैं क्योंकि कृष्णकी इच्छा करके देवांश प्रकट हो-  
यके उनने शास्त्र बनाये हैं वे सब शास्त्र मिथ्या हैं पद्मपुराणमें  
गुणविवरणाध्यायमें शिवनें आज्ञा करी है । “ शृणु देवि प्रव-  
क्ष्यामि तामसानि यथाक्रमम् ॥ येषां श्रवणमात्रेण पतनं ज्ञा-  
निनामपि ॥ काणादेन तु यत्प्रोक्तं शास्त्रं वैशेषिकं बृहत् ॥ गौतमेन  
तथा न्यार्यसांख्यन्तं त्रिल्लिख्यं वै ॥ धिषणेन तु सम्प्रोक्तञ्चार्वाक-  
मातङ्गहितम् ॥ ” इत्यादि प्रमाण आवरणभङ्गमें लिखे हैं ॥ ८३ ॥  
इति प्रमाणप्रकरणम् ॥

प्रमेयं हरिरेवैकः सगुणो निर्गुणश्च सः ॥ गुणाः  
कार्यन्तथा धर्मः क्रियोत्पत्त्यादयश्च सः ॥ ८४ ॥  
बुद्धिसौकर्यसिद्धयर्थं त्रिरूपेणोपवर्ण्यते ॥ कार-  
णेन च कार्येण स्वरूपेण विशेषतः ॥ ८५ ॥



तत्त्वदीपप्रकाशः ।

एवम्प्रमाणन्निरूप्य तत्सन्देहान्निराकृत्य प्रमेयन्निरूपयति ॥ प्र-  
मेयमिति ॥ यथा शब्द एव प्रमाणन्तत्रापि वेदादिभावापन्नं तथा  
हरिरेव प्रमेयं सर्वभावापन्नमिति ॥ सर्वमेव गणयति ॥ सगुणइत्यादिना ॥  
क्रिया उत्पत्त्यादयश्च ॥ स हरिरेव ॥ ८४ ॥ एवमुक्ते सम्यक्ज्ञानं न  
भवतीति विशेषं वक्तुमाह ॥ बुद्धीति ॥ यथा बुद्धिः सर्वं प्रमेयजातं  
क्रोडीकरोति तदर्थं त्रिरूपेणोपवर्ण्यते ॥ तदैव तरतमभावो भवति ॥ ८५ ॥

आवरणभंगः ।

एवम्प्रमाणप्रकरणे प्रासङ्गिकसहितम्प्रमाणानुरोधि प्रमेयं निर्णीतं तेन पूर्वप्रकरणे  
यज्ञरूपो हरिरिति विचारितः । अतः परं ब्रह्मतनुः पर इत्यादि पादोनश्लोकद्वयोक्तं  
विचारयितुम्प्रमेयप्रकरणमाहन्ते ॥ तत्र पुराणस्योपबृंहणत्वात्तदुक्तप्रमेयपूर्वकमेव  
विचारयन्ति ॥ एवमित्यादि ॥ उक्तप्रकारेण प्रमेयबलनिरूपणार्थं द्विविधप्रमेयम-  
ध्ये प्रमाणानुरोधि प्रमेयन्निरूपयितुं मंगलकारिकाव्यतिरेकाभिर्भवतिभिः कारि-  
काभिर्वेदादिरूपम्प्रमाणन्तत्तत्स्वरूपं तत्प्रमेयं तदुक्तसाधनतत्फलैर्निर्णीय तेन  
तत्स्वरूपादिविषयान्सन्देहान्निराकृत्य स्वतन्त्रप्रमेयस्यापि बलनिरूपणार्थन्त-  
त्प्राधान्येन प्रमेयन्निरूपयतीत्यर्थः ॥ ननु कथं हरिरेव प्रमेयभ्रगतोऽपि विद्यमा-  
नत्वादित्यत आहुः ॥ ॥ यथेत्यादि ॥ ॥ वेदादिभावापन्नमिति सामान्येन  
पुंसकम् ॥ ॥ उत्पत्त्यादय इति । उत्पत्तिस्थितिवृद्धिविपरिणामापक्षयना-  
शाख्याः षड्भावविश्वाराः । अत्र मूले सगुणनिर्गुणपदाम्यामपरम्परश्च ब्रह्म  
गुणपदेन सत्त्वरजस्तमांसि मायाप्रकृत्यादयः कार्यपदेन महदादिपरमा एव-  
न्तन्द्रव्यन्वर्मपदेन जातिगुणविशेषसमवायाद्याः क्रियापदेन लौकिकवैदिककर्म-  
णी उत्पत्त्यादय इत्यादिपदेनाभावाश्च संगृहीतास्तेन शास्त्रान्तरोक्तानपि पदार्थान्  
सर्वान्भगवत्येवान्तर्भाव्य शुद्धाद्वैतम्बोधितम् । तथा च यद्यपि जगद्वर्तते तथापि तत्र  
जगत्त्वेन रूपेण प्रमेयङ्गितु हरिच्चेन रूपेण । जगत्त्वेन तु लौकिकज्ञानविषय-  
त्वान्प्रमेयमेवेत्यर्थः ॥ ८४ ॥ मूले विशेषत इति व्यावर्तकधर्मादित्यर्थः । अनेनैव  
प्रकारेण क्रोडीकरणस्यावश्यकत्वायाहुः ॥ ॥ तदैवेत्यादि ॥ यदैवन्निरूपेण ज्ञाय-  
ते तदैव पुराणोपबृंहितः प्रजायेयेतीच्छया कृतस्तरतमभावः भवति स्फुटो बुद्धौ  
भवतीत्यर्थः ॥ एतेन ब्रह्मवादे सर्वस्य भगवद्रूपत्वेऽपि भजनं फलमूलरूप एव कर्त-  
व्यमिति सेत्स्यतीति सूचितम् ॥ ८५ ॥



ब्रजभाषाटीका ।

जैसे शब्द प्रमाण हैं तामें भी वेदादिभावकूँ आप्तभये शब्दही प्रमाण हैं ऐसेही सर्व जगद्भावकूँ प्राप्त होय रहे ऐसे हरि भगवान् ही एक प्रमेय है सगुण अपररूप, निर्गुण पररूप, तथा सत्वगुण रजोगुण तमोगुणरूप, तथा महत्तत्त्वसों लेकें परमाणुपर्यन्त कार्यरूप, तथा जातिगुणविशेषसमवायादि धर्म रूप लौकिक वैदिक क्रियारूप तथा उत्पन्न होनो बढनो परिणामकों प्राप्तहोनो क्षीणहोनो नाशकूँ प्राप्त होनो इत्यादि ६ भावरूप, एक भगवान्ही है यासों और शास्त्रमें कहे जे पदार्थ हैं उन सबनकोभी भगवान्मेंही अन्तर्भाव है तासों शुद्धाद्वैत मत सिद्धभयो ॥ ८४ ॥ भगवान्ही सर्वरूप है ऐसे कहवेसों अच्छे प्रकार ज्ञान नहिं होय है तासों बुद्धिमें जमायवेकेलिये तीनरूपकरकें भगवान्को वर्णन करें है ॥ एक तो मूल स्वरूप, द्वितीय कारणरूप, तृतीय कार्यरूप इन तीनरूपन करकें भगवान्कूँ जानवेसोंही पुराणमें जाको विस्तार कियो ऐसो जो वेदोक्त बहुरूप करकें प्रगट होयवेकी इच्छाको कियोभयो उच्च नीचभाव है वह हृदयमें जमजावें है यासों ब्रह्मवादमें सब भगवद्रूप है तथापि भजन मूलस्वरूपकोही करनो यह बात सिद्ध भई ॥ ८५ ॥

अष्टाविंशतिभेदास्तु कारणे तत्त्वभेदतः ॥

भगवत्त्वं यतस्तेषान्तस्मात्तत्त्वानि तानितु ॥

॥ ८६ ॥ अण्डसृष्टेः पूर्वभावात् कारणत्वन्न

चान्यथा ॥ कारणत्वन्न चैवास्ति चिदानन्दां-

शयोः स्वतः ॥ ८७ ॥

तत्त्वदीपप्रकाशः ।

प्रथमेऽष्टाविंशतिभेदाः ॥ तेषां च कारणत्वात्तत्त्वपदवाच्यत्वञ्च  
समर्थयति ॥ भगवत्त्वमिति ॥ ८६ ॥ सच्चिदानन्दभेदेषु सद्भेदा एवैते ॥  
चिदानन्दयोः ॥ कारणत्वाभावात् ॥ एकस्य फलत्वमपरस्य स्वरूपत्व-  
मित्याह ॥ कारणत्वं न चैवास्तीति ॥ ८७ ॥

आवरणभंगः ।

प्रथम इत्यादि ॥ प्रथमे कारणे अष्टाविंशतिभेदाः । नवैकादशपञ्चत्रीण्यात्यत्व-  
मिति शुश्रुम इत्येकादशवाक्येनाष्टाविंशतितत्त्वपक्षस्य भगवत्संमतत्वात् ॥ षाड्विं-  
शत्यादिपक्षानामत्रैवान्तर्भावादतस्तेषान्तथात्वं समर्थयति । सांख्योक्ताद्भिन्नरीत्या  
एकेन श्लोकेनोपपादयन्तीत्यर्थः ॥ भगवत्त्वमित्यादि ॥ भगवतो भावो भगवत्त्वम्भ-  
गवतः सर्वान्प्रति या सामान्यकारणता सेति यावत् । तृतीयस्कन्धे तथाङ्गीकारात् ॥  
यतस्तेषान्तथात्वन्तस्मात्तानि तत्त्वानि न तु सांख्यान्तरवत्पृथक्पदार्थत्वेन तत्त्वानि ।  
एकादशस्य चतुर्विंशोऽध्याये कपिलादिविनिश्चितं सांख्यं वदता भगवता “आसी-  
ज्ज्ञानमथो ह्यर्थ एकमेवाविकल्पितम् ” इत्युपक्रम्य “तन्मायाफलरूपेण केवल-  
न्निर्विकल्पितम् ॥ बाह्मजो गोचरं सत्यं द्विधा समभवदब्रह्म ” इति ब्रह्मण एव  
द्विधा भवनमुक्त्वा “तयोरेकतरो ह्यर्थः प्रकृतिः सोभयात्मिका ॥ ज्ञानं त्वन्यतमो  
भावः पुरुषः सोऽभिधीयते ” इत्यादि “प्रकृतिर्ह्यस्योपादानमाधारः पुरुषः परः ।  
सतोऽभिव्यञ्जकः कालो ब्रह्म तत्रितयन्त्वहम् ” इति च वाक्यात् । तथा सर्गः कार-  
णसम्भूतिरिति निबन्धलिखितसर्गलक्षणवाक्यादेतेषु कारणत्वव्यवहार इत्यङ्ग-  
सृष्टेः पूर्वभावात् पूर्वोक्तत्वात्कारणत्वम् ॥ नचाऽन्यथा न ब्रह्मवात्रिरङ्कुश-  
आपि मृदादिवद्दृढादिकारणत्वेन “मया सञ्चोदिता भावाः सर्वे सहत्यकारिणः ।  
अण्डमुत्पादयामासुर्ममायतनमुत्तमम् ” इति भगवद्वाक्यात् ॥ तथाच भगवता तथा  
ङ्गीकारात्कारणेऽष्टाविंशतिभेदा युक्ता एवेत्यर्थः ॥ सच्चिदानन्देत्यादि ॥ प्रपञ्च  
मध्यपातिषु सच्चिदानन्देषु सजातीयत्वस्वगतत्वाभ्याश्चिदानन्दांशत्वेन प्रसिद्ध-  
योर्गोदान्तर्यामिणोः समवायित्वस्य शुक्तिपुरुषाभ्यामन्यनात्सदेव सौम्येदमग्र आसी-  
दित्युपक्रम्य तत्तेजोसृजतेत्यादिना क्रमसृष्टिरित्याह ॥ पि क्रमसृष्टेस्तथैव बोद्ध-  
व्यमित्यर्थः ॥ ८६ ॥ ॥ एकस्येत्यादि ॥ ॥ ननु केवलानां जडानान्तत्त्वाना-  
ञ्चैतन् विनान्तर्यामिप्रेरणञ्च विना कार्यजननासामर्थ्यकथञ्चात्तयोरपि निमित्तत्व-  
मस्तीति कथमकारणत्वमित्याकांक्षायां न्तयोर्मध्य एकस्य चिदंशस्य फलत्वम-

परस्याऽऽनन्दांशस्य स्वरूपस्वमतो न स्वरूपेण निमित्तत्वमिहेति हेतोः कारण-  
तानिवेधमाहेत्यर्थः ॥ ॥ कारणत्वं न चेवास्तीति ॥ ॥ प्रपञ्चातःपातिनो-  
श्चिदानन्दांशयोः कारणत्वं समवायित्वञ्चाकारान्निमित्तत्वञ्च स्वतस्तत्वासंवल्लि-  
तेन रूपेण नास्ति ॥ “तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् तदनु प्रविश्य सञ्चत्यचाभ-  
वत्” “अनेन जीवेनात्मनानुप्राविश्य नामरूपे व्याकरवाणि” “गुह्यम्प्रविष्टौ  
परमे परार्द्ध” इति श्रुतौ कोशानुप्रवेशोत्तरमेव नामव्याकरणादिरूपकार्यस्यो-  
क्तत्वादित्यर्थः । अत्र चिदंशस्य फलत्वं मातृवर्णिकसूत्रभाष्ये विज्ञानमयस्य  
विविधयागादिसाधनफलत्वेन चित्तत्वात्स्वरूपावस्थानस्य मुक्तित्वाच्च ॥ आन-  
न्दांशस्य स्वरूपत्वन्त्वन्तर्यामिणि ब्रह्मधर्माणामतिरोहितत्वाज्ज्ञातव्यम् “ज्ञानं  
स्वन्यतमो भावः” इति वाक्यात्पुरुषस्य चिदंशत्वं शङ्क्यं “मया सन्नोदिता  
भावाः सर्वे संहत्यकारिणः” इत्यग्निमवाक्ये सर्वपदेन पुरुषमन्तर्भाव्यं संहत्य-  
कारित्वोक्तेरत्रापि सन्देहस्यैव तस्य विवक्षितत्वात् ॥ अतएव तृतीये “कालवृत्त्या  
तु मायायां गुणमग्न्यामधोक्षजः । पुरुषेणात्मभूतेन वीर्यमाधत्त वीर्यवान् ॥” इति  
मैत्रेयेण वीर्याधाने कारणत्वमेवोक्तं नतु कर्तृत्वं केवलात्मभूतस्य स्वतो निर्वीर्यत्वा-  
दिति ॥ ८७ ॥

ब्रजभाषाटीका ।

कारणरूप भगवान्को स्वरूपवर्णन करें हैं कारण अष्टा-  
विंशति भेदवालो है प्रकृति १ पुरुष २ महत्तत्त्व ३ अहंकार  
४ रूप ५ रस ६ गन्ध ७ स्पर्श ८ शब्द ९ नेत्र १०  
जिह्वा ११ नासिका १२ त्वचा १३ कर्ण १४ मन १५ वाणी  
१६ हस्त १७ चरण १८ उपस्थ १९ गुदा २० पृथ्वी २१ जल  
२२ तेज २३ वायु २४ आकाश २५ सत्त्वगुण २६ रजोगुण  
२७ तमोगुण २८ ये अष्टाईस कारणके भेद हैं इनसोंही तत्व  
कहे हैं “तस्य भगवतो भावः सामान्यकारणता तत्त्वम्” ॥  
भगवान्को कारणरूपकरके प्रकटहोनों तत्व कहावेहै ॥ ८६ ॥ ये  
तत्व ब्रह्मांडके पहिली प्रकट भये तासों कारण कहावे हैं भग-  
वान् सच्चिदानंद हैं तत्व २८ भगवान्के कारणरूपके भेद हैं  
चित् आनंद ये दोनों कोईकेभी कारण नहीं हैं अर्थात् तत्व- सों

न्यारे होयकें कोई पदार्थकेभी निमित्तकारण अथवा समवायि-  
कारण नहीं हैं ॥ ८७ ॥

आनन्त्यमेव भेदानान्तयोः कार्ये तथैव च ॥  
अतस्तेषान्तु ये भेदा नोक्तास्ते हि विशेषतः  
॥ ८८ ॥ स्वरूपे तु त्रयो भेदाः क्रियाज्ञानविभे-  
दतः ॥ विशिष्टेन स्वरूपेण क्रियाज्ञानवतो हरेः ८९

तत्त्वदीपप्रकाशः ।

तयोर्भेदा अनन्तास्तेन विशेषतो न वक्तव्या इति भावः ॥ कार्येऽपि  
भेदानामानन्त्यं घटादौ तथा दर्शनात् ॥ ननु स्वस्यासामर्थ्यादेतदुच्यते  
नेत्याह ॥ अतस्तेषामिति ॥ अतएव भागवतादौ तेषां संख्या नोक्ता ॥ ८८ ॥  
तत्त्वसहभावाच्चिदानन्दयोः स्वरूपभूतयोरपि प्रथमपक्ष एव निवेशनमु-  
क्त्वा तृतीयभेदानाह ॥ स्वरूपेत्विति ॥ क्रियारूपे धर्मे प्रविष्टो धर्मी  
यज्ञ एकः तथा ज्ञानरूपे धर्मे प्रविष्टो धर्मी ब्रह्माद्वितीयः ॥ ज्ञानक्रियो  
भययुतः कृष्णस्तृतीय इति त्रयो भेदाः ॥ यतः क्रियाज्ञानवान् हरिः ॥ ८९ ॥

आवरणभंगः ।

॥ तयोरित्यादि ॥ ॥ हासुपर्णेत्यादिश्रुत्या प्रतिशरीरजीवान्तर्यामिप्रवे-  
शश्चावणेन नानात्वात्तयेत्यर्थः ॥ ॥ कार्येऽपित्यादि ॥ ॥ एतेनाऽनियतपदार्थ-  
वादोत्राप्यनुमत इति बोधितं श्रुतिपुराणादिषु तथाङ्गीकारादिति । मूले ॥ नोक्तास्ते  
हि विशेषत इत्यनेन सामान्यत उक्ता इति ज्ञापितम् । ते एवाग्रे गणभेदेन वक्तव्या  
इति बोध्यम् । तत्त्वगणनावैयर्थ्याद्भाष्येतेनैव परिहृता बोध्या ॥ ८८ ॥  
॥ तत्त्वसहभावादिति ॥ ॥ तत्त्वशरीरे प्रवेशेन तथात्वात् । एतेन कार्य-  
कोट्यनिवेशे बीजमुक्तम् । मूले ॥ क्रियाज्ञानविभेदत इति ल्यब्लोपे पञ्चमी ।  
तथाच क्रियां ज्ञानं च विभिय ताभ्यामेकैकं विशिष्टेन चैकमेवं प्रय इत्यर्थः ।  
ननु क्रियाज्ञानयोर्धर्मत्वात्कथं स्वरूपभेदत्वमित्यत आह ॥ ॥ क्रियारूप-  
इत्यादि एवं षड्भिः प्रमेयस्वरूपेण प्रमेयनिर्णय उक्तस्तत्त्वरूपेण कार्यरूपेण  
स्वरूपेण च भगवान् प्रमातुं शक्य इति ॥ ८९ ॥

ब्रजभाषाटीका ।

चित्के अनन्त भेद हैं जितने अनंतजीव हैं सब चित्के भेद हैं चित् फलरूप हैं ऐसेही आनंदकेभी अनेक भेद हैं जितने अंतर्दामी हैं वे सब आनंदके भेद हैं आनंद है सो स्वरूपभूत है अंतर्दामीमें ब्रह्म धर्म प्रकट है तासों अंतर्दामीस्वरूपात्मकही समुझे जावे हैं वृक्षादिघटपटादिरूप कार्यभी अनंत हैं तासों कार्यके भेदभी नहीं कहे हैं ॥८८॥ चिद आनंदकोभी तत्त्वनके साथ सहभाव है यासों इनको शरीरमें प्रवेश है तासों तत्त्वसहित चित् आनंदकोकारणकोटिमेंही प्रवेश कहकें स्वरूपके भेदनको वर्णनकरे हैं स्वरूपके तीन भेद हैं वैदिक क्रियारूप धर्ममें प्रविष्टभयो धर्मों स्वरूप यज्ञशब्दसों प्रसिद्ध है तथा ज्ञानरूपधर्ममें प्रविष्टभयो धर्मों स्वरूप ब्रह्मनाम सों प्रसिद्ध है और ज्ञान क्रिया इन दोनों सहित श्रीकृष्ण तृतीय स्वरूप है, अर्थात् यज्ञनारायण क्रियावान् परन्तु क्रियामें प्रविष्ट होयके गुप्तरीतिसों विराजे हैं तासों क्रियाशब्दसों ही व्यवहारमें आवे है ब्रह्म केवल ज्ञानवालो है परन्तु ज्ञानमें गुप्तरीत्या प्रविष्ट है तासों ज्ञानशब्दसोंही व्यवहारमें आवे है श्रीकृष्ण तो पूर्णक्रिया तथा पूर्णज्ञानवाले हैं ॥ ८९ ॥

विशिष्टे वाचकज्ञीता श्रीभागवतमेव च ॥  
केवले काण्डद्वितयं वेदो धर्मप्रवेशतः ॥ ९० ॥  
तस्यैवोद्धूतरूपत्वात्क्रियाज्ञाने अपि स्वतः ॥  
अविकार्यं विकार्यं तु ह्यध्रुवे कार्यवन्मते ॥ ९१ ॥

तत्त्वदीपप्रकाशः ।

अस्य प्रमेयत्वसिद्धयर्थं प्रमेयबलविचारेण प्रमाणमाह ॥ विशिष्टे वाचकमिति ॥ ननु काण्डद्वयेऽपि क्रियाज्ञानञ्च प्रतिपाद्यते नतु

ज्ञानवान्वा । तत्कथमुच्यते एकैकस्मिन्नंश एकैकङ्काण्डमिति तत्राह ॥  
 धर्मप्रवेशत इति ॥ क्रियावान् क्रियायाम्प्रविष्टः अतः क्रियैव प्रतीयते  
 वस्तुतस्तु क्रियावान् ॥ “यज्ञो वै विष्णुः” इति श्रुतेः । तत्र हेतुः ॥ ९० ॥  
 तस्यैवोद्भूतरूपत्वादिति ॥ धर्म एवोद्भूतो नतु धर्मा ॥ ननु जन्य-  
 त्वान्न तद्भगवत्स्वरूपमित्याशङ्क्याह ॥ क्रियाज्ञाने अपि स्वत इति ॥  
 लौकिकक्रियया वृत्त्या च अभिव्यज्येते एव नतु जन्येते इत्यर्थः ॥  
 तत्र हेतुः ॥ अविकार्ये इति ॥ तर्हि लोकेऽपि क्रियाज्ञानयोर्नित्यता  
 स्यादत आह ॥ विकार्येति ॥ किञ्च कार्यमन्यस्मन्मते अभिव्यक्त-  
 मेव ॥ अतो नेदं दूषणमित्यर्थः ॥ ९१ ॥

आवरणभंगः ।

अस्येत्यादि ॥ ॥ स्वरूपस्य लौकिकप्रभाविषयत्वाभावेऽपि प्रमेयत्वाति-  
 द्धयर्थप्रमेयस्य स्वरूपस्य बलविचारेण प्रमाणमनुरुद्धयैव प्रागट्यफलदायक-  
 स्वरूपबलविचारेण प्रमाणमनुरुद्धयैव प्रागट्यफलदायकत्वरूपबलस्य विचारेण  
 तदाहेत्यर्थः ॥ ॥ विशिष्ट इत्यादि ॥ ॥ अत्र गीतादेर्वाचकत्वं वाक्ये वै-  
 शाकरणवत् शक्त्यङ्गीकाराद्बोद्धव्यम् । तदग्रे स्फुटयिष्यति । गीताश्रीभागवतयो-  
 र्विशिष्टवाचकत्वं गुरुत्वेन ज्ञेयत्वेनोपास्यत्वेन भजनीयत्वेन कर्तृत्वेनोपादानत्वेन  
 पुरुषोत्तमत्वेन फलत्वेन विभूतिमत्त्वादिना च क्रियाज्ञानविशिष्टस्य भगवत एव  
 मुख्यतया प्रतिपादनात्सर्वधर्मोन्परित्यज्येत्यादौ स्वस्थ साधनशेषतानिराकरणाच्च  
 ज्ञेयम् ॥ ॥ प्रतिपाद्यतइति ॥ ॥ मुख्यतया प्रतिपाद्यते ॥ ॥ यज्ञ इति-  
 ॥ ॥ तथाच यजेतेत्यादौ क्रियायाः स्फुटत्वेऽपि तत्र धर्मिणः क्रियावतो वाच्यत्व-  
 म्प्रतुक्रियास्वरूपनिर्णायकाद्वाक्यशेषादेवावगम्यत इत्यर्थः ॥ ९० ॥ नन्वेवं  
 सति क्रियावानेवार्थोऽस्तु धर्मिणोतःप्रविष्टत्वे किम्मानमत आहुः ॥ ॥ तत्रे-  
 स्यादि ॥ ॥ तत्रेति धर्मिणोऽतःप्रवेशे ॥ ॥ उद्भूत इति ॥ ॥ यजेत्या-  
 धर्थत्वेन प्रतीयमानः । तथाच यथा चक्षुरादिभिरालोकादिप्रतीतावप्यालोका-  
 देर्धर्म्यं विना भूतत्वेन तत्र धर्मिसत्ता तथा यजेत्यादौ शक्त्या क्रियाप्रतीता-  
 वपि वाक्यशेषेण विष्णुत्वबोधनात्तत्रानूद्भूतरूपधर्मिसत्तेति लक्षणां विनैवोभ-  
 यसामञ्जस्यमिति भावः ॥ उत्तरकाण्डे तु विषयत्वेन ज्ञानशेषत्वेनैव ब्रह्मोच्यते  
 इति ज्ञाने ज्ञानवतः प्रविष्टं त्वस्फुटमिति तदत्र नोक्तम् ॥ ॥ वृत्त्येति ॥ ॥



वृत्तिरूपेण ज्ञानेन । तथाच यथा वृत्त्या आवरणभङ्गे विषयचैतन्याभिव्य-  
क्तिस्तथा क्रियया आवरणभङ्गे क्रियारूपस्याप्यभिव्यक्तिरिति भावः ॥ अत  
आहेति ॥ ॥ उक्ताशङ्कानिवृत्त्यर्थं व्यवहारे तयोरनित्यत्वमाहेत्यर्थः ॥ मूले  
विकार्ये तु ह्यद्रुधुवे इति । कारणाद्विर्भावः कारणेतर्भावश्च तयोरिति ते विक्रिया-  
म्प्राप्तुमस्तेनोत्पत्तिनाशवतीत्यर्थः । अत्र ज्ञानक्रिययोस्त्रिषणावस्थायित्वपक्षे  
उत्पत्तिस्थितिनाशाख्यविकारत्रयवत्वात् ॥ चिरस्थायित्वपक्षे वृद्धचऽपक्षयव-  
त्त्वेन पञ्चविकारवत्त्वादिकार्यत्वम्बोध्यम् । एवं प्रमाणेन प्रमेयनिर्णय उक्तः ॥ ११ ॥

ब्रजभाषाटीका ।

उन क्रियाज्ञानविशिष्ट श्रीकृष्णचन्द्रको वर्णन करवेवाले  
गीताभागवत हैं और केवल क्रियावान् यज्ञात्मक विष्णुको  
वर्णन करवेवारो वेदको पूर्वकाण्ड है तहाँ पूर्वकाण्डमें तो  
क्रियाको वर्णन है क्रियावान्को वर्णन नहीं है ऐसी शङ्का नहीं  
करनी क्योंकि आप क्रियामें प्रविष्टहोयरहे हैं तासों क्रियाहि  
प्रतीत होवे है वस्तुतः आप क्रियावान् है याही सों ( यज्ञो वै  
विष्णुः ) या श्रुतिमें यज्ञभगवान्को विष्णुरूपता लिखी है ऐसैही  
उत्तरकाण्डवेदान्तमेंभी ज्ञानवाले ब्रह्मकोही प्रतिपादन है परन्तु  
ज्ञानरूपधर्ममें प्रविष्टभयो स्वरूप तो प्रकट नहीं है ज्ञानही प्रकट  
रहे तासों वाकैही ब्रह्मरूप मानकें वर्णनकियो है वस्तुतः उत्तर-  
काण्डमें ज्ञानवान् ब्रह्मस्वरूपकोही वर्णन है ॥ तहाँ लौकिकक्रि-  
यासों यज्ञ उत्पन्न होय है तथा वृत्तिरूप ज्ञानसों ब्रह्मज्ञान होय है  
उनकों भगवद्रूपता कैसे सम्भवसके ऐसो सन्देह नहीं करना  
जैसैं वस्त्रकूं दूरकरवेसों ढकीभई वस्तु प्रकट होजावे है ऐसे  
लौकिकक्रियाकरकें आवरणमात्र दूर होवे है तब सर्वदा विद्यमान  
यज्ञ स्वरूप प्रकट होजावें है ऐसैही वृत्तिरूप ज्ञानकरके आवरण  
दूरहोवें है तब सर्वदा विद्यमान ब्रह्मस्वरूप प्रकट होवें है अर्थात्  
साधनकरके छिपे भये यज्ञ रूप तथा ब्रह्मरूप को प्रकटहोनो मात्र

है उत्पन्नहोनों नहीं है याहीसों वेदके क्रिया ज्ञान ( अविकार्य ) अर्थात् नित्य है लौकिकक्रिया ज्ञान ( विकार्य ) अर्थात् अध्रुव है यदि वेदके क्रियाज्ञानके दृष्टान्तसों इनकों भी नित्य मानें तथापि दूषण नहीं है क्योंकि हमारे सिद्धान्तमें कार्यभी कारण रूपकरके सर्वदा रहे हैं छिपेभये कार्यके प्रकट होयवेसोंही लोकमें उत्पत्ति कहे है तहाँ लौकिकक्रियाज्ञान तथा वैदिकक्रियाज्ञान दोनोंही नित्य है तब वेदकरके कहा प्रयोजन है ? ऐसी शङ्का नहीं करनी लौकिकक्रियाज्ञानसों तो लौकिककार्यकी सिद्धि होयहै वेदोक्तक्रियाज्ञानकरके यज्ञ तथा ब्रह्मको प्रकट होनो फल है तासों वेदकी आवश्यकता है, पूर्वकाण्डमें क्रियाके अनुष्ठानसों क्रियाविशिष्ट यज्ञस्वरूपको प्रादुर्भाव होवै है उत्तरकाण्ड वेदान्तमें परिचर्याकरके प्रसन्नभये गुरुकी अनुग्रहसों ज्ञानविशिष्टब्रह्मस्वरूप को प्रादुर्भाव होयहै ॥ ९१ ॥

वेदवाच्ये तु ये रूपे तदभिव्यक्तिः फलम् ॥  
 अनुष्ठानादुरोर्वापि लौकिके लौकिकं फलम् ९२  
 प्रेमसेवात एव स्याद्विशिष्टव्यक्तिरुत्तमा ॥  
 कार्यभेदविभेदान्न हि कल्पयित्वा विभागशः ९३

तत्त्वदीपप्रकाशः ।

तर्हि लोकतुल्यत्वात् क्रियाज्ञानप्रतिपादनार्थं किं महता वेदेनेत्याशं-  
 क्याह ॥ वेदवाच्ये तु ये रूप इति ॥ तयोरभिव्यक्तिमात्रेणैवोक्तम्फ-  
 लम्भवति ॥ अतः फलार्थङ्गीर्तनमित्यर्थः ॥ अभिव्यक्तिहेतुमाह ॥  
 अनुष्ठानादुरोर्वापीति ॥ गुरोरुत्तरकाण्डे लौकिकेऽपि क्रियाज्ञानयोः  
 सफलत्वात्को विशेष इत्याशंक्याह ॥ लौकिकं फलमिति ॥ अन्यतः  
 फलसिद्धिरित्यर्थः ॥ विशिष्टाभिव्यक्तौ हेतुमाह ॥ ९२ ॥ प्रेमसेवात  
 इति ॥ भक्तिशब्दस्य प्रत्ययार्थः प्रेमधात्वर्थः ॥ सेवाभक्त्यैव तुष्टिमभ्येतीति-

वाक्यात् ॥ पश्यन्ति ते म इति च ॥ विशिष्टस्य कृष्णस्य कृतार्थत्वज्ञाप-  
नायाभिव्यक्तिरुत्तमा नतु दैत्यवधार्थमिव ॥ ननु क्वचित्षोडशपदार्थाः  
क्वचित्सप्त तथा त्वयापि कार्येषु कथन्न भेदाः कल्प्यन्त इत्याशंक्याह ॥  
कार्यभेदेति ॥ “मुख्यमेकमृथक्कृत्यसाधनानान्निरूपणम् ॥ युक्तन्नतु-  
ल्यसंख्या हि फलकारणयोः क्वचित् ॥ अतोत्र हरिमृथक्कृत्य तत्त्वान्येव  
कारणत्वेन कथितानि नत्वेकीकृत्यशास्त्रान्तरवन्निरूपितानि ॥ ९३ ॥

आवरणभंगः ।

तर्हीति ॥ ॥ यदि स्वरूपतः सर्वस्य मित्यत्वन्तर्हीत्यर्थः ॥ ॥ अभिव्य-  
क्तिहेतुमाहेति ॥ ॥ साधनतो निर्णेतुमाहेत्यर्थः ॥ ॥ गुरोरिति ॥ उपसत्त्यादि-  
ना प्रसन्नात्तस्मादित्यर्थः ॥ ॥ अन्यत इति ॥ ॥ तथाऽत्र परार्थीनत्वात्त-  
ज्जघन्यमिति विशेष इत्यर्थः । एवं वैदिके प्रमेये फलतो विशेष उक्तः । एतेनैव  
वैदिकशेषभूतस्मार्त्तपौराणभारतरामायणप्रमेयमपि व्याख्यातं ज्ञेयन्तत्रापि धर्म-  
प्रकरणे क्रियाया ब्रह्मप्रकरणे च ज्ञानस्यैव प्रमेयत्वात् । तयोः श्रौतशेषतयैव  
मुख्ये फले उपयोगः ॥ गौणन्तु श्रौत इव कर्मसचिवदेवतोषात् ॥ गौणतरन्त्वपूर्वं  
द्वारेत्याद्युद्धम् । सांख्ययोगयोस्तु प्रमेयङ्कारणकोटौ निविशति ॥ तथा फलमपि ।  
तदग्र उद्देशतो वक्तव्यम् । अङ्गोपवेदादेस्तु प्रागेवोक्तेन चरितार्थमिति पृथगत्र  
न विचारितम् ॥ अतः परङ्गीताश्रीभागवतयोः प्रमेयमेव शिष्यते तत्सा-  
धनतो निर्णयन्ति ॥ विशिष्टेत्यादि ॥ ननु भक्त्या त्वनन्ययेति वाक्याद्भक्ति-  
रेवाभिव्यक्तिहेतुत्वेन वाच्या नतु सेवापीत्यत आहुः ॥ भक्तिशब्दस्येत्यादि ॥  
अयमर्थः । प्रकृतिप्रत्ययौ सहायं ब्रूतस्तयोस्तु प्रत्ययः प्राधान्येनेति नियमादत्र  
धातुसामान्यार्थं शक्तोप्यक्तिन् प्रत्ययो भजिसमभिव्याहारात्प्राधान्येन भजन-  
क्रियां वक्ति सा च सेवात्मिका । सेवापदञ्च सातत्याभीक्ष्ण्यान्यतरपूर्वककायिक-  
व्यापारविशेषे रूढम् । स्त्रीसेवा औषधसेवेत्यादिप्रयोगदर्शनात् । तादृशव्या-  
पारविशेषपरिचर्यारूप एव स्वतन्त्रसेवाबोधकैर्मत्सेवया प्रतीतश्चेत्यादिवाक्यैर-  
वगम्यते तेषु सेवायाः पूर्णत्वादिकथनात्प्रेमपूर्वकत्वमपि लभ्यते । अन्यथा तस्याः  
कायक्लेशजनकत्वेन स्वतः पुरुषार्थत्वोक्तिभङ्गप्रसङ्गात् । एवं सति प्रेम्ण एव  
प्रयोजकत्वेन तस्य प्राधान्यङ्गम्यते भक्तिलक्षणवाक्यैर्भक्त्यैवेति वाक्याच्च । अतः  
स एव प्रत्ययार्थः । कायिक्यादिरूपात्त्वप्रधानत्वात्प्रकृत्यर्थः ॥ सापि मत्यादिसे-  
वाभिरतामदीहा इति सेवनमुपक्रम्योक्तेति पश्यन्ति त इति वाक्येनावगम्यते  
अतो भक्त्या मामभीत्यादावुभयं संगृह्यत इत्यतः प्रेमसेवा तत्र तथोच्यत इत्य-

एतेनैव पुराणान्तरप्रमेयव्यवस्थापि बोधिता ज्ञेया । एवं स्वरूपविचारेण शास्त्रा-  
नुरोधिप्रमेयं सादृश्वतुर्भिः स्वरूपप्रमाणसाधनफलैर्निर्णीतम् । अतःपरं स्वतन्त्र-  
प्रमेयमध्ये कार्यरूपं विचारयन्ति ॥ नन्वित्यादि ॥ कार्यभेदेति ॥ ब्रह्मातिरिक्तस्य  
सर्वस्य कार्यत्वात्तद्भेदान्द्रव्यादीन् तद्विभेदान् प्रथिवीशब्दादीन् हि निश्चयेन  
एतावन्त एव नियताः पदार्था नाधिका इत्याकारकेण विभागशः पृथिवी नित्या  
कार्या इन्द्रियानिन्द्रयरूपेत्याद्यवान्तरविभागेन कल्पयित्वा तज्ज्ञानेन तत्साध-  
र्म्यवैधर्म्यज्ञानेन मुक्तिप्रदर्श्य शास्त्रप्रवृत्तिवृथा । न फलसाधिका यस्माद्धेतोः  
कार्यमतिवृथावाचारम्भणश्रुत्याकार्यबुद्धिरेव न फलजनिकेत्युक्तन्तस्मादि-  
त्यर्थः ॥ तस्मात्तत्कार्यतया हेया ॥ तथैव क्रीडेयं नतु फलायेतिभावः । ननु यद्ये-  
वन्तदा तत्त्वगणनाप्यपार्था तेषामपि कार्यत्वादित्यत आहुः ॥ मुख्यमेकमित्या-  
दि ॥ तथाच कार्यत्वेऽपि बोधसाधनत्वं पुराणेषूक्तत्वाद्भगवदुक्तम्पक्षमाश्रित्य  
कारणत्वेनोपगम्यन्ते तेन न पूर्वोक्तदोष इत्यर्थः ॥ ९२ ॥ ९३ ॥

ब्रजभाषाटीका ।

पूर्ण क्रिया ज्ञानविशिष्ट श्रीकृष्णचंद्रको प्रादुर्भाव तो प्रेम  
सहित देहेन्द्रियादिकनकरकें सेवाकरवेसोंही होय है प्रेम सेवासों  
जो कृष्णको प्रादुर्भाव होय है सो भक्तकूं कृतार्थ करवेके लिये  
ही होय है वहाँ प्रादुर्भाव दैत्यवधार्थ नहिं है प्रेमसेवाको ही  
नाम भक्ति है तथा देह इन्द्रियनकरकें जो भगवान्की परिच-  
र्या करनों वाहीसों सेवा कहें है या विषयको आवरणभंगमें  
विस्तार लिख्यो है सो अवश्य जाणवे योग्य है । शंका--कहूं षोड-  
श पदार्थ; कहिं सप्तदश पदार्थ मानें हैं या प्रकार भगवान्सों  
अतिरिक्त सब पदार्थकों कार्य मानकें कार्यके अनेक भेद बताये हैं  
आपनें वा रीतिसों क्यों नहिं वर्णन कियो ? उत्तर--कार्यको ब्रह्मसों  
अतिरिक्त मानके वामें सात पदार्थ की कल्पना करके उन सात  
पदार्थनमें सो एक एकके अनेक पृथिव्यादिक तथा शब्दादिकके  
भेद कहकें उनमें नित्यानित्यविचार करकें इतनेही पदार्थ हैं इनके  
ज्ञानसों मोक्ष होय है या प्रकारकी जो शास्त्रकी रचना है सो  
वृथा है क्योंकि वाचारम्भणश्रुतिमें कार्यबुद्धि फलजनक नहिं है

यह बात सूचित करी है कार्यकी सत्यताभी कारणरूपता करके ही कही है ॥ ९२ ॥ ९३ ॥

वृथा शास्त्रप्रवृत्तिर्हि यस्मात्कार्यमतिवृथा ॥  
सत्त्वं रजस्तमश्चैव पुरुषः प्रकृतिर्महान् ॥ ९४ ॥  
अहङ्कारः पञ्चमात्राः शब्दः स्पर्शाकृती रसः ॥  
गन्धो भूतानि पञ्चैव खं वायुर्ज्योतिरपक्षि-  
तिः ॥ ९५ ॥ क्रियामयानीन्द्रियाणि वाग्दो-  
र्मेढ्रांघ्रिपायवः ॥ श्रोत्रं त्वक् घ्राणदृक् जिह्वा-  
मनः षट्चेति भेदतः ॥ ९६ ॥

तत्त्वदीपप्रकाशः ।

तत्त्वानि गणयति ॥ सत्त्वमिति । मनः षडित्यन्तेन मनसः  
क्रियामयत्वे ज्ञानमयत्त्वञ्चाह ॥ भेदत इति । मनसा सह क्रियायां षडि-  
ति ॥ ९४ ॥ ९५ ॥ ९६ ॥

आवरणभंगः ।

गणयतीति ॥ पूर्वसंख्याया उक्तत्वात्तत्पूरणाय गणयतीत्यर्थः ॥ अत्र तत्त्वमित्या-  
दि ॥ सार्द्धद्वयेनाष्टाविंशतीनामुद्देशमात्रं कृतं लक्षणन्तु सत्त्वादिगुणानाम् ॥ तत्र  
सत्त्वान्निर्मलत्वादित्यादिभ्यो गीतावाक्येभ्यो ज्ञेयम् । पुरुषादीनाम्पञ्चविं-  
शतीनान्तु तृतीयस्कन्धस्थकापिलेयवाक्येभ्यः । तत्सर्वं सुबोधिण्यां विवृतम् ।  
तत्र चैकैकस्य लक्षणत्रितयमुक्तन्तेभ्यो व्यवहारोपयोगाय मया प्रस्थानरत्नाकरे  
उद्धृत्यानुदितानि परीक्षितानि चेति तत्प्रपञ्चस्ततोऽवधेयः ॥ उद्ग्रन्थविस्तराभिया-  
त्र न लिख्यते ॥ ९४ ॥ ९५ ॥ ९६ ॥

ब्रजभाषाटीका ।

तासों या ग्रन्थमें भगवत्स्वरूपको पृथक् वर्णन करके तत्त्व-  
नहीं जगत्के कारण बताये हैं और शास्त्रकी तरह तत्त्वमेंही  
मूलस्वरूप सामिल नहीं राख्यो है । अब भगवान्के सिद्धान्तके  
अनुसार तत्त्वकी गणनाकरें है । सत्वगुण १ रजोगुण २ तमो-

गुण ३ पुरुष ४ प्रकृति ५ महत्तत्त्व ६ अहंकार ७ शब्द ८ स्पर्श ९  
आकृति १० गन्ध ११ रस १२ आकाश १३ वायु १४ तेज १५  
जल १६ पृथ्वी १७ वाणी १८ हस्त १९ मेढ्र २० पाद २१ पायु  
२२ कर्ण २३ त्वचा २४ घ्राण २५ दृष्टि २६ जिह्वा २७ मन  
२८ ये अष्टाईस तत्त्व हैं ॥ ९४ ॥ ९५ ॥ ९६ ॥

आध्यात्मिकस्तु यः प्रोक्तः सोऽसावेवाधिदै-  
विकः ॥ अतो हि देवतावर्ग इन्द्रियेभ्यो न भि-  
द्यते ॥ ९७ ॥ माया तु गुणरूपा हि कालस्तु  
भगवान् परः ॥ सूत्रं महास्तथा प्राणो बुद्धिश्चा-  
हमभेदतः ॥ ९८ ॥

तत्त्वदीपप्रकाशः ।

देवतावर्गेणाधिकसंख्यामाशंक्य परिहरन्ति ॥ आध्यात्मिकस्त्व-  
ति ॥ ९७ ॥ माया भिन्नेत्याशंक्याह ॥ मायात्विति ॥ कालस्तु  
भगवत्यन्तर्भूतः ॥ सूत्रन्तु महत्तत्त्वमेव ॥ तथा प्राणो बुद्धिश्च अहङ्कार  
एव तस्मादष्टाविंशतिसंख्याकान्येव ॥ ९८ ॥

आवरणभंगः ।

देवतावर्गेणेति ॥ ॥ तैजसार्दिन्द्रियाणित्विति तैजसशब्दवाच्याद्राजसाहङ्का-  
रार्दिन्द्रियोत्पत्तिः “वैकारिकान्मनो जज्ञे देवा वैकारिका दश । दिग्वातार्कप्रचेतो-  
श्विवर्होद्रोपेन्द्रमित्रकाः ॥” इति वैकारिकशब्दवाच्यात्सात्विकाहङ्कारादेवतोत्प-  
त्तिभेदादुक्त रूपेण तेनेत्यर्थः ॥ आध्यात्मिका इति ॥ ॥ द्वितीयस्कन्धस्य दशमे  
“आध्यात्मिकोयं पुरुषः सोसावेवाधिदैविकः” इत्यत्र जीवान्तर्यामिणोः का-  
र्यभेदेऽपि पाचकपाठकवदेव प्रतिपादितः । प्रकृतेऽपि तृतीयस्कन्धस्य षष्ठे “त्रयोविं-  
शतितत्त्वानाङ्गणं युगपदाविशत्” इति प्राधानिकस्य गणस्य संख्यामुक्त्वाऽग्रे  
“तस्याग्निरास्यं निर्भिन्नं लोकपालोविशत्पदम् । वाचा स्वांशेन वक्तव्यं ययासौ  
प्रतिपद्यत” इत्यादिष्विन्द्रियाणान्देवांशत्वाद्गुणत एवोक्तम् ॥ श्रुतौ चाग्निर्वाग्भूत्वा  
मुखम्राविशदित्युक्तन्तेनेन्द्रियाणान्देवांशत्वादेवाभिन्नत्वम् ॥ आध्यात्मिकादि-  
पदार्थस्तु । आत्मनीत्यध्यात्मं तत्र भव आध्यात्मिकः । एवमाधिदैवकोऽपि ।



एवं सति दैव्येषु भोगादिषु देवतावर्गस्य स्वातन्त्र्येऽपि देहमधिष्ठाय कार्यकारण इन्द्रियाणामेव प्रधान्यस्य पूर्वाक्य उक्तत्वात्तदाधिदैविकानामपि तेष्वेव निवेश इत्यत आध्यात्मिकेभ्य इन्द्रियेभ्यः स न भिद्यत इत्यर्थः ॥९७॥ ॥मायाभिन्नेत्याशंक्येति ॥ “रजःसत्त्वं तम इति निर्गुणस्य गुणास्त्रयः । सर्गस्थितिनिरोधेषु “गृहीता मायया विभोः ” इतिवाक्ये मायागुणयोर्ग्राह्यग्राहकभावोक्तेर्भिन्नेत्यशंक्येत्यर्थः ॥ गुणरूपत्वन्तु दैवी ह्येषा गुणमयीतिवाक्यात् । ननु तथा सति कथमनयोर्वाक्ययोरविरोध इति चेत् ॥ इत्थम् । सामर्थ्यरूपा हि सा । यथा पुरुषस्य कर्मकरणादौ शक्तिः । अतएव कार्यैकोन्नेया “किमावरीवः” इति श्रुतेश्च । एवं सति सिसृक्षया गुणानुत्पाद्य तेषु तान्निक्षिपतीति तदात्मकैव सोच्यते । कीर्तिन्यायाच्च न भगवच्छक्तित्वहानिरतो नानुपपत्तिः कापि । कालो वैशेषिकादिमते द्रव्यान्तरम् । अनीश्वरकपिले तु “दिक्कालावाकाशादिभ्यः” इति सूत्रादाकाशेऽन्तर्भावितः ॥ एकदेशिमते त्वतिरिक्तम्प्राकृतिकन्तत्वम् । अपरैकदेशिमते त्वहङ्कारमूढस्य कर्तुर्भयजनकः पुरुषस्य धर्मः सामर्थ्यविशेषो वा काल इति । तदेकमपि स्वाभिप्रेतन्न भवति । किन्तु श्रुतौ कार्यकोटावगणनादुद्गमस्यापि श्रवणात् “सतोऽभिव्यञ्जकः कालो ब्रह्मतन्त्रितयन्त्वहम्” इति “प्रकतेर्गुणसाम्यस्य निर्विशेषस्य मानवि । चेष्टा यतः स भगवान् काल इत्युपलक्ष्यते ” इति वाक्याच्च स भगवदात्मक एवेत्याशयेनाहुः ॥ कालस्त्वित्यादि ॥ ॥ ननु तेभ्यः समभवत्सूत्रमिति वाक्यात्सूत्रश्राम तत्त्वं भिन्नमेवेत्यत आहुः ॥ सूत्रन्तु महत्तत्त्वमेवेति ॥ “ तेभ्यः समभवत्सूत्रं महान् सूत्रेण संयुतः ” । इति वाक्यादेव तथेत्यर्थः । एतद्वाक्यार्थस्तु । सूत्रं सूचनात् । क्रियाशक्तिमान् प्रथमो विकारः । ततो महान् ज्ञानशक्तिमान् सच सूत्रेण संयुतः सम्यङ्मिश्रितस्ततः पृथङ् न । किंत्वेकमेव तत्त्वम् । ज्ञानक्रियाशक्तिभ्यां द्वेधोच्यत इति । द्वितीयस्कन्धे तु । ततः प्राणो महान्सुरिति प्राणात्मकत्वमप्यस्योक्तम् । वेदे य आस (?) न्यत्वेन प्रसिद्धो भगवद्रूपस्तस्य सूत्रेऽवतारात् । एतद्रूपता च नामसृष्टावुपयोक्ष्यते । प्राणबुद्धिभ्यान्तत्वाधिक्यमाशंक्य परिहरति । तथा प्राणो बुद्धिश्चेति । बुद्धिप्राणस्तु तैजस इति वाक्यात् ॥ तैजसो राजसाहङ्काराभिन्न इत्यर्थः । अस्मिन्पक्षे तैजसाहङ्कार एवासत्यावतारो ज्ञेयः ॥ अतो नानुपपत्तिः । भगवदीयसांख्ये तयोरुत्पत्तिर्नोक्तेत्यत्रापि तत्त्वान्तरता नोक्ता । अतो न तत्वाधिक्यमित्यर्थः । एतेन तृतीयस्कन्धे तैजसाच्च विकुर्वाणाद्बुद्धितत्त्वमभूत्सतीति यदुक्तन्तत्कल्पान्तरानुसारिमतान्तरमिति ज्ञापितम् । प्राणस्य वायुरूपत्वं वादायेत्यप्यवधेयम् । अन्यथा तामसीं सृष्टिं वदन् शास्त्रं तस्मै जसानामिन्द्रियाणामात्मत्वङ्कथं वदेत् । ननु कचिदाकाशादिपञ्चकसत्त्वांशेभ्यो बुद्ध्युत्पत्तिकथनात्सात्विकत्वम्प्रतीयते । आसो-

च्छासाभ्यां वायुत्वेन प्राणस्य तामसत्वमतः कथमुभयो राजसत्वमिति चेन्न । जनन-  
क्रियायामुभयोर्व्यापृतत्वाज्जननस्य च रजोधर्मत्वात्तदुपपत्तेरिति । प्राणलक्षणन्तु  
सर्वेन्द्रियबलदातृत्वम् । अतएव ओजःसहोबलानि प्राणधर्माः । ओज इन्द्रियशक्तिः  
सहो मनःशक्तिर्बलश्च देहशक्तिरिति । अयञ्चाणुः सामर्थ्येन शरीरे सकले प्राणा-  
पानव्यानोदानसमानभेदात्पञ्चधा तिष्ठति । क्वचिच्च नागकूर्मकृकलदेवदत्तधनञ्ज-  
यभेदेन दशधाप्युक्तः । एतेषां स्थानकार्यादिकं विस्तरभयान्नोच्यते । सार्वजनीन-  
त्वात्प्रमाणमपि । बुद्धिस्तु बुद्धिश्च बोद्धव्यश्चेति श्रुतौ करणानुक्रमणे सिद्धा हृदय-  
स्था विशिष्टज्ञानलक्षणकार्यानुमेया च ॥ तत्साधितमाचार्यैः । यो बुद्धिमान् तस्य  
पदार्थज्ञानम्भवतीति । सुबुद्धिरयं पदार्थान् जानातीति च ज्ञानकारणत्वेन बुद्धि-  
र्व्यपदिश्यते । कार्यकारणयोरभेदोपचाराच्च बुद्धिज्ञानयोः पर्यायत्वव्यवहारः ॥  
अन्यथा बालस्य बुद्धयभावेन न पदार्थज्ञानं सम्यग्भवति तत्स्यादिति बुद्धेर्लक्षणा-  
नि तु त्रीणि तत्र द्रव्यस्फुरणविज्ञानत्वं स्वरूपलक्षणम् । इन्द्रियानुग्राहकत्वं संशय-  
विपर्यासनिश्चयस्मृतिस्वप्रवृत्तिकत्वश्चेति द्वयङ्कार्यलक्षणम् ॥ तदुक्तम् “द्रव्यस्फुरण-  
विज्ञानमिन्द्रियाणामनुग्रहः । संशयोऽथ विपर्यासो निश्चयः स्मृतिरेव च । स्वाप  
इत्युच्यते बुद्धेर्लक्षणं वृत्तितः पृथक् ” इति ॥ प्रथमलक्षणे द्रव्यपदं विषयमात्रो-  
पलक्षकम् । तेन विषयनिर्विकल्पकोत्तरं शब्दादिना यद्विशिष्टज्ञानन्तादृशकारा  
बुद्धिरित्याध्यात्मिकन्तल्लक्षणं निर्विकल्पकाकारा तु न बुद्धिः । तारतम्याज्ञापने-  
नेन्द्रियाननुग्राहकत्वाच्च । योगजधर्मजन्यविज्ञानस्यापि विशिष्टज्ञानरूपत्वात्त-  
द्धारणाय समुदितमुपात्तम् । तेनेदम्फलति योगजधर्माजन्या विशिष्टज्ञानसमाना  
कारो ज्ञानेन्द्रियानुग्राहकः पदार्थो बुद्धिरिति । तृतीयलक्षणोक्तावृत्तयस्तु कार्य-  
ज्ञाननिरूपणे संशयादीनां स्वरूपकथने तत्तत्समानाकारत्वेनैव ज्ञाता भविष्य-  
न्तीति प्रस्थानरत्नाकर एव ता विवृता इत्यतो नात्र लक्ष्यन्ते ॥ प्रकृतमनुसरामः ॥  
एवन्तत्वाधिक्यम्परिहृत्य निगमयन्ति ॥ तस्मादित्यादि ॥ ९८ ॥

ब्रजभाषाटीका ।

पुरुषादि पञ्चसि तत्त्वके लक्षण तृतीयस्कन्धमें लिखे हैं, तीनों  
गुणनके लक्षण ( तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात् ) इत्यादि गीतावाक्यमें  
लिखे हैं, मन क्रियामयहै तथा ज्ञानमयभी है; दिशा, वायु, सूर्य,  
प्रचेता, अश्विनीकुमार, अग्नि, इन्द्र, उपेन्द्र, मित्र ये दश इन्द्रिय-  
नके देवताहैं ( वह्निर्वाग्भूत्वा मुखम्प्राविशत् ) इत्यादि श्रुतिमें

देवतोंको ही इन्द्रियरूप होजानों लिखे हैं तासों आध्यात्मिकके साथ आधिदैविकको अभेद मानके इन्द्रियनमें ही इन्द्रियनके देवतानको अन्तर्भाव होवे है ॥ ९७ ॥ ( दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ) इत्यादि वाक्यसों मायाको तीनों गुणनमें अन्तर्भाव है ( सत्त्वं रजस्तम इति निगुर्णस्य गुणास्त्रयः । स्थितिर्गर्ग-निरोधेषु गृहीता मायया विभोः ॥ ) इत्यादिवाक्यानुसार जब भगवान् सृष्टिकी इच्छा करें है तब अपनी सामर्थ्यरूप मायाको अपने गुणनमें डारदे है तासों वो माया गुणमयी कहावे है ( स भगवान् काल इत्युपलक्ष्यते ) इत्यादिवाक्यनसों काल भगवद्रूप है तासों कालकी तत्वनमें गणना नहीं है सूत्रात्मक प्राणको महत्त्वमें अन्तर्भाव है प्राण तथा बुद्धि इनको अहङ्कारमें अन्तर्भाव है ॥ ९८ ॥

प्रकृतिः पुरुषश्चोभौ परमात्माभवत्पुरा ॥ यद्रूपं  
समाधिष्ठाय तदक्षरमुदीर्यते ॥ ९९ ॥ आनन्दां-  
शतिरोभावः सत्त्वमात्रेण तत्र हि ॥ मुख्यजी-  
वस्ततः प्रोक्तः सृष्टीच्छावशगो हरिः ॥ १०० ॥

तत्त्वदीपप्रकाशः ।

अक्षरकालकर्मस्वभावान्निरूपयन् प्रथममक्षरमाह ॥ प्रकृतिः पुरुष-  
श्चेति ॥ भगवान्यदा येन रूपेण कार्यङ्कर्तुमिच्छति तद्रूपमेव व्यापार-  
यति ॥ तत्र ज्ञानेन मोक्षो देय इति यदा विचारयति तदाक्षरमेव  
ब्रह्मस्वरूपम्पुरुषोत्तमस्याधारभागः चरणस्थानीयः । तमादौ चतुर्मु-  
र्तिङ्करोति । अक्षररूपं ब्रह्मरूपम् । कालरूपं स्वभावरूपञ्च तत्र यस्य  
रूपस्य द्वैरूप्यम्भवति प्रकृतिपुरुषभेदेन तदक्षरम् ॥ ९९ ॥ ननु  
पुरुषोत्तमस्वरूपात्तत्र को विशेष इति चेत्तत्राह ॥ आनन्दांशतिरोभा-  
वइति ॥ अग्रेऽहमेवम्भविष्यामीतीच्छामात्रेणान्तःसमुत्थितसत्त्वेनानन्दां-

शस्तिरोहित इव भवति । तेन सृष्टीच्छया व्यापृतो भगवान्मुख्यजवि-  
शब्दावाच्योऽपि भवति ! अत एव औडुलोमिमते जीवानां चिद्रूपाणा-  
ञ्चिद्रूपे स्वयोग्ये ब्रह्माणि प्रवेशः ॥ १०० ॥

आवरणभंगः ।

ब्रह्मतनुः । पर इत्यत्रोक्तं यत्तद्विचारयन्ति ॥ अक्षरेत्यादि ॥ तदाहुरक्षरं ब्रह्म सर्व  
कारणकारणमिति तृतीयस्कन्धवाक्यादक्षरस्य “कालकर्म स्वभावश्च मायेशो माय-  
याऽसृजत । आत्मन्यदृच्छया प्राप्तं विबुधेषु रूपाददे । कालाद्गुणव्यतिकरः परिणा-  
मस्वभावतः । कर्मणो जन्ममहतः पुरुषाधिष्ठितादभूत् ” इति द्वितीयस्कन्धवाक्या-  
त्कालकर्मस्वभावानामपि ब्रह्माण्डसृष्टिपूर्वभावित्वात्ते भविष्यंतीति कथमष्टाविंश-  
तिरेव तत्त्वानीत्याशंकायामेतेषान्तत्त्वतानिराकरणार्थमेतच्चतुष्टयस्वरूपं निरूपयि-  
ष्यन् प्रथममक्षरं लक्षयतीत्यर्थः ॥ अत्राक्षरकर्मस्वभावानीत्यत्र मध्ये कालशब्द-  
स्त्रुटित इति प्रतिभाति । तथाग्रे ब्रह्मरूपमित्यत्र कर्मरूपमिति पाठश्च ॥ व्याख्या-  
नग्रन्थस्वारस्यादिति बोध्यम् । नन्वेवमधिष्ठानस्य किम्प्रयोजनमत आहुः ॥  
भगवानित्यादि ॥ ॥ तथाचाक्षरज्ञाने श्रुतौ मोक्षस्योक्तत्वात्तस्याव्यक्तत्वेन  
दुर्ज्ञेयत्वात्तस्य ज्ञानार्थमेव तदधितिष्ठतीत्यर्थः ॥ एवं प्रयोजनमुक्त्वा लक्षणं व्या-  
कुर्वन्ति । तत्र यस्य रूपस्येत्यादि ॥ ॥ इदमेव च श्रीभागवते सर्वकारणकारण-  
पदेनोक्तम् । सर्वकारणयोः प्रकृतिपुरुषयोः कारणमिति व्याख्यानात् । द्विधा स-  
मभवद्ब्रह्मदिति वाक्याच्च । अत्र मूले समधिष्ठायेति कथनात्सृष्टिकारणे आधारा-  
कांक्षापि पूरिता ॥ तेन शास्त्रे ऊर्णनाभदृष्टान्ते यानुपपत्तिः सापि परिहृता बो-  
ध्या ॥ ९९ ॥ भवतीति ॥ ॥ तथा च पुरुषोत्तमस्तु लीलया इच्छां करोति न तु  
तया व्याप्रियत इत्यतिरोहितानन्दः ॥ अक्षरं तु तया व्यापृतं सन्मलभूतेन सत्त्वेन  
तिरोहितानन्दमुख्यजीवपदवाच्यतान्धत्त इत्येष विशेष इत्यर्थः ॥ आनन्दांशतिरो-  
भावे गमकमाहुः ॥ अत एवौडुलोमीत्यादि ॥ १०० ॥

ब्रजभाषाटीका ।

अक्षर काल कर्म स्वभाव इन चारकीभी तत्वनमें गणना हो-  
नी चाहिये क्योंकि तत्वनके समान येभी ब्रह्माण्डके पूर्व प्रकट  
भये हैं तथा इनके कार्य भी परिणामादिक प्रत्यक्ष हैं इसी शंका-  
को दूर करनेके लिये इनके स्वरूपकूँ वर्णन करते भये प्रथम अक्षर-  
को स्वरूप वर्णन करें हैं ( प्रकृतिरिति ) भगवान् जा स्वरूपकरके

कार्य करनें चाहें वा रूपकें ही ( व्यापृत ) अर्थात् विस्तारयुक्त करें है जब भगवान् ज्ञानकरके मोक्ष देनें चाहें तब पुरुषोत्तम भगवान् अपने चरणस्थानीय आधारभागके चार स्वरूप करें है अक्षरस्वरूप १ कालरूप २ कर्मरूप ३ स्वभावरूप ४ इन चार मूर्तिनमें अक्षर दो रूपवालो है प्रकृति १ पुरुष २ ये दोनों अक्षरके रूप हैं ॥ ९९ ॥ पुरुषोत्तमके स्वरूपसों इनमें इतनी विलक्षणता है आगे मैं जगद्रूप होऊँगो ऐसी इच्छामात्रकरके बढ्यो-भयो जो सत्व ताकरके आनन्दांश ( तिरोहित इव ) छिपे भये के समान गुप्त होजावे है तासों सृष्टि उत्पन्न करवेकी इच्छाकरके व्यापारवाले भगवान् मुख्य जीवशब्दवाच्य होवे है याहीसों औडुलोमिमतमें चिद्रूपजीवनको चिद्रूप ब्रह्ममें ही प्रवेशलिख्यो है अर्थात् सृष्टीच्छाकरके व्यापारवाले ब्रह्मको आनन्द तिरोहिताये रह्यो है तासों चिद्रूप ब्रह्ममें ही लय लिख्यो है ॥ १०० ॥

इच्छामात्रस्तिरोभावस्तस्यायमुपचर्यते॥ब्रह्म-  
कूटस्थाव्यक्तादिशब्दैर्वाच्यो निरन्तरम् १०१  
सर्वावरणयुक्तानि तस्मिन्नण्डानि कोटिशः ॥  
मूलाविच्छेदरूपेण तदाधारतया स्थितिः १०२

तत्त्वदीपप्रकाशः ।

नन्वानन्दांशतिरोभावे जीवत्वमेव स्यात् । यथा महदादीनामित्याशंक्याह ॥ इच्छामात्रादिति ॥ इच्छायाम्प्रविष्टायाङ्कार्यव्यापृत्या तिरोभाव इवोच्यते ॥ वस्तुतस्त्वानन्दमय एव ॥ अत एव पुरुषोऽवतारो भविष्यति ॥ इच्छारूपायाः प्रकृतेर्भिन्नत्वेवाचकैरपि तस्य न जीवत्वमित्यभिप्रायेणाह ॥ ब्रह्मेति ॥ आदिशब्देनासत्सत्तमः शब्दादयो गृह्यन्ते ॥ तथापि न पुरुषोत्तमात् भिन्नतया व्यवस्थितिः । किन्तु निर-

न्तरमेव तस्यैव कारणत्वं ज्ञापयितुं तत्रैव कार्यस्थितिमाह ॥ १०१ ॥  
सर्वावरणयुक्तानीति ॥ तदाहुरक्षरं ब्रह्मेतिवाक्यात् ॥ एतस्याक्षरस्थ  
पुरुषोत्तमे अभेदेन यथा निवेशस्तथा प्रकारा उच्यन्ते ॥ तदाह ॥



महत्तत्त्वाहङ्कारके समान अक्षरभी जडही होजाय ॥ १०० ॥ इच्छा सघन होयकें पृथक् स्थित होयहै वाकोही नाम प्रकृतिहै अक्षरब्रह्म जीव नहिं कहावेहै ब्रह्म कूटस्थ अव्यक्त आदिशब्दनसों कह्योजावें हैं सृष्टिकी आदिमें ( सदेवेदमग्र आसीत् अरु देवेदमग्र आसीत् तम एवेदमग्र आसीत् ) इत्यादिकनमें असत् सत् तम आदि शब्दनसों भी अक्षरहीकों ग्रहण करना ॥ १०१ ॥ अक्षर है सो पुरुषोत्तमसों न्यारो होयकरके स्थित रहें है वो अक्षरब्रह्मही जगत्को कारणहै वामें ही कार्य रहेहै अर्थात् पृथ्वी जलादिकनके आवरणसहित कोडन ब्रह्माण्ड वा अक्षर ब्रह्ममें स्थित रहे हैं वे अक्षरब्रह्म मूल पुरुषोत्तममें अभेदसम्बन्धसों रहें हैं ॥ १०२ ॥

प्रभुत्वेन हरेः स्फूर्तौ लोकत्वेन तदुद्भवः ॥  
अन्तर्याम्यवतारादिरूपे पादत्वमस्य हि ॥  
॥ १०३ ॥ हंसाकृतित्वकथने पुच्छत्वम्प-  
रमात्मनः ॥ तदुपासनया ज्ञानात्परमात्मत्व-  
मस्य हि ॥ १०४ ॥ ज्ञानमार्गे त्वेतदेव सेव्यं  
कृष्णस्ततोऽधिकः ॥ रूपान्तरन्तु तस्यैव सर्व-  
सामर्थ्यसंयुतम् ॥ १०५ ॥

तत्त्वदीपप्रकाशः ।

एषा स्थितिः सर्वदा कदाचित्पुनः पुरुषोत्तमश्चेदाविर्भवति तदाक्षर-  
मपि बहुधा भवतीत्याह ॥ प्रभुत्वेनेति ॥ प्रभुर्वैकुण्ठवासी लोको वैकुण्ठः  
जीवजडाकारेण प्रादुर्भवतीत्यर्थः ॥ अतएव वैकुण्ठवासिनो मुक्ताः ॥  
ततोऽपि पुरुषोत्तमो महान् ॥ अतएवाभेदश्चास्मदादीनामिति वाक्यं  
संगच्छते । अंतरुपासनायामन्तर्यामिरूपेण प्रकटो भवति तदा सद्यो-

मुक्तौ ज्ञानिनस्त्वच्चरणारविन्दमेव प्रविशन्ति तदक्षरस्य पादत्वम् ॥  
 तथावतारेपि ॥ चैद्ये च सात्वतपतेश्वरणम्प्रविष्ट इति ॥ आदिशब्देना-  
 धिदैवाधिरूपेष्वपि ॥ १०३ ॥ आनन्दमयनिरूपणे हंसाकृतित्वकथनम् ॥  
 तत्र ब्रह्मपुच्छम्प्रतिष्ठेति ब्रह्माक्षरमानन्दमयस्य पुच्छमिति ॥ निंसन्दे-  
 हाय परमात्मपदम् ॥ एवमनेकभावापन्नमपि ज्ञानमार्गेऽक्षरत्वेनैव सेव्य-  
 मित्याह ॥ तदुपासनयेति ॥ प्रथमतस्तस्यैव निदिध्यासनेन यत् ज्ञान-  
 मुत्पद्यते तेनास्याधिकारिणः परमात्मत्वमेव नत्वक्षरमात्रतेति ॥ भग-  
 वद्वचनादवगम्यते ॥ ते प्राप्नुवन्ति मामेवेति हिशब्दार्थः ॥ भक्तिमार्गे  
 त्वारम्भत एव परमानन्दः । ज्ञानमार्गे त्वन्तत इति विशेषः । तथापि  
 ज्ञानमार्गे अक्षरमेव सेव्यम् ॥ एवमभेदेपि वैलक्षण्यन्निरूप्य यदर्थमेत-  
 न्निरूपितन्तदाह ॥ कृष्णस्ततोधिक इति ॥ अक्षरादपि चोत्तम इत्या-  
 दिवाक्यं समर्थितम्भवति तस्यैव रूपान्तरङ्गाल इत्याह ॥ रूपान्तर-  
 मिति ॥ तस्य रूपान्तरत्वे हेतुमाह ॥ सर्वसामर्थ्यसंयुतमिति ॥ सर्वा-  
 कारेण भवनातिरिक्तं यावत्किञ्चित्सामर्थ्यं मायाविशेषः ॥ तत्संयुतन्तेना-  
 स्य सर्वाधिकारित्वन्निरूपितम् ॥ १०४ ॥ १०५ ॥

आवरणभंगः ।

एषास्थितिरिति ॥ ॥ मूलम्पुरुषोत्तमस्तमाधारं कृत्वा या स्थितिः सेत्यर्थः ।  
 नच पुरुषोत्तमस्याप्याधारान्तरमपेक्षणीयम् । मूले मूलाभावादमूलम्मूलमिति  
 न्यायात् ॥ एवंसति तद्धामपरमम्ममेत्यादिभिर्धर्मभेदे स्मृते तद्विन्नत्वशङ्कोदेति  
 सा चाक्षरमंबरान्तधृतेरित्यत्राक्षरशब्दवाच्यत्वस्य ब्रह्मणि व्यवस्थापनात्परिहृता ।  
 स्वस्यैवाधारत्वमाधेयत्वञ्चेति तु विरुद्धधर्माश्रयत्वादेव सिद्धमिति न शंकावकाशः ।  
 जीवजडाकारेणाविर्भेतीति । इदञ्च द्वितीयस्कन्धनवमाध्याये प्रसिद्धम् ॥ ततोपी-  
 ति ॥ ॥ प्रभुत्वादपीत्यर्थः ॥ एवं स्वरूपकोटिस्थत्वेपि न्यूनत्वं समर्थितं शेषं  
 स्फुटम् ॥ अत एवेति ॥ ॥ अक्षरात्मत्वादेवेत्यर्थः ॥ एतेन एकात्मवादस्यापि  
 मूलमुक्तम् ॥ अत एवेति ॥ ॥ मुक्तत आधिक्यादेव अभेद इति वाक्यन्तु स्कान्द-  
 भारततात्पर्यं मध्वाचार्यैरुपन्यस्तम् । “ अभेदश्चास्मदादीनां युक्तानां हरिणा  
 तथा । इत्यादि सर्वं मोहाय कथ्यते पुत्र नान्यथा ॥ ” इति ॥ एवम्प्रमेयान्निर्णय उ-

क्तः ॥१०३॥ साधनफलाभ्यान्निर्णेतुमाहुः ॥ एवमनेकेत्यादि ॥ ॥ शेषं स्पष्टम् ।  
अथकालस्य तद्रूपत्वेऽपि स्वतन्त्रत्वाय लक्षणादिकं वक्तुमाहुः ॥ तस्य स्वरूपान्तर-  
मित्यादि ॥ “ प्रकृतिर्ह्यस्योपादानमाधारः पुरुषः परः ॥ सतोभिव्यञ्जकः का-  
लो ब्रह्मतत्रितयं त्वहम् ॥ ” इतिवाक्ये कालस्य ब्रह्मपदेनाक्षरब्रह्मरूपतोक्ता ॥  
दिधासमभवद्ब्रह्मादित्युपक्रमात् नतु तदुत्पत्तिः ॥ तेन रूपान्तरम् ॥ हेतुमिति ॥ ॥  
गमकमित्यर्थः ॥ प्रकृतेरुपादानत्वमुक्त्वा सदभिव्यञ्जकत्वमात्रमुक्तमित्यनेन निमि-  
त्तरूपतया कारणत्वमित्याभिप्रेत्याहुः ॥ सर्वाकारेत्यादि ॥ ॥ एवम्प्रमाणतो  
निर्णय उक्तः ॥ १०४ ॥ १०५ ॥

ब्रजभाषाटीका ।

वामें प्रकार दिखावें है पुरुषोत्तमको सर्वदा आधारकरके अक्षर  
स्थित रहे है जब पुरुषोत्तम प्रकट होवे है तब अक्षरब्रह्म भी बहुत  
प्रकारको होवे है अर्थात् प्रभु वैकुण्ठमें निवास करे है तब अक्षरब्रह्म  
वैकुण्ठलोक रूप तथा वैकुण्ठके जडजीवरूप होयके प्रकट होय है या-  
हीसों वैकुण्ठवासी जीव मुक्त कहे जावे हैं पुरुषोत्तम तो अक्षरसों  
भी बडे हैं याहीसों ( अभेदश्चास्मदादीनाम् ) इत्यादिवाक्य संगत  
होय है उपासनाकरवेसों जब अन्तर्यामीरूप करके प्रकट होय है  
तब ज्ञानी आपके चरणारविन्दमें प्रवेश होवे है अक्षरब्रह्म आपके  
चरणरूप है ऐसे ही अवतार धारण करें है तब भी अक्षर ब्रह्म  
आपके चरणरूप ही रहे है आधिदैविकरूपनमें भी अक्षरब्रह्म पाद-  
रूप रहे है ॥ १०३ ॥ वेदभी आनन्दमय परब्रह्मको जहाँ हंसरूप-  
करके वर्णन करें है तहाँ ( ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा ) या श्रुतिमें आनन्द-  
मय परब्रह्मरूप हंसकी पूँछ अक्षरब्रह्मरूप बताया है ऐसे अक्षरब्रह्म  
अनेकरूप है तथापि ज्ञानमार्गमें तो अचिन्त्य अर्थात् जाको वि-  
चारकरवेमें नहिं आयसके जाको वर्णन नहिं करसके ऐसे रूपसों  
ही अक्षरब्रह्मकी उपासना करें है उनकें क्लेश अत्यन्त होवे है जब  
उपासनासों ज्ञान होय है तब परमात्माकें प्राप्त होवे है भक्तिमार्गमें तो

रूपनसों काल व्यवहारमें भी आवेंहै परन्तु कोई पुरुषके प्रत्यक्ष नहीं होयहै ( योन्तर्धावति जन्तुषु ) इत्याद्यनुसार जो सबके भीतर रहेहैं ( बहिर्मुख ) बाहिर जिनकी इन्द्रियनकी वृत्तिहै उन-  
 कूँ बाहिर कालका अनुभव होय परन्तु प्रत्यक्ष नहीं होय सच्चिदानन्दरूप भगवान् हि कालरूप होवेंहै तासों ज्ञानिनकूँ तो कालके भीतर सत् चित् आनन्द तीनों प्रकट दीखेहैं यह काल क्यों बनायो ? उत्तर—काल पुरुषोत्तमकी क्रियाशक्तिरूप है ताही सों भागवतमें कालकूँ पुरुषोत्तमकी चेष्टारूप लिख्योहै समस्तजगत्के उत्पन्नहोयवेमें ये काल निमित्तकारणहै याके देखवे सों कछु सिद्ध नहिं है किन्तु अर्जुनके तुल्य कालरूप देखवेसों भय मात्रही होय तासों क्रियाशक्तिमात्र यामें प्रधान राखीहै ताहीसों सबको निमित्तकारणहै और ( नित्यगः ) चलवेको याको स्वभावहै सदा चलतो ही रहेहै और सबको नियामक है सर्व जगत्कूँ अपने भीतर धरके आप सदा चलतो रहेहैं ताहीसों नित्यप्रलयकी भी सिद्धि है सबको लयकरे है ॥ १०६ ॥ १०७ ॥

विकृतावेव तच्छक्तिं सर्वोत्पत्त्यन्तभावनः ॥

ऐश्वर्यं भगवद्दत्तन्तत्रैव प्रतितिष्ठति ॥ १०८ ॥

अतएवेश्वरः प्रोक्तः सर्वान्तर उदीरितः ॥

आसुरादिमतेतस्मान्नान्यःसेव्यःकथञ्चन १०९

तत्त्वदीपप्रकाशः ।

इदं कृष्णस्य सामर्थ्यम्पुरुषोत्तमोऽक्षरातिरिक्त एवेत्याह ॥ विकृतावेवेति ॥ विकृतौ किङ्करोतीत्याकांक्षायामाह ॥ सर्वोत्पत्त्यन्तभावन इति ॥ केचिदस्यैवेश्वरत्वमाहुः ॥ केचिदन्तर्यामिणः ॥ तत्रास्येश्वरत्वे

हेतुमाह ॥ ऐश्वर्यम्भगवद्वत्तमिति ॥ मुख्योयमधिकारी तेन सर्वापे-  
क्षया भगवत्सेवकेष्वयमन्तरङ्गः ॥ १०८ ॥ अस्य महत्त्वाय सेवका-  
नामुपासनाप्रकारञ्चाह ॥ आसुरादिमते ॥ तस्मादिति ॥ १०९ ॥

आवरणभंगः ।

ईश्वरेण परिच्छिन्नङ्गालेनाव्यक्तमूर्तिनेत्यत्र विश्वपरिच्छेदकत्वमीश्वरत्वञ्चोक्त-  
न्तद्विवेचयितुमाहुः । कृष्णस्येत्यारभ्यान्तरङ्ग इत्यन्तम् ॥ ॥ इदमिति ॥  
प्रलायकत्वरूपं सामर्थ्यमिति ॥ “प्रभावस्पुरुषम्प्राहुः कालमेके यतोभयम्” इति ॥  
वाक्ये प्रभावत्वेन कथनात्तथेत्यर्थः ॥ अन्तर्यामिण ईश्वरत्वम् “ईश्वरः सर्वभूता-  
नां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति” इत्यत्रोक्तम् । अन्तरङ्ग इत्यनेन मूलस्थं सर्वान्तर-  
पदं विवृतम् । सर्वापेक्षयाऽऽन्तर इति समासात् ॥ १०८ ॥ फलतः साधनतो  
निर्णेतुमाहुः ॥ अस्य महत्त्वायेत्यादि ॥ १०९ ॥

ब्रजभाषाटीका ।

यह कालमें कृष्णकी सामर्थ्य है ॥ विकार जितनो है सब काल  
शक्तिको कियो है सब पदार्थके उत्पत्तिनाशमें निमित्त काल है  
कितनेक तो कालकूँ ही ईश्वर माने हैं कितनेक अन्तर्यामीकूँ ई-  
श्वर माने हैं तहाँ काल ईश्वर कैसें होय सकें यह शंका नहीं करनी  
भगवान्ने कालकूँ ईश्वरता दीनी है सो सर्वदा कालमें ही रहे है ॥  
॥ १०८ ॥ जैसे राजा मुख्य अमात्यकूँ छत्रचमरगजादिकूँ देवे है  
ऐसे ही भगवान्को मुख्य अधिकारी काल है, जितने अधिकारी  
देवता हैं उन सबकी अपेक्षा यह अन्तरंग है, असुरलोग कालकूँ  
ही ईश्वर माने हैं ईश्वरके तुल्य काल उनकूँ कृष्णेच्छाके अनुसार  
फलभी देता है ॥ १०९ ॥

मुख्याधिकारी कृष्णस्य प्रभुवत्फलसाधकः ॥

सूर्यगत्या तु तद्भेदाः सूर्यस्तस्याधिभौति-  
कम् ॥ ११० ॥ आध्यात्मिके तु तद्भेदाः कचिदि-

## च्छापि भेदिका ॥ विधिषेधप्रकारेण यः क्रिया- शक्तिरुद्धतः ॥ १११ ॥

तत्त्वदीपप्रकाशः ।

तस्मान्यथाकरणं व्यावर्त्तयति ॥ प्रभुवत्फलसाधक इति ॥ तस्य परिज्ञानार्थन्तर्ज्जेदानाह ॥ सूर्यगत्येति ॥ तस्याप्याध्यात्मिकादिरूपम-  
स्तीत्याह ॥ सूर्य इति ॥ आधिभौतिकरूपन्तस्य सूर्यः । आध्यात्मिकं  
युगादि ॥ ११० ॥ रात्रौ युगाद्यभावात् भेदसिद्धयर्थमाह ॥ क्वचिदि-  
च्छापीति ॥ एवङ्कालन्निरूप्य कर्म निरूपयति ॥ विधिषेधप्रकारेणेति ॥  
रूपान्तरन्तु तस्यैवेत्यनुवर्त्तते यथा कालो रूपमक्षरस्य तथा कर्म्मपि  
परमेतावान्विशेषः । कालः स्वतएव प्रकटः । अयन्तु पुरुषैर्विधिनिषेधप्र-  
कारेण प्रकटीक्रियते ॥ अतः कालापेक्षया लोकानां हिताहितप्रदाने  
विशिष्यते ॥ अयञ्च क्रियारूपो धर्मिणो धर्मे प्रवेशात् ॥ १११ ॥

आवरणभगः ।

॥ अन्यथाकरणमिति ॥ उपासकपक्षपातेन भगवद्विसंमतकरणमित्यर्थः ॥  
आध्यात्मिकाधिभौतिकयोः कालयोर्लोकशास्त्रप्रमाणकत्वायाहुः ॥ ॥ तस्य प-  
रिज्ञानार्थमित्यादि ॥ ॥ युगादीति ॥ ॥ आदिपदम्परमाण्वाद्विपराद्वा-  
न्तकालोपलक्षकम् । परमाण्वादिलक्षणन्तु “चरमः सद्विशेषाणाम्” इत्यादिना  
तृतीयस्कन्धे निरूपितन्तत्सुबोधिनीतोऽवगन्तव्यम् । मयापि प्रस्थानरत्नाकरे  
तद्विमृष्टमिति नेह प्रपञ्च्यते ॥ एवमत्र प्रमाणादिचतुष्टयेन कालस्वरूपनिर्णीतम् ॥  
॥ ११० ॥ ॥ कर्म निरूपयतीति ॥ ॥ अंशतः प्रमाणानुरोधित्वमंशतस्त-  
दभावश्च बोधयितुन्तन्निरूपयतीत्यर्थः ॥ ॥ अयंत्विति ॥ ॥ क्रियाशक्तिर्यस्य  
तादृशो भगवान् ॥ ॥ अत इति ॥ ॥ प्रतिपुरुषं तेन तेन प्रकटीभावात् ॥  
॥ विशिष्यत इति ॥ असाधारणो भवतीत्यर्थः । एवं प्रमाणान्निर्णय उक्तः । पूर्वं  
प्रमाणप्रकरणत्वात्प्रमाणानुरोधिकर्मण एव स्वरूपं विवृतम् सर्वस्येति प्रकृते प्रक-  
रणे प्रमाणानुरोधपि निवेश्य तत्स्वरूपमाहुः ॥ अयञ्चेत्यादि ॥ एवम्प्रमे-  
यान्निर्णय उक्तः ॥ १११ ॥

ब्रजभाषाटीका ।

काल के ज्ञान होयवेकेलिये कालके भेदनकूँ कहे है (सूर्यगत्येति) ।



सूर्यकी गतियों याके भेद मालूम पड़ें हैं कालको आधिभौ-  
तिकरूप सूर्य है ॥ ११० ॥ कालको आध्यात्मिक रूप सत्ययुग  
त्रेता द्वापर आदि युग परमाणुओं लेकर घड़ीपहर महिना वर्ष  
ब्रह्माकी आयुष्यतक है, कहीं कहीं भगवान्की इच्छाभी कालको  
भेद करदें है जैसे रात्रिको विभाग इच्छाकृत है ॥ कर्मको निरू-  
पण करें है ( विधिषेधेति ) कर्मभी अक्षरकोही एक रूपान्तर  
है जैसे काल है तैसेही है परन्तु इतनों फर्क है काल स्वतः प्रकट  
होवे है कर्मकूँ विधिनिषेधकें प्रकारकरकें पुरुष प्रकट करें है का-  
लकी अपेक्षा लोकनकें हित अहित करवेमें कर्मकी विशेषता है  
करवेवारे पुरुषकूँ खोटी कर्म दुःख देत है अच्छो कर्म सुखदेत है  
कर्मभी किर्यारूप है ॥ १११ ॥

तत्कर्म प्रगटन्तावत् यावत्फलसमापनम् ॥  
तदेकम्भगवद्रूपं साधारण्येन सर्वगम् ॥ ११२ ॥  
अग्रपश्चाद्भावभेदाद्विधा प्रकटमुच्यते ॥ सृष्टौ  
साधारणन्तद्वि स्वांशेन प्रकटं यथा ॥ ११३ ॥

तत्त्वदीपप्रकाशः ।

कालवत्स न नित्यप्रकटः । किन्तु फलदानपर्यन्तमेवेत्याह ॥ याव-  
त्फलसमापनमिति ॥ तस्य प्रतिपुरुषभेदो भविष्यतीत्याशङ्क्याह ॥  
तदेकम्भगवद्रूपमिति ॥ व्यापकन्तद्रूपम् ॥ तथापि येन यावद्रूपविधि-  
प्रकारेण निषेधप्रकारेण वा प्रकटीक्रियते तस्य तावत्फलं दत्वा तदंशेन  
तिरोभवतीति साधारण्येनापि सर्वसम्भवान्नप्रतिसर्म्मव्यवस्थेत्यर्थः ॥  
॥ ११२ ॥ तर्हि एकः कथं युगपत्सुखदुःखे प्रयच्छतीत्याशङ्क्याह ॥  
अग्रपश्चाद्भावभेदादिति ॥ तस्यैकत्वे प्रमाणमाह ॥ सृष्टौ साधारण-  
मिति ॥ कालङ्कर्म स्वभावञ्चेति वाक्यात्सृष्टिकाले यादृशं रूपन्तेन-  
परिच्छेद्यं स एवांशः प्रकटः ॥ ११३ ॥

आवरणभंगः ।

॥ कालवदित्यादि ॥ ॥ फलभोगान्तरङ्गमनाशस्मरणात्तथेत्यर्थः ॥  
 एतेन फलान्निर्णय उक्तः ॥ कर्मणः सकाशात् श्रमेव फलमिति । न च नित्यकर्म-  
 फले व्यभिचारः शङ्क्यः । न च ग्रस्तमनन्तरमित्यस्य दशामरन्यायेन योज्यत्वात् ।  
 अन्यथा तादृशकर्मभ्यासोत्तरं विशेषशुद्धयभावेऽप्ये ज्ञानोदयविरहप्रसङ्गादिति ॥  
 ॥ तस्येति ॥ ॥ उक्तरीत्या असाधारणस्य न प्रतिकर्मव्यवस्थेति ॥ न प्रतिपुरु-  
 षमदृष्टरूपकर्मभेद इत्यर्थः ॥ तथा चादृष्टापूर्वादिशब्देनैतदंश एवोच्यते प्रार-  
 ब्धसाञ्चितक्रियमाणत्वमेतस्यैवास्याभेदेन भवतीति कर्मनानात्वकल्पनमतिगौरव-  
 ग्रस्तमेवेति भावः ॥ ११२ ॥ ॥ युगपदिति ॥ प्रतिपुरुषभेदोऽप्येककाले ॥ अग्रपश्चा-  
 द्भावभेदादिति ॥ ॥ येन पुंसा यस्मिन्काले विधिप्रकारेण प्रकटितस्तस्मिन्नेव काले  
 तदितरेण पुंसा निषेधप्रकारेण प्रकटीक्रियत इति प्रकारस्याग्रपश्चाद्भावभेदादेक-  
 स्मिन्नेव काले द्विप्रकटं सत् तस्य तस्य युगपदेव तत्तत्प्रयच्छतीत्यर्थः ॥ ॥  
 तस्येति ॥ साधनस्वरूपफलैरेवमुपपाद्यमानस्य नचैकत्वं ग्रहैकत्ववदविवक्षितमिति  
 वाच्यम् । कालेपि तथात्वापत्तेः ॥ एतेषामुपादेयत्वेनोद्देश्यत्वाद्ग्रहणायस्यात्राप्र-  
 वृत्तेश्च ॥ अन्यथाप्रायपाठबाधापत्तेश्चेति । ननु सृष्टिप्रारम्भे विधिषेधप्रकारस्याभा-  
 वात्तदानीन्तत्प्राकट्याभावे महदादिजन्मानुपपत्तिरित्यत आहुः ॥ ॥ सृष्टीत्या-  
 दि ॥ तथाच कालो यथा भगवदिच्छया गुणसाम्यमपाकृत्य रज उद्रेचयति तथा  
 कर्मापि भगवदिच्छया महदादिरूपं परिच्छेच्छुक्ताह तैवांशेन प्रकटीभवतीत्यर्थः ॥  
 इयमेवोपपत्तिरुत्तरार्द्धेऽप्यवगन्तव्येत्याहुः ॥ ११३ ॥

ब्रजभाषाटीका ।

यामें धर्म भगवान्को प्रवेश होय तब कर्मफल दें है कालके  
 समान कर्म सदा प्रकट नहीं रहे हैं, करवेवालेकूँ फल नहीं मिले  
 जहाँतक कर्म प्रकट रहे हैं फिर लुप्त होजाय है । कर्म व्यापक है  
 और एक है विधिके द्वारा वा निषेधकरके जा पुरुषसों कर्मको  
 जितनो अंश प्रकट कियोजाय है वितनो अंश प्रकट होयके वाकूँ  
 वितनो ही फल देके लुप्त होजाय है तासों साधारणरीतिकरके ए-  
 कही कर्मसों सब कार्य होवें है जीवजीवकी साथ न्यारेन्यारे कर्म  
 नहीं माननें ॥ ११२ ॥ कर्म एकहै तो एकसाथ कोई प्राणिनकूँ दुःख  
 और कोईनकूँ सुख कैसे देसकें है ऐसी शंका नहीं करनी जा कालमें

कोई पुरुषनें सुकर्म प्रकट कियो वाही कालमें दूसरे पुरुषनें विषिद्ध कर्म कियो तासों प्रकारमें अग्रपश्चाद्भावको भेदहै फिर दोनों एकही कालमें प्रकट भयो कर्म पुरुषभेदसों सुखदुःख दे हैं तहाँ सृष्टिप्रारम्भमें तो विधिनिषेधको प्रकार हतोही नहीं तासों कर्मभी वासमय प्रकट नहिं भयो होयगो फिर विनाकर्म महत्तत्त्वादिकनकी उत्पत्ति कैसें भई यह शंका नहिं नरनी क्योंकि वा समय साधारण कर्म विद्यमान हतो अर्थात् जैसें काल है सो भगवान्की इच्छासों तीनों गुणनकी समताकों मेटकरके सृष्टिप्रारंभसमयमें रजोगुणकूँ बढ़ाय देतहै ऐसें साधारण कर्मभी भगवान्की इच्छा करके महत्तत्त्वादिकनको परिच्छेदकरवेकूँ वितने अंशकरके प्रकट होय है ॥११३॥

कालवत्सकलं रूपमङ्गन्तद्वशगन्तथा ॥ इच्छा-  
मात्रप्रकटनं सर्वथा तत्तिरोहितम् ॥ ११४ ॥ सर्व-  
वस्त्वाश्रितम्पश्चात्स्वभावोऽयं हरेस्तनुः ॥ व-  
स्तूद्रमतिरोभावैस्तथा सत्त्वादिभिः पुनः ११५

तत्त्वदीपप्रकाशः ।

अस्यापि चिदानन्दादितिरोभावादिः कालवदेवेत्याह ॥ कालवदि-  
ति ॥ विशेषमाह ॥ तद्वशगमिति ॥ यत्रयः कालवशे भवति तमेव  
व्याप्नोति नत्वन्यमित्यर्थः ॥ एवङ्कर्म निरूप्य स्वभावन्निरूपयति ॥  
इच्छामात्रेति ॥ भगवदिच्छारूपेण प्रकटो भवति न सच्चिदानन्दरू-  
पेण ॥ ११४ ॥ तस्य स्वरूपं व्यवहारोपयोग्याह ॥ सर्ववस्त्वाश्रित-  
मिति ॥ तद्रूपं जगदाधारं स्वांशभेदेन तत्रतत्र तिष्ठति ॥ तत्रापि न  
लीनः । नापि वस्तुनः पश्चाद्भागे तिष्ठति । किन्तु पश्चाद्भागे सर्वं स्थाप-  
यित्वा स्वयमेव प्रकटो भवति । यथा स्वभावदुष्टानां ज्ञानादिकं तिरस्कृ-  
त्य स्वरूपेण प्रकटस्तदाह ॥ पश्चादिति ॥ एतस्य कार्यवत्स्वरूपम्मा-

भवत्वित्याह ॥ हरेस्तनुरिति ॥ अस्याविर्भावतिरोभावयोरुपपत्तिमाह ॥  
वस्तूद्रमेति ॥ अस्योद्रमतिरोभावयोर्वस्तुनियामकम् ॥ तथा सत्त्वादि-  
गुणाः ॥ ज्ञानं कर्म च ॥ अतो बहुवोद्रमः ॥ तस्य द्रव्याविर्भावेणाप्या-  
विर्भावः । विरोधिगुणप्रादुर्भावे पूर्वस्वभावो निवर्तते अन्यश्चोदेति ॥  
तथा मन्त्रशास्त्रादिभिरपि ॥ अतो बहुवोद्रमतिरोभावौ ॥ ११५ ॥

आवरणभंगः ।

॥ अस्यापीत्यादि ॥ एवञ्च सर्वकार्माणि मनसेत्यादौ बहुवचनं लौकिकक्रिया-  
परम् । दानहिंसादिषु धर्माधर्मादिप्रयोगोऽभिव्यञ्जकोपाधिनाभाक्त इति ज्ञेय-  
म् । नच कर्मण एकत्वेऽपि यदंशो येनोद्रमितस्तस्य तत्सम्बन्धित्वेनैव फलदायक-  
त्वादमूर्तस्य च दानायोग्यत्वात् “ पुण्यदः पुण्यमाप्नोति पापदः पापभागभवेत् ”  
इत्यादिवाक्यानुपपत्तिः । दानस्य स्वसत्तापरित्यागपूर्वकं परसत्तापादनात्मक-  
त्वेन पूर्वक्रियया अभिव्यक्तस्य पुण्यादेस्तदंशस्योत्तरकालीनया दानक्रियया परस-  
म्बन्धापादने वचनबलेन पुत्रेष्ट्यादिवद्व्यधिकरणफलोत्पादकत्वस्य सुखेनोपपत्तेः ॥  
अमूर्तत्वस्यात्मगुणभूतादृष्टात्मककर्मनानात्ववादिमतेऽपि तुल्यत्वाच्च । अत एव  
विश्वामित्रादेस्त्रिशंकादीनां स्वर्गादिरप्युपपद्यते । एवं सति विहितनिषिद्धप्रकारक-  
क्रियाभिव्यंग्या क्रिया कर्मेति तल्लक्षणं सिद्धयति । अत्र क्रियाफलस्य स्वर्गादेर्वा-  
रणाय क्रियेति । लौकिकादिक्रियावारणाय विहितेत्यादि ॥ कर्मेकत्वनिरूपण  
एव स्वभावैक्ये प्रमाणस्योक्तत्वात्प्रमेयेण तन्निरूपयति ॥ ॥ भगवदिच्छेत्यादि ॥  
एतेन मूले व्यधिकरणपदो बहुव्रीहिर्बोधितः ॥ इच्छामात्रेण रूपेण प्रकटनम्प्रा-  
कृत्यं यस्येति ॥ सर्वथा तेषां सच्चिदानन्दानान्तिरोधानं यस्मिन्निति । दुग्धमृत्सू-  
त्रादिकन्दधिघटपटादिरूपेणैव परिणमति नेतरेण रूपेण । तत्र तादृशी भगवदि-  
च्छैव हेतुः । मयूराश्वित्रिता येनेति वाक्यात् ॥ तथा च सैव परिणामहेतुभूता इच्छा  
स्वभाव इति वक्तुं शक्यं यद्यपि तथापि “ कालङ्कर्म स्वभावश्च मायेशो मायया  
स्वया । आत्मन्यहच्छया प्राप्तं विबुभूषुरुपाददे ” इति वाक्ये उपादानगोचरतया  
कालादिवद्भिन्नया च निर्देशान्नेच्छास्वभावः । किन्तु इच्छाकारेण प्रकटो भवति  
बुद्धिरिव विज्ञानरूपेण । तथा सच्चिदानन्दरूपेणापि न प्रत्यक्षीभवति तेन तथे-  
त्यर्थः ॥ ११४ ॥ ॥ तस्येत्यादि ॥ यथा कालोतीतानागतचिराक्षिप्रादिव्यवहार-  
साधकतया निराधारव्यवहारोपयोगी । यथाच कर्म प्रतिनियतभोगसाधकतया  
चेतनाधारमेव व्यवहारोपयोगि । तथा स्वभावं कथमुपयुज्यत इत्याकांक्षायामाहे-

त्यर्थः ॥ ॥ जगदाधारमिति ॥ चेतनाचेतनवस्त्वाधारमित्यर्थः ॥ स्वरूपेण प्रकट इति तादृशानां स्वरूपे दृष्टमात्र एव दुष्टोयमित्यादिप्रतीतेरुदयात्तथेत्यर्थः ॥ पश्वादिति ॥ क्रियाविशेषणमेतत् ॥ तथा च सर्ववस्तुपश्चाद्यथास्यात्तथा सर्ववस्तु-  
ष्वाश्रितमित्यर्थः ॥ एवम्प्रमेयादेस्तन्निर्णय उक्तः ॥ ॥ एतस्येति सकल जगदाश्रि-  
तत्वेन प्रतिपाद्यमानस्य ॥ अतो बहुधोद्गम इत्यादि ॥ एतेन साधनादुक्तः ॥ ११५ ॥

ब्रजभाषाटीका ।

कालके समान कर्ममें भी चित् आनन्द आदिको तिरोभाव है कालके समानही एक होकर व्यापक है और जो कालके वश होरह्यो होय वाकूँही कर्म व्याप्त करसके है औरकूँ नहिं व्याप्त कर-  
सकेहै ॥ स्वभावको वर्णन करें है ( इच्छामात्रेणेति ) स्वभावहै सो सच्चिदानन्दरूप करकें नहिं प्रकट होयहै किन्तु भगवान्की इच्छा-  
रूपकरकें स्वभाव प्रकट होयहै, स्वभावमें सत् चित् आनन्दको सर्व-  
था तिरोभावहै ॥ ११४ ॥ अर्थात् पदार्थनकूँ ( परिणाम ) बदलवेवारी जो भगवदिच्छा वाहीसों स्वभाव कहेहै वो स्वभाव सब दार्थनमें रहे  
है दूधको दधि बनजावेहै दूधको तैल नहिं बनजावे तथा मृत्तिकासों पट नहिं बने घटही बनेहै डोरानसो घडा नहिं बने कपडाही बने है  
यामें भगवान्की इच्छाही कारणहै मयूरमें चित्र विचित्र रंग होजावे है हंस सपेत होजावेहै इत्यादि परिणामको कारण स्वभावहीहै स्व-  
भाव इच्छारूपकरकें प्रकट होयजावेहै जैसे बुद्धि विज्ञानरूप करके प्रकट होयजावे है, जैसे काल निराधार होकरकें भूतभविष्यत वर्त-  
मानादि व्यवहारको उपयोगीहै, कर्म चेतनको आधार होयके व्यव-  
हारको उपयोगीहै ऐसे स्वभावहै सो चेतन अचेतन सब पदार्थनको आधारहै अंशनकरके एक एक वस्तुकोभी आधारहै और स्वभाव  
है सो वस्तुके पीछे अथवा वस्तुमें लीन नहिं रहेहै किन्तु वस्तुकूँ अपने भीतर स्थित करकें स्वभाव आगें प्रकट होजाय है ॥ जैसें दुष्ट पुरुषको स्वभाव वाके ज्ञानकूँ दबायकरकें स्वरूपकरकें प्रकट

होजावे है तथा पदार्थके साथही प्रकटहोवें है, पदार्थके साथही याको तिरोभाव होवें है तथा सन्वगुण रजोगुण तमोगुण ज्ञान कर्म मन्त्र आदिकभी पूर्व स्वभावको तिरोभावकरके दूसरे प्रकाशके स्वभावकों प्रकट करदें है ॥ ११५ ॥

परिणामस्तु तत्कार्यं सर्वानुभवसाक्षिकम् ॥ सामान्यतो विशेषेण न प्रकाशः कदाचन ॥ ११६ ॥  
एवङ्कालस्तथा कर्म स्वभावो हरिरेव सः ॥ अतस्तदुद्गमः शास्त्रे न कदाचिदुदाहृतः ॥ ११७ ॥

तत्त्वदीपप्रकाशः ।

तस्य सद्भावेऽर्थापत्तिप्रमाणयति ॥ परिणामस्त्विति ॥ स्वभावस्य परिणाम एव कार्यम् ॥ अतः स्वभावः सर्वदा अनुमानगम्यः । न कदाचिदपि प्रत्यक्ष इत्याह ॥ सामान्यत इति ॥ ११६ ॥ उपसंहरति ॥ एवमिति ॥ तत्त्वाधिक्यपरिहारायाह ॥ हरिरेव स इति ॥ स कालादिर्हरिरेव ॥ तत्रोपपत्तिमाह ॥ अतस्तदुद्गम इति ॥ शास्त्रे भागवते ॥ ११७ ॥

आवरणभंगः ।

अर्थापत्तिं प्रमाणयतीति ॥ फलान्निर्णयं वक्तुन्तां प्रमाणयतीत्यर्थः ॥ एवञ्च परिणामहेतुः पदार्थः स्वभाव इति । तल्लक्षणद्वार्यमुखेन फलति ॥ ११६ ॥ ॥ उपसंहरतीति ॥ एवमक्षरादयश्चत्वारोऽर्था उक्तास्तेष्वन्तत्त्वत्वं वारयितुमुपसंहरतीत्यर्थः ॥ ॥ ततोऽत्रेति ॥ हरित्वे उद्गम इति ॥ व्युच्चरणादिरूपा उत्पत्तिः ॥ कालादिरिति ॥ ११७ ॥

ब्रजभाषाटीका ।

परिणामरूप कार्यकेद्वारा ही स्वभाव जान्यो जायहै स्वभावको प्रत्यक्ष ज्ञान कोईकूँ कभी नहीं होयहै ॥ ११६ ॥ याप्रकार काल कर्म स्वभाव भगवान् हरि आपहीहैं याहीसों भागवतादिकमें पृथ्वीजलादिकनके समान इनको बननों नहीं लिख्योहै तहां काल कर्म



स्वभाव इनकी उत्पत्ति नहिं होयवेसों कार्यमें गणन नहिं करोहो  
तो कारणमें गणना होनी चाहिये यह शंका नहिं करनी॥११७॥  
सर्वसाधारणत्वेन न तत्तत्त्वं तदेव तत्॥अभावः  
कारणश्चात्र ध्वंसश्चापि तदुच्यते॥११८॥ कार्या-  
दिशब्दवत्तस्मिन्सापेक्षा वृत्तिरेतयोः॥ अपृथ-  
ग्विद्यमानत्वान्नधर्मैरधिको गणः ॥ ११९ ॥  
इति कारणप्रकरणम् ॥

तत्त्वदीपप्रकाशः ।

तथापि कारणत्वात्तत्त्वता भविष्यतीत्याशंक्याह ॥ सर्वसाधारणत्वे-  
नेति ॥ यथा भगवान्सर्वसाधारणत्वान्न तत्त्वकोटौ प्रविशति ॥ तथा का-  
लादिरपि ॥ भगवत्त्वेनैवोपपत्तौ न पृथक्त्वम् । प्रागभावस्य कारण-  
त्वात्तत्त्वता भविष्यतीत्याशंक्याह ॥ अभावःकारणज्ञाद्वेति ॥ प्राग-  
भावः कारणावस्थातो नातिरिच्यते ॥ तस्य भिन्नत्वात्तद्व्यल्पनाया-  
म्प्रमाणाभावात् । अग्रिमजननज्ञानेनैव तस्यानुभवः ॥ अन्यथात्यन्ता-  
भाव एव स्यात् ॥ तस्मात्पूर्वभावस्तस्य न कारणम् ॥ नहि तेन कोपि  
व्यापारः क्रियते ॥ कार्येण परन्निवर्त्यते ॥ प्रसङ्गाद्ध्वंसादीनामपि का-  
रणत्वन्निराकर्तुमाह ॥ ध्वंसश्चापीति ॥ ध्वंसोऽपि दण्डादिस्वरूप-  
मेव ॥ तिरोभावशक्त्यतिरिक्तस्य ध्वंसस्य निरूपयितुमशक्यत्वात् ॥  
तेन रूपान्तरं पश्यन् पूर्वरूपस्य तिरोभावमेव मन्यते ध्वस्त इति ॥  
॥ ११८ ॥ ननु कारणातिरिक्तरूपाभावे प्राग्भावे प्राग्भावादिशब्दप्र-  
योगः कथमिति चेत्तत्राह ॥ कार्यादिशब्दवदिति ॥ नहि घट-  
रूपादतिरिक्ता कार्यता तथा दण्डरूपादपि नातिरिक्ता कारणता ॥  
तथापि तयोर्यथा कार्यकारणप्रयोगः तथा प्रागभावादिप्रयोगोऽपि ॥ ननु  
संख्यादयो गुणाः सामान्यादयश्च सन्ति । ततः कथमष्टाविंशतितत्त्वानि  
तत्राह ॥ अपृथग्विद्यमानत्वादिति ॥ ११९ ॥ इति कारणप्रकरणम् ॥

आवरणभंगः ।

अक्षरस्य भगवदभिन्नत्वेन सन्देहाभावात् कालादीनामेवात्र ग्रहणम् । एवम्भावान्तरस्य तत्त्वताया निवारणेऽप्यभावस्य भविष्यतीत्याशङ्कां वारयितुमाहुः ॥ ॥ प्रागभावस्येत्यादि ॥ ॥ कारणत्वादिति ॥ ॥ असाधारणत्वान्मूलस्थमभावपदं व्याकुर्वन्ति ॥ ॥ प्रागभाव इति ॥ ननु घटत्वेन कपालत्वेन सामान्यकार्यकारणभावे सत्यप्येतेभ्यः कपालेभ्य एतद्वटोत्पत्तौ कपालत्वेन नियमासम्भवादेतत्कपालत्वेन नियमाङ्गीकारे च विनिगमनाविरहाद्बहुकपालजे घटे गौरवग्रासाच्च तद्देशनियामकतया प्रागभावसिद्धिः साम्प्रदायिकाक्षपादीयैः क्रियते ॥ तथाच येषु कपालेषु यद्वटप्रागभावः स एव घटस्तत्रोत्पद्यते इति तस्य कारणेन्तर्भावो न वक्तुं शक्यत इत्यत आहुः ॥ ॥ प्रागभाव इत्यादि ॥ यत्र कपालानि सिद्धानि घटाश्च श्वोभाविनस्तत्र सत्यामपि कारणतायां सति च प्रागभावे कारणान्तरेषु च सत्सु स कालो नास्तीत्यवश्यं वाच्यम् ॥ सच कालः साधारणो भवंस्तत्तत्फलजननाय फलानुकूलत्वरूपमेकं सकलतत्समवायित्वकारणगतमवस्थाविशेषं सम्पादयतीत्यवश्यमभ्युपेयम् । अन्यथा श्वोभावी पदार्थोऽवस्थात् । श्वोभावीति व्यवहारश्च बाध्येत ॥ एवंसति सकलकारणवृत्त्येकयावस्थया निर्वाहे सकलपालवृत्त्येकातिरिक्तप्रागभावकल्पना प्रमाणरहितैवेति । अवस्था च स्वरूपातिरेकेण नानुभूयत इति तादृशावस्थाविशिष्टङ्कारणमेव स इत्यर्थः ॥ नच प्रागभावानङ्गीकारे उत्पत्त्यनन्तरम्पुनरुत्पत्तिप्रसङ्गः इति वाच्यम् ॥ तदवस्थातिरोभावेनैव निर्वाहात् । नचेह कपाले घटोनास्तीति प्रतीतिस्त्र मानम् । तस्या घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावविषयतया सामान्यत्वेन प्रागभावाख्यविशेषानवगाहित्वात् । नच प्रागभावः सामान्य एवेति वाच्यम् । तस्य विनाशित्वेन यत्किञ्चित्प्रतियोग्युत्पत्तावपि तन्नाशसम्भवे इदानीमत्र कपाले घटोत्पत्त्या तन्नाशात् । जातेऽवयविनि कार्ये तदवयवत्वेन प्रतीयमानेषु कपालेष्वपि घटोनास्तीति प्रतीतिः स्यात् । प्रागभावप्रतियोगिरेकदैकत्रस्थितौ च तस्य नित्यत्वापातः स्यादिति न किञ्चिदेतत् । नच यत्र पक्षे घटे स्पर्शरूपरसगन्धानाम्पाकजानामुत्पत्तिस्तत्र प्रागभावं विना कथन्निर्वाह इति वाच्यम् । एकयाप्यवस्थया फलचतुष्टयोत्पत्तौ बाधकाभावात् परिणामस्य स्वभावकार्यत्वात्तस्य च कार्यैकोन्नेयत्वात् । ननु सत्कार्यवादे कारण एव सम्प्रविष्टस्य पूर्ववर्त्तित्वांशस्य कथंग्रहः । तस्य प्रागभावावच्छिन्नसमयवर्त्तिस्वरूपत्वात् । तस्य च प्रागभावग्रहाधीनत्वादिति चेन्न कार्यविषयकाग्निजननज्ञानेनैव तद्ग्रहसम्भवात् । अन्यथा प्रागभावस्यापि कारणत्वेन तन्निष्ठपूर्ववर्त्तिवत्स्यापि प्रागभावघटिततया तद्ग्रहण आत्माश्रयेण प्रागभावीयकारणताया एवातिदुर्ग्रह-

त्वापातात् । प्रागभावस्य कारणावस्थाव्यंग्यत्वेन तदनङ्गीकारे तदग्रहेण प्रागभा-  
वस्याप्यग्रहापाताच्च । नहि घटजननानुकूलाङ्कारणावस्थामपश्यतः कस्यापि इह  
घटो भविष्यति इदानीमत्र घटप्रागभाव इति बुद्धिरुदेति । अभ्यासपाठवादुदेती-  
ति चेन्न । तथासति कारणादर्शनेपि तदुदयापत्तेः । अभ्यासपाठवादेव प्रागभावो-  
सीनात्पूर्ववर्तित्वीयग्रहेणास्याप्यापत्तेश्च । कार्यपरत्वावच्छिन्नसमयावर्तित्वस्यैव  
पूर्ववर्तित्वात् । अग्रिमजननज्ञानगम्यस्य कालधर्मस्यैव च प्रथमपदार्थत्वात् । किञ्च  
कारणताघटकपूर्ववर्तित्वशरीरप्रविष्टस्यास्य कारणत्वे उच्यमाने तत्राप्यस्य  
प्रवेशाच्चक्रिकापत्तिः ॥ एतत्सर्वमभिसंधायाहुः ॥ अग्रिमेत्यादि ॥ ॥ अन्यथे-  
ति ॥ ॥ प्रागंशस्यानवगाह इत्यर्थः ॥ फलितमाहुः ॥ तस्मादित्यादि ॥ ॥ प्रा-  
गंशोदासीनाभावमात्रज्ञानस्यात्यन्ताभावविषयत्वात्कारणावस्थामपश्यतस्तूष्णी-  
मप्रतीयमानो यो भावः सकारणरूपो नेत्यर्थः ॥ ननु प्रागभावोऽत्यन्ताभावाद्भिन्नः  
कारणावस्थाव्यंग्यत्वात् । ध्वंसाच्च भिन्नः कारणावस्थाव्यंग्यत्वात् । ध्वंसाच्च भिन्नः  
प्रतियोग्युत्पत्तिनाश्रयत्वात् । भेदादपि भिन्नः संसर्गाभावरूपत्वादित्येवमभावा-  
न्तराद्भेदे साधिते अभावत्वेन प्रत्ययाद्भावेभ्योतिरिक्तः प्रागभाव एव सेत्स्यति ।  
एवञ्च सिद्धे प्रागभावे कारणसमन्वयात्कुतो न तस्य कारणत्वमिति चेन्न । केवल-  
प्रत्ययात्तदसिद्धेतिरभेदपूर्वकसिद्धौ च कारणावस्था समनियतस्य तदतिरेका-  
सिद्धेः । सिद्धौ वा सामयिकत्वेन सिद्ध्याऽनादित्वाभावेन भवद्भिचारितरूपस्य  
तस्यासिद्धेः । तथाभूतस्य कारणताग्रहणे चक्रिकापत्तेश्च । ननु मन्वाद्यनधिकर-  
णकालवृत्त्यभावत्वस्यादृष्टत्वावच्छिन्नानधिकरणकालवृत्त्यभावत्वस्य च प्रागभा-  
वध्वंसरूपत्वान्नेददूषणमिति चेन्न तयोस्तथात्वे मानाभावात् । प्रलयदशाधान्द्रष्टुः  
कस्याप्यभावात् । ईश्वरः पश्यतीति चेत् । तर्हि तमेव पृच्छ तद्वाचैव मस्यामो न  
भवहाचेति दिक् । एवञ्चाव्याप्यवृत्तिसंयोगादेस्तत्तदवच्छेदेनोत्पत्तिरपि दृष्टा-  
दृष्टकारणकलापादेव । आत्मादावपि ज्ञानाद्युत्पत्तेः प्राक् प्रागभावो नास्त्येव ।  
अन्यथा प्रतीयेतैव । प्रतीयमानस्त्वत्यन्ताभाव एव । प्रागंशानवगाहादि-  
त्युक्तत्वात् । ध्वंसप्रागभावाधिकारणेनात्यन्ताभाव इति तु प्रवादमात्रमिति ।  
औदासीन्येन प्रतीयमानस्याकारणत्वे गमकमाहुः ॥ ॥ नहीत्यादि ॥ ॥ त-  
थाचासाधारणकारणत्वेनाभ्युपगम्यमानस्य तस्य व्यापाराभावात्कारणता नाङ्गी-  
कर्तुं शक्या व्यापारातिरिक्तस्य व्यापारवत् एवासाधारणकारणत्वदर्शनात् ।  
व्यापाराभावे च तत्सत्ताया एव दुरधिगमत्वाद्दूरापास्ताकारणतेत्यर्थः ॥ कार्य-  
नाशत्वादपि न कारणतेत्याहुः ॥ ॥ कार्येणेत्यादि ॥ ॥ कार्येण भावका-  
रणध्वंस एव लोके कचिद्दृष्टोऽश्वतर्यादिगर्भनिष्क्रमणादौ नत्वभावरूपस्यापि

कारणस्य अन्यथा प्रतिबन्धकध्वंसात्यन्ताभावाभ्यामपि दाहो जायते इति दाहे  
 नापि क्वचित्तयोर्नाशोदृश्येत । अभ्युपगमासिद्धस्य युक्तिमूलत्व एव निर्वाहात् ।  
 नच प्रत्यक्षमेव तत्र मानं नयुक्तिरिति वाच्यम् । तस्य विप्रतिपन्नत्वेन तद्विषय-  
 कप्रत्यक्षस्यैवाभ्युपगंतुमशक्यत्वादिति न किञ्चिदेतदित्यर्थः ॥ ननु मास्तु प्राग-  
 भावोऽतिरिक्तस्तथापि पूर्वकल्पप्रलयकाले उत्तरसृष्ट्यभावात्तद्वंसे च तदुत्पत्ते-  
 रुत्तरसृष्टिं प्रति पूर्वप्रलयध्वंसस्यैव वा प्रतिबन्धकध्वंसत्वेन रूपेण कारणतास्तीति  
 तस्य तत्त्वान्तरत्वं दुर्वारमिति चेत्तत्राहुः ॥ ॥ प्रसङ्गादित्यादि ॥ ॥ आहेति ॥  
 ध्वंसस्वरूपमाहेत्यर्थः ॥ दंडादिस्वरूपाभिन्नोध्वंस इत्यत्र हेतुमाहुः ॥ ॥ तिर  
 इत्यादि ॥ ॥ तिरः अप्रकटं भावयतीति तिरोभावस्तिरोभवनं वा तिरोभावः ।  
 उभयथापि निमित्तोपादानान्यतरस्वरूपातिरिक्तो ध्वंसो न निरूपयितुं शक्यः ।  
 तदतिरिक्तस्यादर्शनात् । तथाच कार्यप्रतिकूला कारणावस्थैव ध्वंस इत्यर्थः ॥  
 नन्वाकारान्तरमतिरिक्तं दृश्यत इति चेत्तत्राहुः ॥ ॥ नन्वित्यादि ॥ ॥ तथा  
 चाकारान्तरमपि तद्धर्म एव नतु धर्मातिरिक्तः ॥ अन्यध्वस्त इति प्रत्यये ध्वंसस्य  
 घटविशेषणता नप्रतीयेत ॥ तादृशप्रत्ययबलाच्च पक्षे रक्तिमेव ध्वस्ते ध्वंसा-  
 ख्यमाकारान्तरमेव निश्चीयत इत्यर्थः ॥ नचाभावमुखप्रत्ययोत्र बाधक इति  
 वाच्यम् । त्वन्मते तमःप्रत्ययवदस्याप्यत्राबाधकत्वात् ॥ नच घटोन्मज्जनापत्तिः ।  
 अवस्थायाः सत्त्वात् । तथैव कारणकलापविघटनाच्च ॥ ११८ ॥ प्रागभावादि-  
 पदप्रयोगं साधयितुमुपपत्तिकथनायाहुः ॥ ॥ नन्वित्यादि । तयोर्यथेति ॥  
 घटस्यानन्यथासिद्धानियतपश्चाद्भावित्वं दण्डस्य तादृशपूर्वभावित्वञ्चावेक्ष्य यथा  
 घटदण्डयोः कार्यकारणप्रयोगस्तथा घटादेरग्निमजननताभ्यान्तत्वाधिक्यान्निवा-  
 रितम् । सन्तीति तत्तत्कृत्वोत्पत्तिकथनेन कारणादिभागस्य पृथक्स्थित्या च  
 पृथक्त्वसंख्यापरिमाणपरत्वापरत्वानां श्रुत्या च सृष्ट्यादिविषयकबुद्धीच्छाप्रय-  
 त्नसंस्काराणां सृष्ट्यासामर्थ्यजदुःखस्य प्रार्थनादिना सुखस्य चानुमातुं शक्य-  
 तथा ताम्याश्चादृष्टस्यापि स्वनुमेयतया तदा संहतोऽनेन संयोगस्य कण्ठोक्ततायाः  
 गुरुत्वद्रवत्वस्नेहानाञ्चेदानीन्तनपृथिव्यप्तेजोदृष्टान्तसनाथेम पृथिवीत्वादिरूपेण  
 हेतुनानुमातुं शक्यतया द्वेषस्यापि बुद्ध्यादिसिद्धादौ सिद्धप्रायतया विशिष्टज्ञा-  
 नान्यथानुपपत्त्या च सामान्यस्यापि सिद्धतया वक्तुं शक्याः सन्तीत्यर्थः ॥ अपृ-  
 थग्विद्यमानत्वादिति ॥ ॥ पृथक् इतरव्यावृत्ताधिदैविकरूपेण विद्यमानत्वम्पृथ-  
 ग्विद्यमानत्वं तस्मात् तृतीयस्कन्धादौ सृष्टिप्रक्रियायां यथैते देहवत्तया स्तुतिकर्तृ-  
 तथा चोक्तास्तथान्ये सामान्यादयः संख्यादयश्च नोक्ता इति धर्मधर्मभूतैः संख्या-  
 सामान्यादिभिः कृत्वा गणः अष्टाविंशकः । अधिकसंख्याको नेत्यर्थः ॥ अत्रेदं

हृदयम् ॥ संख्यापरिमाणपृथक्त्वविभागपरत्वापरत्वबुद्धीच्छाप्रयत्नसंस्कारादृष्ट-  
सुखदुःखद्वेषगुरुत्वद्रवत्वस्नेहानां यथासम्भवं तत्त्वान्यादायैवान्वयव्यतिरेकग्रहणा-  
त्सामान्यस्य च तत्त्वसहभावेनैव पूर्ववर्तित्वग्रहणादन्यथासिद्धत्वेन संयोगस्य च  
स्पर्शान्तर्भूतत्वेन कारणरूपतया पृथग्भूतत्वेन निबोध्यम् ॥ वस्तुतस्तु सामान्यादे-  
रभाव एव सृष्ट्यारम्भसमयेऽब्रह्मणोऽद्वितीयत्वात् । बहुस्यामितीच्छोत्तरमपि  
“जातिव्यक्तिविभागोयं यथा वस्तुनि कल्पित ” इति षष्ठस्कन्धवाक्यात्सामान्य-  
स्य कल्पनैकशरणत्वमेव तस्मान्नैयायकाद्युपगतपदार्थानां श्रुतिपुराणविरोधे लौ-  
किकयुक्तियुक्तत्वेच कार्यकोटावेव निवेश इति भावः ॥ ११९ ॥ इति कारणप्रकरणम्

ब्रजभाषाटीका ।

जैसें भगवान् सर्वसाधारणहैं तासूँ तत्वकोटीमें भगवान्की  
गणना नहीं है ऐसेही काल कर्म स्वभावभी सर्वसाधारण है तासूँ  
कारणभूत तत्त्वनमें इनकी गणना नहीं है किन्तु इन तीनोंकूँ  
भगवदात्मकता है नैयायकनके मतमें प्रागभावकूँ कारण मानें हैं  
वाकी भी तत्त्वनमें गणना होनी चाहिये यह शंका नहिंकरनी  
क्योंकी कार्यके उत्पन्नभये पहली जो वा कार्यको कारणमें अभाव  
है वासों प्रागभाव कहेहै वह प्रागभाव कारणसों न्यारो नहिं है ता-  
सों वाकों इन कारणतत्त्वनसों अलग मानकरके तत्वकी अधिक  
संख्या बढायवेमें प्रमाण नहिं है क्योंकि आगे होयवेवारी कार्य-  
की उत्पत्ति देखकें वाको अनुभव होय है यहही अत्यन्ताभावमें  
और प्रागभावमें भेदहै तासों कार्यके पूर्व जो वा कार्यको अभाव  
है वो कारण नहिं है वह अभाव कार्यके उत्पन्नहोयवेमें कछुभी  
व्यापार नहिं करे है कार्य उत्पन्न होतेही वा प्रागभावकूँ निवृत्त-  
करदें है ऐसेही प्रध्वंसाभाव भी दंडादिरूपही है तिरोभावशक्तिसों  
अलग ध्वंसाभावको स्वरूप नहिं बतायसकें है तासों पदार्थके  
दूसरे रूपकूँ देखतो भयो पुरुष पहले रूपके तिरोभावकों देखकें ये  
कार्य ध्वस्तभयो ऐसे माने है ॥ ११८ ॥ शङ्का--कारणसों अलग



प्रागभाव नहिं होय तो अभी घटको प्रागभाव है इत्यादिवाक्य-  
नमें प्रागभाव शब्दको क्यों उच्चारण होनोंचाहिये ? उत्तर—जैसे  
घटादिकनसों अतिरिक्त कार्य नहिं है दंडादिकनसों अलग कोई  
कारण नहिं है तथापि लोकमें दंडादिकनसों घटादि बने है या  
रीतिसों बोले हैं तथा कारणसों कार्य बने हैं ऐसेभी बोले हैं ऐसे  
ही अवस्थान्तरप्राप्त कारणमें प्रागभाव शब्दकाभी प्रयोग होय है ॥  
शङ्का—संख्या, परिमाण, परत्व अपरत्व जाति आदि धर्मनकूं  
तत्वनमें गिणनों योग्य है आप तत्वनकूं २८ अष्टाविंशति हि क्यों  
बतावोहो ? उत्तर—संख्याआदि जे गुणहैं वे इन तत्वनसों न्यारे  
होयकरकें नहिं रहें हैं तासों इन तत्वनमेंही उन गुणनको अन्त-  
र्भावहै ॥ ११९ ॥ इति कारणनिरूपणम् ॥

आनन्त्येपि हि कार्याणां गणभेदो द्विधा म-  
तः॥समष्टिव्यष्टिभेदेन केवले जडजीवता १२०  
सर्वेषां त्रिगुणत्वाद्धि त्रयो भेदाः पृथङ्मताः॥  
आधिदैविकमाध्यात्ममाधिभूतमिति श्रुताः ॥  
॥ १२१ ॥ सच्चिदानन्दरूपेण देहजीवेशरूपिणः॥  
समष्टिव्यष्टिः पुरुषो जीवभेदास्त्रयो मताः १२२

तत्त्वदीपप्रकाशः ।

एवं कारणं निरूप्य कार्यज्ञानार्थं तस्यावान्तरभेदानाह ॥ आन-  
न्त्येपीति ॥ यद्यपि घटपटादिप्रकारेण ज्ञातुमशक्यं तथापि सर्व का-  
र्यं राशिद्वयात्मकम् । समष्टिरूपं व्यष्टिरूपञ्च । तच्च जीवजडात्मकम् ।  
नानन्दांशस्तत्र प्रविशति । अतः केवलप्रकारेण विभागे क्रियमाणे  
जीवो जडश्च भवति नतु ततोतिरिक्तं किञ्चित् ॥ १२० ॥ कार्ये त्रैविध्यं  
निरूपयितुमाह ॥ सर्वेषामिति ॥ गुणानामपि त्रैविध्ये हेतुरप्रेवक्तव्यः ॥



भेदानाह ॥ आधिदैविकमिति ॥ अधिष्ठाता स्वतन्त्रो देव उच्यते ।  
अभिमन्ता आत्मा । अनयोर्मध्ये अभिसंभवति सोऽधिभूतः ॥ १२१ ॥  
त्रयाणामभेदायाह ॥ सच्चिदानन्दरूपेणेति ॥ सदाधिभूतम् । चिदध्या-  
त्मकम् । आनन्दोधिदैवमिति ॥ उदाहरणमाह ॥ देहजीवेशरूपेण इति ॥  
देहोधिभूतम् । जीवोऽध्यात्मा । इशान्तर्याम्यधिदैवः ॥ एवं रूपभेदमु-  
पपाद्य समुदायेन प्रवृत्तौ कुत्र कस्य प्राधान्यमित्याकांक्षायामाह ॥ व्य-  
ष्टिरिति ॥ यद्यप्येते त्रयोऽपि पुरुषावतारास्तथापि देहाभिमानिन इति ।  
जीवभेदा उच्यन्ते तत्रैव विद्यमानोऽप्यनभिमानित्वाद्ब्रह्म ॥ १२२ ॥

आवरणभंगः ।

एवं कारणरूपस्य प्रमेयस्य स्वरूपप्रमाणसाधनफलैस्तदष्टाविंशतितत्त्वात्म-  
कमेवेति निर्णय उक्तः ॥ अतः परं कार्यस्यानन्त्येऽप्येवं निर्णयं वक्तुं प्रथमतः स्व-  
रूपतोऽवगमार्थं प्रयतमाना आहुः ॥ ॥ एवमित्यादि ॥ ॥ समष्टीत्यादि ॥  
सम्यक् अष्टिः एकत्वेन गणना यस्येति समष्टिर्महत्कार्यं ब्रह्माण्डात्मकं तस्य च  
राशिः ॥ “ दृश्यन्तेऽन्तर्गताश्चान्ये कोटिशो ह्यण्डराशयः ” इति वाक्याज्ज्ञेयः ॥  
विगता अष्टिर्यस्येति व्यष्टिरवान्तरकार्यमस्मदादिशरीरात्मकम् । तद्राशिः प्रत्य-  
क्षसिद्ध एव । एवमवान्तरकार्येऽपि देहस्थितकीटाद्यपेक्षयाऽस्मदादिदेहानां समष्टित्वं  
ज्ञेयम् ॥ पूर्वं कारणस्वरूपविचारणे तेषां सदंशत्वमुक्तमिति कार्यमपि सदंशात्म-  
कमेव ॥ नतु चिदानन्दांशयोरपि तत्र प्रवेश इति शंकानिवृत्त्यर्थं कार्यस्य स्व-  
रूपमाहुः ॥ ॥ तच्चेत्यादि ॥ तदिति समष्टिव्यष्टिरूपं कार्यं समाहारः । तथा  
च यद्यप्युत्पद्यमानानि कारणानि सदंशरूपाण्येव तथापि कारणत्वदशायां ता-  
नि सजीवानि ॥ “ अनेन जीवेन ” इति श्रुत्या नामरूपव्याकरणे जीवानुप्रवे-  
शात् ॥ ततश्च कार्यमपि तत्सहितमिति समाहृतं कार्यं जीवजडात्मकम् ॥ नतु  
केवलसदात्मकमित्यर्थः ॥ नन्वन्तर्यामिणोऽपि देहे विद्यमानत्वात्तस्य कुतो न  
कार्यकोटौ प्रवेश इत्यत आहुः ॥ ॥ नेत्यादि ॥ अकार्यस्यापि जीवस्यानन्दार्थं  
देहाभिमानित्वेन कार्यकोटिप्रवेशोऽन्तर्यामिणस्त्वनभिमानित्वमतो नानन्दांश-  
स्तत्र प्रविशति । तेन सिद्धमाहुः ॥ ॥ अत इति ॥ ॥ केवलप्रकारेणेति ॥ जीवं  
पृथक्कृत्य तथा च चेतनाधिष्ठिताः समष्टिव्यष्टिदेहा जीवगणे प्रविशन्ति । जीवाः  
श्रेष्ठा ह्यजीवानामिति निर्देशात् ॥ तदनधिष्ठिता घटादयोऽवान्तरभूतानि च जड-  
गणे तेनैवमपि राशिरूपेण ज्ञानं सकलकार्यज्ञानं सुखेन भवति । तदतिरिक्तस्य का-

र्यस्याभावादतः सर्वं कार्यं समष्टिव्यष्टिरूपेण जडजीविरूपेण च प्रमेयमित्यर्थः ॥  
 ॥ १२० ॥ कार्येत्यादि ॥ एवम्प्रमेयज्ञानार्थं कार्यद्वैराश्यं निरूप्य तद्वलज्ञानार्थं  
 कार्यत्रैविध्यं निरूपयितुं स्वरूपत्रैविध्यमन्तरेण कारणत्रैविध्याभावात्तदभावे च  
 कार्यस्यापि त्रैविध्याभावात्तन्निरूपयितुमाह । कारणे स्वरूपे च त्रैविध्यमाहे-  
 त्यर्थः ॥ सर्वेषामिति ॥ ॥ हीति निश्चये सर्वेषां कार्याणां त्रिगुणत्वाज्ज्ञापका-  
 देतोः श्रुताः अथाधिदैवमथाध्यात्मथाधिभूतमित्यादिश्रुत्युक्ता आधिदैविका-  
 दयस्त्रयो भेदाः पृथक् प्रत्येकं कारणे स्वरूपे च मता इति योजना । श्रुता इत्य-  
 नेन त्रैविध्योक्तौ प्रमाणं दर्शितं नतु गुणत्रैविध्येन सर्वत्र त्रैविध्यानुमानं तद्गुण-  
 त्रैविध्यमेव कुत इत्यत आहुः ॥ ॥ गुणानामित्यादि ॥ ॥ अग्र इति ॥ ॥ सच्चि-  
 दानन्दरूपेणेत्यनेनेत्यर्थः ॥ इदञ्च “ सत्त्वं रजस्तम इति । निर्गुणस्य गुणास्त्रय-  
 इत्यस्य सुबोधिण्यां स्फुटम् । सदंशान्निर्गतं सत्त्वमुच्यते, चिदंशाद्रजः, आन-  
 न्दांशाच्च तम इति विवरणात् ॥ ॥ भेदानिति ॥ ॥ त्रैविध्यप्रयोजकभेदान् भेदानां  
 स्वरूपं व्याकर्तुं तदाभिधायकपदप्रकृतिपदानि व्याकुर्वन्ति ॥ अधिष्ठातेत्यादि ॥  
 देवपदस्यार्थद्वयं विवक्षितम् ॥ स्वतन्त्राभिमन्त्रोरधिष्ठात्राभिमन्त्रोर्वा मध्ये अभिसंभ-  
 वति स्वतन्त्राभिमन्तृत्वादिव्यवच्छेदको यो भवति सोधिभूत इत्यर्थः ॥ तदुक्तं द्वि-  
 तीयस्कन्धे “ आध्यात्मिकस्तु यः प्रोक्तः सोसावेवाधिदैविकः । यस्तत्रोभयवि-  
 च्छेदः स स्मृतो ह्याधिभौतिकः ॥ ” इति उभयोर्विच्छेद इत्यर्थः ॥ तदनुप्रविश्य  
 सच्चत्यच्चाभवदिति पुरप्रवेशोत्तरमेकस्यैव जीवान्तर्यामिभावपक्षे सदंशेन शरीरेणैव  
 तथात्वव्यवच्छेदः क्रियत इति तदुभयविच्छेदकोशो देहादिरूपोधिभूत इति ॥  
 एतेषाञ्चाधिदैविकादिशब्दानां व्युत्पत्तिपक्षमादाय कचिदर्थभेदेऽपि तत्र तत्र प-  
 र्यायताया एव प्रसिद्धेः । प्रकृते ऐकार्थ्यमेवेत्यभिप्रेत्य मूले आधिदैविकमाध्यात्मम-  
 धिभूतमित्युक्तम् ॥ १२१ ॥ ॥ त्रयाणामित्यादि ॥ ॥ जडजीवयोरिव त्रयाणां-  
 स्वान्याभिमानोभयविच्छेदैः कार्यैः सिद्धे भेदे स्वरूपमपि भिद्येतेत्याकांक्षाया-  
 मभेदायाहेत्यर्थः ॥ ॥ सच्चिदानन्देत्यादि ॥ ॥ तथा चैकस्यैव पुंसः पाचकपाठ-  
 कपालकत्ववदेकस्यैव सच्चिदानन्दरूपस्य ब्रह्मणो धर्मरूपसदादिपुरस्कारेण  
 कार्यभेदे आधिभौतिकादिशब्दवाच्यत्वान्न स्वरूपतो भेद इत्यर्थः ॥ ॥ उदाहरण-  
 माहेति ॥ एतान्परिचायनायोदाहरणमाहेत्यर्थः ॥ ॥ देहेत्यादि ॥ ॥ इदञ्च द्विती-  
 यस्कन्धे “ एको नानात्वमन्विच्छन् ” इत्यत्र सिद्धम् ॥ तथाच ब्रह्मत्वेनैक्येपि  
 भिन्नकार्यार्थं यथा भेदस्तथा सर्वत्रैवाभेदोऽभेदश्चावगन्तव्य इत्यर्थः ॥ ननु सांख्ये  
 त्रैविध्यविग्रहणं कार्यकारणयोस्त्रिगुणात्मकत्वेनात्मविलक्षणत्वज्ञानद्वारा विवि-  
 दावश्यकम् ॥ ब्रह्मवादे तु सर्वस्य ब्रह्मात्मत्वात्तस्यानावश्य-

कत्वेन व्यर्थं त्रैविध्यनिरूपणमित्याकांक्षायां तत्प्रयोजनं निरूपयति॥ एवमित्यादि ॥ एवं सच्चिदानन्दानामाधिदैविकादिव्यवहारप्रयोजकत्वज्ञापनेनैकस्मिन्नपि ब्रह्मस्वरूपेशभेदेन तरतमभावमुपपाद्य समुदायेन राशिरूपेण कार्यज्ञानार्थं प्रवृत्तौ कस्मिन्स्वरूपे कस्यांशस्य प्राधान्यमित्याकांक्षायां यस्मिन्स्वरूपे यत्प्राधान्यं तदाहेत्यर्थः ॥ तथा च त्रैविध्यज्ञानस्य स्वरूपतास्तम्यनिश्चयद्वारा मूलरूपोत्कर्षज्ञापनं फलमित्यर्थः ॥ ॥ तदुदाहरन्ति ॥ व्यष्टिरिति मूले ॥ ॥ तथा च जीवशरीरेषु व्यष्टेरस्मदादिशरीरस्य सत्प्राधान्यं समष्टेः ब्रह्माण्डशरीरस्य चित्प्राधान्यं पुरुषशरीरस्यानन्दप्राधान्यमिति जीवव्यवस्थेत्यर्थः ॥ अत्राधिभौतिकादिक्रमो ज्ञेयः ॥ ननु प्रथमस्कन्धे पुरुषस्याद्यावतारत्वकथनात्कथं जीवभेदत्वमत आहुः ॥ ॥ यद्यपीति ॥ ॥ एतद्वितीति ॥ ॥ व्यष्टिसमष्ट्यावरणपुरुषात्मकाः पुरुषावतारा इति “यस्यांशांशेन सृज्यन्ते देवतिर्यङ्मनरादयः” इति “आद्योवतारो यत्रासौ भूतग्रामो विभाव्यत ” इति “आनन्दमयोवसान ” इति वाक्यात्तत्त्वात्मकस्य क्षरपुरुषस्यावताराः । अभिमानिन इति षष्ठी अभिमानिसंभन्विन इत्यर्थः ॥ ननु यथाभिमानित्वं जीवगमकम् । तथानन्दप्राधान्यं ब्रह्मगमकमतः पुरुषस्य जीवभेदत्वं न युक्तमित्याकांक्षायां ब्रह्मत्वसाधकस्य हेतोरुपहितत्वं बोधयन्त आहुः ॥ ॥ तत्रैवेति ॥ देहे विद्यमानोऽप्यन्तर्यामी अनभिमानित्वाद्ब्रह्म तथाचानभिमानित्वशोपाधेर्विद्यमानत्वान्नानन्दांशप्राधान्यमात्रेण स्वरूपात्मकब्रह्मत्वं पुरुषेऽनुमातुं शक्यमिति पुरुषो जीवभेद एवेति निश्चयः ॥ १२२ ॥

ब्रजभाषाटीका ।

ऐसे कारणको वर्णन करके कार्यके स्वरूपको ज्ञान होयवेकेलिये अवान्तर भेदनको वर्णन करें हैं यद्यपि कार्य अनन्तप्रकारको है तासों यह घटहै यह पटहै यह कुण्डलहै या रीतिसों नहिं जान्यो जायहै तथापि सब कार्यकी दो राशिहै समष्टिरूप ब्रह्मार्थ ण्डनकी राशि १ अक्षरब्रह्ममें है व्यष्टिरूप देहादिकनकी राशि २ ब्रह्माण्डमें है जितनो कार्य है सब जडजीवरूपहै यद्यपि जीव कानहिं है तथापि आनन्दकेलिये देहमें अभिमान राखे है तासों कार्यकोटिमें गिनो जायहै अन्तर्यामी देहमें रहे है परन्तु देहमें अभिमान नहिं राखे है तासों कार्यकोटिमें नहिं गिन्यो जाय है ॥ १२० ॥ गुण तीन प्रकारको है तासों कार्यभी आधिदैविक,

आध्यात्मिक, आधिभौतिक इन भेदनकारिके तीन प्रकारको है, स्व-  
तन्त्र जो अधिष्ठाता है वह देव कहावे है आत्मा अभिमन्ता इन  
दोनोंके बीचमें जो सदंश देहादिक है जासों इन दोनोंको ( व्य-  
वच्छेद ) होय है वह अधिभौतिक है ॥ १२१ ॥ अधिदैविकादि  
तीनों पदार्थनके न्यारे न्यारे कार्य दीखे हैं तासों परस्पर भेद मा-  
लूम पडे है परन्तु ब्रह्मस्वरूपमें भेद नहीं है जैसें एकही पुरुष जब  
रसोई बनावे तब पाचक कहावे है जब पढावे लगे है तब पाठक  
कहावे है जब रक्षा करें है तब पालक कहावे है याही प्रकार सच्चिदा-  
नन्दरूप ब्रह्म है सो धर्मरूप सदंशको कार्य प्रकट करे है तब अधि-  
भूत कहावे है चिद्धर्मको कार्य प्रकट करे तब अध्यात्म कहावे है  
धर्मरूप आनन्दांशको कार्य प्रकट करे है तब अधिदेव कहावे है  
स्वरूपमें भेद नहीं है; ब्रह्मके सत् अंशसों सत्वगुण, चिदंशसों  
रजोगुण, आनन्दसों तमोगुण प्रकटहोवें है. सत् अधिभूत है, चित  
अध्यात्म है, आनन्द अधिदैव है, जीवके तीन भेद हैं समष्टिरूप  
ब्रह्माण्डाभिमानि जीव १, व्यष्टिरूप अस्मदादिदेहाभिमानि जीव २,  
और आवरणपुरुष ३, ये तीन जीवके भेद हैं व्यष्टिरूप अस्मदादि-  
शरीर सत्प्रधान है, समष्टिरूप ब्रह्माण्डशरीर चितप्रधान है, पुरुषशरीर  
आनन्दप्रधान है, उदाहरण कहे हैं देह अधिभूत है, जीव अध्या-  
त्म है, अन्तर्यामी अधिदैव है, यद्यपि समष्टिव्यष्टि आवरणपुरुष ये  
तीनों तत्वमें जो गिनौं गयो क्षरपुरुष वाके अवतार हैं तामें ( य-  
स्यांशांशेन सृज्यन्ते ) यह प्रमाण है तथापि देहके अभिमानरा-  
खेवारे हैं तासों जीवनमें गणना है वाही एक देहमें रहेवारे  
अन्तर्यामी शरीराभिमान नहीं राखे है तासों ब्रह्मरूपनमें गिन्यो  
जाय है या प्रकार तीन भेदनको जो ज्ञान है सो स्वरूपके तारतम्य-  
को निश्चय करायके मूलरूपके उत्कर्षकं जतावे है ॥ १२२ ॥

**अन्तर्याम्यक्षरं कृष्णो ब्रह्मभेदास्तथापरे॥स्व-  
भावकर्मकालाश्च रुद्रो ब्रह्मा हरिस्तथा॥१२३॥**

तत्त्वदीपप्रकाशः ।

एकत्रैव त्रिप्रकारेण वर्तत इति प्रकारान् गणयति ॥ अन्तर्याम्य-  
क्षरं कृष्ण इति ॥ यथा सारथी रथी तदन्तस्थितश्च तथान्तर्याम्यक्षरं  
कृष्णः । एवं सति पुरुषोत्तमत्वेन सर्वत्र दर्शनं भवति । परं ब्रह्मैव त्रिप्र-  
कारेण वर्तत इति त्रयो भेदास्त्रयाणां प्रत्येकं बहून् भेदानाह ॥ स्व-  
भावेति ॥ अक्षरस्य स्वभावकर्मकालभेदाः रुद्रादयस्त्रयः कृष्णस्य ।  
अन्तर्यामिणः सर्वत्र भिन्नतयैव स्थितत्वान्न भेदाः ॥ १२३ ॥

आवरणभंगः ।

एवं प्रासंगिकं परिहृत्य प्रस्तुतं वदन्तः । किञ्चित्कार्यार्थं देहेषु त्रिस्वरूपेण  
ब्रह्मणः स्थितिं बोधयन्ति । एकत्रेत्यादिस्थितिप्रकारं दृष्टान्तेनाहुः ॥ यथा सार-  
थीत्यादि ॥ ॥ सारथिवद्दृष्ट्यादिदेहजीवानां नियामकोऽन्तर्यामी । अन्तर्यामिणो  
नियामकत्वञ्च ॥ “ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति” इति गीतावाक्यात् “अ-  
भिचाकशीति” इति श्रुतेश्च ज्ञेयम् ॥ तस्यापि रथिवन्नियामकमक्षरम् । अक्षरस्य  
नियामकत्वं प्रशासनश्रुत्यावगन्तव्यम् ॥ तस्याप्यन्तर्यामिवन्नियामकः कृष्ण  
इत्यर्थः ॥ भगवतो नियामकत्वं त्वन्तर्यामिब्राह्मणादेव सिद्धयति । तस्याक्षरनियाम-  
कत्वञ्च “अक्षरादपि चोत्तम” इति “अक्षरात्परतः पर” इति गीतावाक्यात्  
श्रुतेश्च ज्ञेयम् । ब्रह्मैवैवर्ते अक्षराहङ्कारविमर्दकत्वकथनाच्च । एतेन निरङ्कुशं स्वा-  
तन्त्र्यं कृष्ण एव सिद्धयति इति प्रमेयबलं निर्णीतम् । एवमन्यत्र तत्तदपेक्षया  
तत्तदाधिदैविकस्य स्वातन्त्र्यं ज्ञेयम् । अत्रापि क्रमस्तु पूर्ववदेव । एवं ज्ञानस्य फल-  
माहुः ॥ ॥ एवं सतीति ॥ तन्नियामकत्वेन सर्वान्तरत्वेन ज्ञाने सति तथाभवतीत्य-  
र्थः ॥ नन्वन्तर्याम्यक्षराधिकरणयोर्मध्ये भाष्येऽन्तर्यामिणोऽक्षरस्य च स्वरूपा-  
त्मकत्वेन व्यवस्थापनात्कथं भेदत्वमेतयोरित्यत आहुः ॥ परब्रह्मेत्यादि ॥ ए-  
तेन यदेकमव्यक्तमनन्तरूपमिति श्रुत्युक्तमनन्तरूपत्वं दिङ्मात्रेण बोधितम् ॥  
तत्रापि गणनापरिच्छेदाभावायाहुः ॥ त्रयाणामित्यादि ॥ ॥ अत्रापि स एव क्रमः ।  
नन्वन्तर्यामिणो भेदा नोक्ता इति कथं त्रयाणामित्युच्यते इत्यत आहुः ॥ ॥  
अन्तर्यामिण इति ॥ ॥ तथाच तत्र स्वरूपभेदादेव । इति न प्रतिज्ञाहानिरि-

त्यर्थः ॥ अत्र स्वभावकर्मकालाश्चेति चकारेणाक्षरे चरणासनलोकरूपत्वेन भक्त-  
प्राप्याक्षरोपासकप्राप्यविमुक्तभानिप्राप्यत्वेनापि भेदः संगृहीतः । एवं स्वभावा-  
दीनामपि ज्ञातव्यः । कालस्य तु सूर्यस्तस्याधिभौतिकमित्यादिनोक्ताऽप्येवमन्य-  
दपि ज्ञेयम् ॥ १२३ ॥

ब्रजभाषाटीका ।

एकठिकानेहि ब्रह्म तीनप्रकारकरके रहेहै, उन प्रकारनकूँ गि-  
नावेहै (अन्तर्यामीति) अन्तर्यामी १ अक्षरब्रह्म २ परब्रह्म कृष्ण ३  
ये तीन ब्रह्मके भेदहैं जैसें एकरथमें रथ चलायवेवारो रथमें बैठवे-  
वारो और बैठवेवारोको जीवात्मा ये तीन पदार्थ हैं, जैसें रथचला-  
यवेवारो रथको नियामक रहेहै ऐसें व्याष्टिरूप देहवाले जीवनको  
नियामक अन्तर्यामीहैं जैसें रथचलायवेवारोको नियामक रथमें  
बैठवेवारोहैं ऐसें अन्तर्यामीको नियामक अक्षर ब्रह्महैं ये वार्ता-  
प्रशासन श्रुतिसिद्ध है ( एतस्यैवाक्षरस्य प्रशासने द्यावापृथिवी  
विद्यते ) इत्यादि जैसें रथमें बैठवेवारोको नियामक वाको आत्मा  
है ऐसें अक्षरब्रह्मके नियामक परब्रह्म कृष्णहैं यामें ( अक्षरादपि-  
चोत्तमः ) इत्यादि प्रमाणहैं या प्रकार सर्वपदार्थनमें भगवान्  
विराजमान है और सर्वके नियामकहैं ऐसों ज्ञान होय तब सर्वत्र  
पुरुषोत्तमत्व करके दर्शन होयहै याप्रकार परब्रह्म ही तीन प्रकारकर-  
के वर्तेहैं ऐसें ब्रह्मविषयक तीन भेद वर्णन किये इनमेंसों एकएकके  
बहुतसे प्रकारहैं जैसें अक्षरके स्वभाव कर्म काल आदि प्रकारहैं  
तथा ब्रह्मा, रुद्र, विष्णु आदि तीनप्रकारके भेद परब्रह्म श्रीकृ-  
ष्णके तथा अन्तर्यामीके भेद नहीं हैं क्योंकि सर्वत्र भिन्न होयके  
स्थित रहे हैं तासों ॥ १२३ ॥

अविद्या प्रकृतिर्माया निद्रा चिन्तेन्द्रजालता॥

महत्तत्त्वं ब्रह्मरूपमस्मच्चितं तथैव च ॥१२४॥



अहंकारो रुद्ररूपमहंकारोऽस्मदादिषु ॥ मन-  
श्चन्द्रशरीरश्च मनोऽस्माकन्तथैव च ॥ १२५ ॥  
चक्षुः सूर्यः शरीरश्च चक्षुरस्माकमेव च ॥  
मूलेन्द्रियाणि ब्रह्माण्डं देवदेहास्तथैव च ॥ १२६ ॥  
अस्मदिन्द्रियवर्गश्च रूपत्रयमुदाहृतम् ॥ च-  
न्द्रश्चन्द्राभिमानी च मनःप्रेरक एव च ॥ १२७ ॥  
सूर्यो मण्डलमानी च चक्षुःप्रेरक एव नः ॥  
एवं सर्वत्र तद्भेदाः स्वयमूह्या विभागशः ॥ १२८ ॥

तत्त्वदीपप्रकाशः ।

त्रयाणां शक्तिभेदानाह ॥ अविद्येति ॥ अविद्या जीवस्य, प्रकृति-  
रक्षरस्य, माया कृष्णस्य । उपलक्षणविधाया विद्याया भेदानाह ॥  
निद्रेति ॥ एवं प्रकृतिपुरुषपर्यन्तमुपरिस्थितानां भेदानुक्त्वा महदादी-  
नामाह ॥ महत्तत्त्वमित्यादिना ॥ महत्तत्त्वमाधिदैविकस्थानीयम् ।  
द्वितीयं ब्रह्मशरीरम् । तृतीयमस्मदादीनां चित्तम् । अनेनान्येषाञ्चानु-  
पलब्धेरिति भगवत्सिद्धान्ते दोषः परिहृतः ॥ १२४ ॥ अहंकारे  
भेदानाह ॥ अहङ्कार इत्यादिना ॥ १२५ ॥ चक्षुरित्यादीन्द्रियाणां  
भेदाः सामान्येनाह ॥ मूलेन्द्रियाणीति ॥ १२६ ॥ त्रयाणामवान्त-  
रभेदाः सन्तीति ज्ञापनार्थमाह ॥ चन्द्रश्चन्द्राभिमानी चेति ॥  
अतिदिशति ॥ एवमिति ॥ १२७ ॥ १२८ ॥

आवरणभंगः ।

अविद्या जीवस्येति ॥ व्यष्ट्यादित्रयस्य च जीवस्येत्यर्थः ॥ एवञ्चान्तर्यामिणः  
शरीररहितत्वं ज्ञापितम् ॥ उपलक्षणविधयेति ॥ एवञ्च द्वादशशक्तिमध्यगणि-  
ता आधिदैविकी ब्रह्मणः सकाशात्पञ्चपर्वरूपेणोत्पन्ना द्वितीया । अस्मदादिषु  
रजतभ्रमजनिका तूलविद्या तृतीयेत्यादिरूपेणापि ज्ञेयम् ॥ तथा प्रकृतिमाययो-  
रपि ज्ञेयाः । एतावत्पर्यन्तं ये भेदा उक्तास्तेषु पूर्वोद्दिष्टमाधिभौतिकमग्रे च

व्युत्क्रमेणेति ज्ञापयितुमाहुः ॥ ॥ महत्तत्त्वमाधिदैविकेत्यादि ॥ एतन्निरूपण-  
प्रयोजनमाहुः ॥ ॥ अनेनेति ॥ ब्रह्मादिरूपेणोपलभ्यमानत्वात्परिहृत इत्यर्थः ॥  
तदेतद्भाष्यप्रकाशे उपपादयिष्यते । एवं महत्तत्त्वेत्यारभ्य मूलेन्द्रियाणीत्य-  
न्तमानन्दचित्सत्प्राधान्येनाधिदैविकाध्यात्मिकाधिभौतिकभावो निरूपितस्तेन  
मूलावान्तरकारणयोराधिदैविकाध्यात्मिकत्वं कार्यस्थस्याधिभौतिकत्वं बोधित-  
म् ॥ १२४ ॥ मूलेन्द्रियाणीति ॥ चिद्वारा पुरुषेन्द्रियाणि ॥ १२५ ॥ १२६ ॥  
त्रयाणामिति ॥ त्रयाणामाधिदैविकादीनामवान्तरभेदाः ॥ आधिदैविकादयस्त्र-  
य एवमाध्यात्मिकाधिभौतिकयोरपि त्रयो ज्ञेयाः ॥ ॥ चन्द्र इत्यादि ॥ एतेना-  
धिदैविके त्रिरूपतोदाहृता तथान्ययोरपि ज्ञातव्या । एवं कालस्वरूपे विचार्यमाणे  
सूर्य अधिभौतिकः । सूर्यस्वरूपे विचार्यमाणे त्वाधिदैविक इत्येवं तत्र तत्स्वरूप-  
विचारे क्रियमाणे यत्र महामाहात्म्यादिकं सूर्यस्य यथा साम्बपुराणे तत्राधिदैवि-  
को मूलेन्द्रियात्मा ज्ञेयः ॥ एवं यत्र विष्णोरपकर्षस्तत्र स भौतिकोऽस्मच्चरण-  
प्रेरको ज्ञेय इत्येवं विचारतः प्रमाणानां पस्परविरोधः परिहृतो भविष्यति ॥ तदेत-  
द्धृदि कृत्याहुः ॥ ॥ अतिदिशतीति ॥ अत्र तन्मात्रादीनां त्रिरूपत्वकथनं चेतना-  
धिष्ठानरहितानामपि त्रिरूपत्वबोधनार्थम् ॥ तेन वैदिकसृष्टिस्थानां घटादीनाम-  
प्याधिदैविकत्वं सत्सृष्टिस्थानामाध्यात्मिकत्वं, गुणरूपसृष्टिस्थानां भौतिकत्वं  
बोध्यम् ॥ १२७ ॥ १२८ ॥

ब्रजभाषाटीका ।

इन तीनोंकी शक्तिको निरूपण करें है ॥ जीवकी अवि-  
द्या शक्ति है, प्रकृति अक्षरब्रह्मकी शक्ति है, माया कृष्णकी  
शक्ति है, तथा अविद्या प्रकृति माया आदिकनके भी अधि-  
दैविकादि तीन तीन भेद हैं जैसे द्वादश शक्तिमें जाकी  
गणनाहै वह आधिदैविकी अविद्याहै, पञ्चपर्वात्मिका आध्या-  
त्मिकी अविद्याहै, छीपमें चांदीको भ्रम तथा रस्सीमें साँपको भ्रम  
करायवेवारी आधिभौतिकी अविद्याहै, या प्रकार प्रकृति मायाके  
भी भेद समझने निद्रा तन्द्रा इन्द्रजाल आदि अविद्याके अवा-  
न्तरभेद हैं ऐसे महत्तत्त्वभी तीनप्रकारकोहै महत्तत्त्व आधिदैवि-  
रूपहै, ब्रह्मशरीर आध्यात्मिकरूपहै अस्मदादिकनको चित्त आधि-

भौतिकरूपहै, ऐसों अहङ्कार आधिदैविकरूपहै, रुद्र आध्यात्मिक-  
रूपहै, अस्मदादिकनके अहङ्कार आधिभौतिकरूपहै ऐसों पुरुष  
चक्षु आधिदैविकहै, सूर्यको शरीर आध्यात्मिकहै, अस्मदादिकनके  
चक्षु आधिभौतिकहै, पुरुषमन आधिदैविकहै, चन्द्रमाको शरीर  
आध्यात्मिकहै, अस्मदादिकनको मन आधिभौतिकहै, ऐसोंही  
मूलेन्द्रिय आधिदैविकहै, देवतानकी देह आध्यात्मिकहै, अस्माद-  
दिकनकी इन्द्रिय आधिभौतिकहै, इन तीनतीन रूपनमें भी एकए-  
कके तीनतीन भेदहैं जैसे चन्द्रमण्डल आधिभौतिक चंद्राभि-  
मानी आधिदैविक मनःप्रेरक आध्यात्मिकहै ॥ १२४-१२७ ॥  
जैसों सूर्यमण्डल आधिभौतिक सूर्यमण्डलाभिमानी आधिदैवि-  
क अस्मदादिकनके चक्षुः प्रेरक आध्यात्मिक याप्रकार सब पदार्थ-  
नमें तीनतीन भेद स्वयं बुद्धिसों समुझलेने अर्थात् आनन्दप्रधा-  
न आधिदैविकहै, चित्प्रधान आध्यात्मिक है, सत्प्रधान आधिभौ-  
तिकहै, सब ठिकानें मूलकारण आधिदैविकहोयहै, अवान्तरका-  
रण आध्यात्मिक होयहै, कार्यस्थ रूप आधिभौतिक होय है; ऐसोंही  
कालके स्वरूपको विचारकियो जाय कालको सूर्य आधिभौतिक-  
रूपहै सूर्यके स्वरूपको विचार कियो जाय तो सूर्य आधिदैविक है  
जैसे सांबपुराणमें सूर्यकी अधिक महिमा लिखीहै वहां मूलेन्द्रिया-  
त्मा आधिदैविक सूर्य समुझनों ऐसेही जहां विष्णुको अपकर्ष  
लिखोहै तहां ( विष्णुर्गत्यैव चरणौ ) इत्यादिकनमें अस्मदादि-  
कनके चरण प्रेरक आधिभौतिक विष्णुको वर्णन समुझनो या  
प्रकार घटपटादि पदार्थभी तीन प्रकारके हैं, वैदिकसृष्टिके जे घ-  
टादिक हैं वे आधिदैविक हैं, सत्सृष्टिके घटादिक आध्यात्मिक हैं,  
गुणजसृष्टिस्थित घटपटादिक आधिभौतिकहैं ॥ १२८ ॥

तन्मात्राणि च भूतानां गुणाः कार्यगतास्त-  
 था ॥ महाभूतान्यावरणं मध्यभूतानि च क्र-  
 मात् ॥ १२९ ॥ अहंकारमहत्तत्त्वप्रकृतीनां पुन-  
 स्तथा ॥ मूलमावरणं चैव ब्रह्मान्तःकरणन्तथा  
 ॥ १३० ॥ अन्येऽप्यवान्तरा भेदाः शतशः सन्ति  
 सर्वशः ॥ लोकपालास्तु ते त्वत्र स्वर्गस्थस्तु  
 पुरन्दरः ॥ १३१ ॥ दश दिक्षु च ते चात्र म-  
 ध्यस्थस्तु पुरन्दरः ॥ तादृशैरपैर्देवैः प्रतिमन्व-  
 न्तरं पृथक् ॥ १३२ ॥ लोकपालास्त्रिधा भिन्नाः  
 स्थानैः सह विभागशः ॥ लोकालोके मानसे  
 च मेरोर्मूर्ध्नि तथैव च ॥ १३३ ॥

तत्त्वदीपप्रकाशः ।

एवमिन्द्रियाणामुक्त्वा तन्मात्राणामाह ॥ तन्मात्राणि चेति ॥  
 ब्रह्माण्डस्य देहत्वात्परिच्छेदं वारयति ॥ अहङ्कारमहत्तत्त्वप्रकृतीनामपि  
 भूतादिन्यायेनाह ॥ पुनस्तथेति ॥ पुनःशब्देन सिंहावलोकन-  
 मुक्तम् ॥ सामान्यतो वदन्नुपसंहरति ॥ मूलमिति ॥ मूलतत्त्वानि ।  
 आवरणस्थानि द्वितीयानि । ब्रह्माण्डान्तःस्थितानि तृतीयानि ब्रह्मणा  
 अन्तःकरणं येषामिति ॥ १२९ ॥ १३० ॥ परिच्छेदं वारयति ॥ अन्ये-  
 पीति ॥ अस्मदाद्यधिष्ठिता पृथ्वी प्रथमा, भाराक्रान्ता गोरूपा द्वितीया,  
 भगवतः पार्श्वे वर्तमाना तृतीयेति । एवञ्जलादावपि ज्ञातव्यम् ॥ ये  
 दशेन्द्रियाणां देवा उक्ताः । अहङ्कारादुत्पन्नास्त एव लोकपाला इन्द्रा-  
 दयः । नामसाम्यात् ॥ ब्रह्माण्डस्य देहत्वात् । अतः पिण्डपाला एव  
 लोकपाला इत्यभिप्रायेणाह ॥ लोकपालास्त्विति ॥ मित्रो निर्ऋतिः ॥  
 अश्विन्यवुत्तरतः दिशो यमस्थानीया इति । तत्र पुरन्दरस्य मध्यस्वर्गे

स्थितिः उपरिभागद्योतिका ॥ तेषां यथेच्छां स्थितिं वारयितुमाह ॥  
॥ १३१ ॥ दशदिक्षु त्विति ॥ चंद्रमसो मध्यपाते पुरन्दरो मध्यस्थः । एवं  
सति तत्त्वाधिक्यं न भवति । एते सर्वे सहोत्पन्नाः सहैव तिरोहिता भवन्ति  
इति प्रतिमन्वन्तरं तदंशास्तन्नामानो भिन्ना इत्याह ॥ तादृशैरपरैरिति ॥  
तेषामवान्तरभेदानाह ॥ १३२ ॥ लोकपाला इति ॥ सर्वेषां देवानां  
लोकालोकस्थानमेकम् । तथा मानसोत्तरे तथा मेरोर्मूर्धनि ॥ १३३ ॥

आवरणभंगः ।

मूले शतशः सन्ति सर्वश इति । सर्वेषु शतं शतं सन्तीत्यर्थः ॥ बह्वल्पर्याच्छस्-  
कारकान्यतरस्यामिति सूत्रेऽर्थग्रहणात्पर्यायेभ्यो विशेषेभ्योऽङ्गीक्रियत इति शतश  
इति विशेषात्कर्त्रर्थे शस् संख्यैकवचनाच्च वीप्सायामितिसूत्रे वामनेन कुंडशो ददा-  
ति वनशः प्रविशतीति प्रत्युदाहरता एकार्थतानियतेभ्यो जातिशब्देभ्योऽप्यङ्गी-  
कृता इति सर्वशब्दाद्वैषयिकाधिकरणकारकाच्छस् बोध्यः ॥ देवेष्वतिदेशेन प्राप्ते  
त्रिरूपत्वे प्रकारं विशदीकर्तुं तेषु लोकादिपालकत्वमुपपादयन्ति ॥ ये दशेन्द्रिया-  
णामिति ॥ ॥ नामसाम्यस्याप्रयोजकत्वमाशङ्क्य हेत्वन्तरमाहुः ॥ ॥ ब्रह्माण्डेत्या-  
दि ॥ ॥ निर्ऋतौ नामसाम्याभावाद्दानन्तर्गतत्वमाशङ्क्य समादधते ॥ मित्रोनि-  
र्ऋतिरिति ॥ “ गुदं पुंसो विनिर्भिन्नं मित्रो लोकेश आविशत् ” इति निर्ऋ-  
तिः पाय्वघाश्रय इति च तृतीयस्कन्धवाक्यात्तादृशलोकपतित्वं रक्षस एवोचित-  
मिति मित्रशब्दवाच्या निर्ऋतिरेव ज्ञेया इत्यर्थः ॥ अश्विनोर्लोकपालत्वं न स्फुट-  
मिति पूर्वोक्तमसंगतमित्याशङ्कायां तयोस्तथात्वमुपपादयन्ति ॥ अश्विनावुत्तरत  
इति ॥ “ विनिर्भिन्नेऽश्विनौ नासे विष्णोराविशतां पदम् ” इति वाक्ये यद्यपि  
लोकेशपदन्नास्ति तथापि “ यावद्दलिं तेऽजहरामकाल ” इति पयोक्तृसामुदायि-  
कप्रार्थनयाऽत्रापि लोकेशत्वमावश्यकम् ॥ एतंसति तयोर्भिषक्त्वेन सौम्यत्वा-  
दुत्तरस्या दिशः शान्तत्वात्तल्लोकपालकौ तावेवोचित्यान्निश्चेयावित्यर्थः ॥ दिशां  
देहाभावेन देवत्वस्यास्फुटत्वाल्लोकपालत्वदौर्घट्यमाशंक्य समादधते ॥ दिशो यम-  
स्थानीया इति ॥ ॥ दिशः श्रोत्रादिति श्रुतेः कर्णोत्पन्नत्वेन दिशां कर्णस्थानक-  
त्वम् ॥ तौ च द्वौ पुरुषश्च द्वितीयस्कन्धे प्राङ्मुस उक्तस्तत्रोत्तरेशत्वं यदाश्वि-  
नोस्तदा पारिशेष्यादक्षिणेशत्वं दिशाम् ॥ युक्तिस्तु धर्मनियामकत्वरूपा ज्ञेया ।  
यमस्य तदाधिभौतिकरूपत्वात् ॥ अतोयमाधिदैविकरूपास्ता इति लोकपालत्वं  
न तासां नदुर्घटमित्यर्थः ॥ नन्वेवं सति इन्द्रस्य हस्तयोरेव स्थितिर्भवेद्लोकेश्वे-

न्द्रियस्य सदैवस्य स्थितेरोचित्यादत आहुः ॥ ॥ तत्रेति ॥ तेषु देवेषु स्वर्गमध्य इति ॥ ॥ “ इन्द्रः स्वर्पतिराविशत् ” इति वाक्यादित्यर्थः ॥ ॥ उपरीत्यादि ॥ हस्तदेवतात्वेन वक्षःस्थले प्रचरणाल्लोकत्रयोपरिभागस्य द्योतको नतु वरुणवद्रसा- तलादिस्थ इत्यर्थः ॥ १२९ ॥ १३० ॥ १३१ ॥ ननु यथा द्वितीयस्कन्धे “ देवा वैकारिका दश ” इति दश देवपक्ष उक्तस्तथैकादशे “ तैजसादेवता आसन्ने- कादश च वैकृतात् ” इत्येकादश देवपक्ष उक्त इति तस्मिन्पक्षे कथं पुरंदरस्य मध्यस्थत्वमित्यत आहुः ॥ ॥ चंद्रमस इत्यादि ॥ हृदये वागीशचन्द्रमहदभिमा- नानां चतुर्णां स्थितिरुक्तेति चन्द्रस्यैव मध्यपत्वे विनिगमकाभावात् तस्यैव मध्ये स्थितिरुचिता राजाधिराजत्वादित्यर्थः ॥ अतएवाभिमानाधिष्ठातुरीशानस्याप्यै- शान्यामेव स्थितिः । यद्वा लोकपालत्वेन पूर्वोक्तरीत्या स्थितावपि दिक्पालत्वे इन्द्रस्यैव प्राचीदिक्पतित्वेन चन्द्रमसो मध्यस्थत्वे पुरन्दरो न मध्यस्थ इत्यर्थः ॥ मूलं त्वेवं योज्यम् । तुरितर व्यावृत्तौ । अत्र ब्रह्माण्डे ते तु दशेन्द्रियदेवा लोकपाला नान्येऽतिरिक्ताः । तुः पूजार्था पुरन्दरस्तु पूज्यत्वात्तेषु । स्वर्गस्थः तुरितरव्यावृ- त्तौ । भूमौ ते दशादेस्तु स्थिता नतु यथेच्छं यत्रकापि तिष्ठति त्विंशेषावधारणे च- न्द्रमसो मध्यपाते पुरन्दर एव तथेत्यर्थ इति ॥ एवञ्च कुबेरस्याप्यश्विनाधिभौति- कत्वं ज्ञेयम् ॥ अत एवातिसुन्दरयोर्नलकूबरमणिग्रीवयोस्ततो जन्म । एतत्कथन- स्यावान्तरफलमाहुः ॥ ॥ एवं सतीत्यादि ॥ एवं निरूपस्य प्रामाणिकत्वायाहुः ॥ तेषामिति ॥ ॥ तथा च स्थानभेदोक्तेरेवात्र मानमित्यर्थः ॥ मूलेविभागश्च इति ॥ जातिशब्दात्करणकारके शस्त्रविभागेनेत्यर्थः ॥ १३२ ॥ १३३ ॥

ब्रजभाषाटीका ।

तन्मात्रानके भेद वर्णन करे हैं, पञ्चतत्वनके कारण जे मात्रा- त्मक रूप रस गन्ध स्पर्श शब्द हैं वे आधिदैविक हैं, और पञ्च तत्त्व आध्यात्मिक हैं, कार्यके गुणरूप जे रूप रस गन्ध स्पर्श शब्द वे आधिभौतिक हैं ॥ ऐसैही आध्यात्मिक महाभूत भी तीनप्र- कारके हैं ~~त्रय~~ महाभूत आधिदैविक है, ब्रह्माण्डके चारोंत- रफ लिपट रहे जे आवरणरूप महाभूत आध्यात्मिक हैं, ब्रह्माण्डके भीतरके जो महाभूत हैं वे आधिभौतिक हैं ॥ ऐसैही अ- हंकार आधिभौतिक है महत्तत्त्व आध्यात्मिक है प्रकृति आधिदै- विक है याही प्रकार अष्टाईस तत्वनके भी तीन भेद हैं मूलकार-



णरूप अष्टाविंशति तत्त्व आधिदैविक हैं ब्रह्माण्ड जिनसों घिर रह्यो है वे आध्यात्मिक हैं और ब्रह्माण्डके भीतर जे तत्त्व वे आधिभौतिक हैं ऐसैं एकएक तत्त्व भी तीन प्रकारको है जैसे पृथ्वीके तीन स्वरूप हैं जाके ऊपर मनुष्यादिक रहें हैं वह आधिभौतिक पृथ्वी है, दैत्यसों दुखित भई गौरूपवाली जो ब्रह्माजीसों प्रार्थना करवे गई हती वह आध्यात्मिक पृथ्वी है, और भगवान् की पत्नी है वो आधिदैविक पृथ्वी है, ऐसैं ही जलादिकनके भी तीन भेद समुझलेनो ऐसैं ही लोकपाल भी तीन प्रकारके हैं सात्विक अहंकारसों उत्पन्न भये जे दश इन्द्रियनके देवता हैं वे ही लोकपाल हैं क्यों कि उनके इनके एक ही नाम हैं जैसे आपनो देह है तैसे ब्रह्माण्डाभिमानी पुरुषको ब्रह्माण्ड देह है जैसे अपने पिंडके हाथ पांव आदि अवयवनके रक्षा करवे वारे इन्द्र वायु आदि देवता हैं ऐसैं ब्रह्माण्डरूप देहके स्वर्गादिलोक रूप अवयवनके रक्षक वारे वे ही देवता हैं लोकालोकमें रहवे वारे देवता उनके आधिदैविक रूप हैं, मानसोत्तरपर्वत पे रहवे वारे उनके आध्यात्मिक रूप हैं, मेरुपर्वतके ऊपर रहवे वारे देवता आधिभौतिक रूप हैं ऐसैं ही इनके स्थानमें भी तीन भेद हैं मेरु आधिभौतिक स्थान है, मानसोत्तर आध्यात्मिक स्थान है, लोकालोक आधिदैविक स्थान है, ये देवता साथ ही प्रकट होवे हैं, साथ ही तिरोहित होय जावे हैं, मन्वन्तर मन्वन्तरमें ब्रह्माण्डके देवतानके अंशरूप देवता न्यारे न्यारे हो जावे हैं, जैसे अपने कर्णनकी दिशा देवता हैं ऐसैं ब्रह्माण्डाभिमानी पूर्वाभिमुख पुरुषके कर्णनकी देवता भी दिशा हैं ऐसैं सब इन्द्रियनके जानने, ये देवता पृथ्वीमें तो दश दिशानके पालक होयके अपनी दिशानमें रहे हैं तहां हस्ताभिमानी देवता इन्द्र पूर्वदिशाको पाल है, वाणीकी देवता अग्नि अग्निकोणको मालिक है, कर्ण-

नकी देवता दिशा है सो अपने आधिभौतिक यमराजके रूपसों दक्षिणदिशामें रहे हैं, पायु इंद्रियको देवता मित्र है सो अपने आधिभौतिक निर्ऋति देवताके रूपसों नैऋत्यकोणमें रहे हैं जिह्वाको देवता वरुण है सो पश्चिमदिशामें रहे है, त्वचा इन्द्रियको देवता वायु वायुकोणमें रहे है, नासा इन्द्रियको देवता अश्विनीकुमार अपने आधिभौतिक कुबेररूप करके उत्तरदिशामें रहे है, अभिमानाधिष्ठाता रुद्र इशानकोणके स्वामी हैं, गुह्यके देवता ब्रह्मा ऊपरकी दशामें रहे है, चरणके देवता आधिभौतिक विष्णु नीचेकी दिशामें रहे हैं, ये देवता इंद्रियनसहित अपने अपने गोलकनमें रहे हैं परन्तु हस्तको देवता इन्द्र तो मध्यभाग जो स्वर्ग है वामें स्थित है क्योंकि हस्त जैसे सर्व शरीरको स्पर्श करसके हैं ऐसे इन्द्रभी सर्वलोकनमें विचरतोभयो तीनो लोकनमें ऊपर जो स्वर्गलोक है वामें स्थित रहते हैं स्वर्गविराट्के मध्यभागमें है १२९-१३३

ब्रह्मणोऽपि तथा सत्ये विराट्जीवस्तु भोगभुक् ॥ गुणावतारस्त्वन्यः स्यादेवमन्यत्र सर्वशः ॥ १३४ ॥ कैलासादिविभेदश्च तथा वैकुण्ठवासिनः ॥ कृत्रिमं च ध्रुवस्थानं श्वेतद्वीपं तथैव च ॥ १३५ ॥ एवमेकप्रकारेण गुणतस्त्रिविधं मतम् ॥ सूर्यश्चक्षुस्तथा रूपं गोलकं चेति वाभिदा ॥ १३६ ॥ बुद्धिः खानि तथा मात्राः कचिदेवं भिदा त्रयम् ॥ भगवद्व्यतिरिक्तानां घटादीनां यथोद्भवः ॥ १३७ ॥ इति कार्यप्रकरणम् ॥

तत्त्वदीपप्रकाशः ।

ब्रह्मणोऽप्याह ॥ ब्रह्मण इति ॥ मेरोर्मूर्द्धनि स्पष्ट एव ॥ पुष्करद्वी-

पेऽपि स्पष्टम् ॥ अतो लोकालोकेऽपि ज्ञातव्यम् ॥ सत्यलोके आधिदै-  
विकः ॥ विराट्देहे अभिमानी द्वितीयः ॥ मेरोर्मूर्धनि तृतीयः ॥ मध्यम  
एव भोगभोक्ता ॥ गुणावतारस्तु तेभ्यो भिन्न इत्याह ॥ गुणावतारस्त्व-  
ति ॥ यो नाभिक्रमले जातः ॥ एवं रुद्रादीनामपि कैलासादिविभेदा  
वक्तव्याः ॥ एवं वैकुण्ठस्यापि भेदास्तानाह ॥ कृत्रिममिति ॥ वैकुण्ठः  
कल्पितो येनेतिवाच्यात् ॥ तदाधिदैविकस्थानीयम् । चकारात्तदकृत्रि-  
ममपि भगवदिच्छामात्रेण प्राकट्यात् ॥ ध्रुवस्थानं ज्योतिश्चक्रस्थम-  
थवा ध्रुवं निश्चलस्थानं लोकत्रयोपरि महर्लोकादर्वाकूपकारान्तरं वक्तुं  
पूर्वोक्तमुपसंहरति ॥ एवमिति ॥ द्वितीयं प्रकारमाह ॥ सूर्य इति ॥  
यत्रैवाधिदैविकव्यवहारः स प्रथमः । आध्यात्मिको द्वितीयः । तृतीये  
प्रकारद्वयं रूपं गोलकञ्च पुनरन्यं प्रकारमाह ॥ बुद्धिःखानीति ॥  
इन्द्रियजन्या बुद्धिराधिदैविकी ॥ एवं प्रकारत्रयं निरूप्य सर्वेषां स्वरू-  
पं निरूपयितुं भगवत्वे जन्मादिभावा न युक्ता इति ज्ञानेन्द्रियाणां कर्मे-  
न्द्रियाणाञ्च वैयर्थ्यमाशङ्क्य त्रैविध्यसमर्थनार्थं ज्ञानक्रिययोरुत्पत्तिं  
समर्थयते ॥ भगवद्व्यतिरिक्तानामिति ॥ भगवतोऽप्याविर्भावातिरोभा-  
वौ प्रायेण वैदिकानां संमतौ तदतिरिक्ते संदेहोऽतस्तत्र विचारः कर्त-  
व्य इति घटादिनिर्णय एव ज्ञानक्रिययोरपि निर्णयो भविष्यतीति ने-  
न्द्रियाणां वैयर्थ्यमित्यर्थः ॥ १३४--१३७ ॥ इति कार्यप्रकरणम् ॥

आवरणभंगः ।

भोगभोक्तेति ॥ ॥ ब्रह्माण्डदेहस्थं यत्सुखं तद्भोक्तेत्यर्थः ॥ वक्तव्या इति ॥  
कैलासे एकः शिवलोकः । सत्योपरि द्वितीयः । एवं पुराणान्तरानुरोधाच्चतृतीयो-  
पि ज्ञेय इत्यर्थः ॥ ॥ पूर्वोक्तमिति ॥ धर्मतस्त्रैविध्यप्रकारमित्यर्थः ॥ द्वितीयं  
प्रकारमिति ॥ आनन्दादिधर्मप्राधान्यमाधिदैविकादिशब्दानां यौगिकमर्थश्च पुर-  
स्कृत्य यः सिद्धयति तमित्यर्थः ॥ यौगिकार्थमात्रं पुरस्कृत्य तृतीयं प्रकारमाहुः ॥  
पुनरन्यमित्यादि ॥ स्वानां शरीरनिष्ठत्वेनाध्यात्मिकत्वस्य मात्राणां भूतनिष्ठत्वेनाधि-  
भौतिकत्वस्य स्फुटत्वात्पारिशेष्येणाहुः ॥ ॥ इन्द्रियजन्येति ॥ ॥ अधिदैविकीति ॥

अस्मदिन्द्रियप्रेरकमनोरूपदेवनिष्ठेत्यर्थः ॥ मनसो देवत्वमत्र व्यहाराज्ज्ञेयम् । दी-  
व्यति व्यवहरतीति देव इति । मनसो वशे सर्वमिदं बभूव नान्यस्य मनोवशमन्वि-  
याय ॥ भीष्मो हि देवः सहसः सहीयानिति श्रुत्या च ॥ अयं त्रैविध्यप्रकारो द्वाद-  
शस्कन्धे चतुर्थीध्याये “ दीपश्चक्षुश्च रूपञ्च ज्योतिषो न पृथक् भवेत् । एवं धीः  
स्नानि मात्राश्च न स्युरन्यतमादृतात् ॥ ” इतिवाक्ये अन्योन्यसापेक्षत्वकथनात्तन्मूल-  
को व्यवहारोपयोगाय ज्ञेयः ॥ अत्रानन्त्येपि हि कार्याणामित्यारभ्य प्रतिपादितस्य  
समष्टिव्यष्टिभावस्याध्यात्मिकादिभावस्य च मूलमविरोधचतुर्थपादे ज्योतिरायधि-  
ष्ठानाधिकरणे विचारितं ज्ञेयम् ॥ एवमेतावति ग्रन्थे “ प्रमेयबलमाश्रित्य सर्वनिर्णय-  
उच्यते ” इत्यत्रोक्तं प्रमेयं पश्चात्प्रकेत्यारभ्य जडजीवेनेत्यन्तेन विवेचितम् । ततः  
सर्वेषां त्रिगुणत्वाद्धीत्यारभ्य भिदात्रयमित्यन्तेन तस्य सर्वस्य प्रमेयस्य तत्तत्कार-  
यक्षमत्त्वरूपं बलं दिङ्मात्रेणोपलक्षणविधया निरूपितम् ॥ अतः परं तदाश्रयेण  
विचारापरपर्यायेण सर्वस्य भगवद्व्यतिरिक्तस्य पदार्थजातस्य स्वरूपं निर्णीयते ॥  
एवमित्यादि ॥ ॥ एवं तत्र तद्वलनिश्चयो येन रूपेण भवेत्तेन रूपेण प्रकारत्रयं  
निरूप्य कार्यकारणस्वरूपात्मकं विविच्य सर्वेषां लौकिकसच्चिदानन्दानां नाम-  
रूपकर्मणाञ्च स्वरूपं भगवदात्मकत्वलक्षणं निरूपयितुं भगवत्वे कार्यकारण-  
कोटिगतानां सर्वेषां भगवदभिन्नत्वे जन्मादिभावाः । जायतेऽस्ति वर्द्धते विपरि-  
णमतेऽपक्षीयते नश्यतीति प्रतीतिसाक्षिकाः षडपि न युक्ता इति तदभावे उभ-  
येन्द्रियवैयर्थ्यश्चेत्याशङ्क्य त्रैविध्यसमर्थनार्थमाधिभौतिकादिरूपत्रैविध्योपपाद-  
नार्थं ज्ञानक्रिययोः आधिभौतिकव्यावहारिकज्ञानक्रिययोरुत्पत्तिमुपपादयती-  
त्यर्थः ॥ ननु सर्वस्यैव भगवत्वे व्यावहारिकज्ञानक्रिययोरपि भगवत्वमेवेति  
तद्व्यतिरिक्तविचारः कुतः क्रियत इत्यत आहुः ॥ ॥ भगवत् इत्यादि ॥ तदतिरि-  
क्ते संदेह इत्यादि भगवदतिरिक्ते कार्यकोटिस्थे व्यावहारिकज्ञाने कारणकोटिस्थे  
प्रकृत्यादौ स्वरूपकोटिस्थे कालादौ च यथायथं मायादिसांख्यवादिवैदिकवा-  
दिमतप्रकारदर्शनात्संदेहः ॥ अतो वादिवैसंमत्यादिचारः कर्तव्य इति हेतोर्घटा-  
द्विदिष्टेः सर्वाकारस्वरूपेणेत्यादिनानुपदं करिष्यमाणे तयोरपि सभविष्यतीति  
तथेत्यर्थः ॥ १३४-१३७ ॥ इति कार्यकारणम् ॥

ब्रजभाषाटीका ।

ब्रह्मादिकनके भी त्रिविध भेद वर्णन करेहैं सत्यलोकमें आ-  
धिभौतिक ब्रह्माहै, ब्रह्माण्डदेहके सुखको भोक्ता विराट्देहमें अ-  
रो आध्यात्मिकब्रह्मा है, सुमेरुपर्वतपै जाकी पुरी है

वह आधिभौतिक ब्रह्माहै भगवान्‌के चिदंशसों प्रकटभये रजोगुणमें अवतारलेवेवारे नाभिकमलसों जो प्रकटभये हैं वे ब्रह्माजी इन तीनोंसों न्यारेहैं ऐसे शिवलोकके भी तीन भेदहैं कैलासमें एक शिवलोकहै, दूसरो शिवलोक सत्यलोकके ऊपरहै याप्रकार और पुराणनके अनुसार तीसरो शिवलोक भी जानलेनो ऐसैही वैकुण्ठके भी तीन भेदहैं लक्ष्मीजीकी प्रार्थनासों प्रकटकियो आधिदैविक वैकुण्ठहै, ध्रुवजी जावै कुण्ठमें रहेहैं वह आध्यात्मिक वैकुण्ठहै, श्वेतद्वीपमें आधिभौतिक वैकुण्ठ है ॥१३४॥१३५॥ पहले प्रकारमें आनन्द प्रधान पदार्थकूं आधिदैविक, चित्प्रधानकूं आध्यात्मिक, सत्प्रधानकूं आधिभौतिक कह आये हैं, या द्वितीय प्रकारमें आनन्दादि धर्मनकूं ग्रहणकरके तथा व्याकरणादिद्वारा आधिदैविकादिशब्दनको जैसे अर्थ होयहै वाकूं भी लेकें तीन-प्रकार वर्णन करेहैं, सूर्य आधिदैविकहै, चक्षु आध्यात्मिकहै, गोलक आधिभौतिकहै, या क्रममें आधिदैविक पदार्थकूं प्रथम, आध्यात्मिककूं द्वितीय, आधिभौतिककूं तृतीय समुझलेनों, तृतीयके दो भेदहैं गोलक और रूप, व्याकरणके द्वारा आधिदैविकादिपदनको जैसो अर्थ होवेहै वाकूं लेके तृतीय प्रकारको वर्णन करेहैं, अस्मदादिकनके इन्द्रियको प्रेरक 'भीष्मो हि देवः' इत्यादि-श्रुतिसिद्ध मनरूप देवनिष्ठ जो बुद्धि है वह आधिदैविकीहै, शरीरमें रहवेवारी इन्द्रियें आध्यात्मिकहैं, पञ्चभूतनमें रहवेवारी रूप, रस, गंध, स्पर्श, शब्द आदि मात्रा आधिभौतिक हैं, ऐसै और पदार्थनमेंभी भेद जानने, ये प्रकार द्वादशस्कन्ध चतुर्थाध्यायमें ( दीपश्चक्षुश्च रूपञ्च । एवं धीः खानि मात्राश्च न स्युरन्यतमाहतात् ) इत्यादिस्थलमें प्रसिद्धहै, ये प्रकार व्यवहारके उपयोगार्थ वर्णन कियोहै, यारीतिसों तीनों प्रकारनको निरूपणकरे,

संपूर्ण पदार्थनको यथार्थस्वरूप भगवान्हीहै यह निरूपण कोहै तहां लौकिक सच्चिदानन्द सब पदार्थ तथा इनके नाम रूप ये सब पदार्थ भगवत्स्वरूप माने तब उनके जन्म नाशादि क्यों होवेंहैं ऐसी शंका होवेहै, यदि उन पदार्थनके जन्मनाशादि नहीं मानेहैं तो घटादि सब पदार्थ विद्यमानहीहैं इनकी उत्पत्तिनाशादि करवेकेलिये क्रियाकी आवश्यकता नहीं होगी तब क्रियाकेलिये हस्तपादादिक कर्मेन्द्रियभी वृथाही होयगी ऐसैही ज्ञानभी सर्वपदार्थनको विद्यमानहीहै तब पदार्थनके ज्ञानकरवायवेवारे नेत्र श्रवणादिक ज्ञानेन्द्रियभी वृथाही होयगी याकेलिये व्यवहारमें आयवेवारे ज्ञानक्रियानकी उत्पत्तिनाशादिकनको यथार्थस्वरूप युक्ति द्वारा वर्णनकरेहैं तासों कहेभये आधिदैविकादि तीन भेदनको भी समर्थन होयजायगो तहां भगवान्के आविर्भाव तिरोभाव तो वैदिकननें मानेहैं उनमें संदेह नहींहैं किन्तु लौकिक पदार्थनमें संदेह है, क्योंकि मायावादि उनकूं उत्पत्ति नाशवारे मानेहैं, सांख्यवादि अविर्भाव तिरोभाववाले मानेहैं तासों घटादिपदार्थनके उत्पत्तिनाशको निर्णय करना आवश्यकहै ताहिमें ज्ञानक्रियाके उत्पत्तिनाशकोभी निर्णय होयजायगो तासों इन्द्रियके व्यर्थताकी शंकाभी दूर होयजायगी ॥ १३६ ॥ १३७ ॥

व्यवहारे तथा ज्ञानक्रिययोरपि निश्चयः ॥  
 न प्रतिस्फुरणं रूपरहितस्य कदाच न ॥ १३८ ॥  
 अविद्यायास्तथाबुद्धेर्न शुद्धत्वं कदाचन ॥ बु-  
 द्धेर्दृष्टिः स्थितिर्नाम गुणतः सा त्रिधा मता ॥  
 अतो जागरणादीनि जीवस्तद्वशगो यतः १३९ ॥



तत्त्वदीपप्रकाशः ।

ननु ज्ञाने प्रतिबिम्ब एव भवतु स्वरूपस्य नित्यत्वादित्याशंक्य  
तथा पक्षपातः त्रिष्वपि कर्तव्य इति वक्तुं ज्ञाने प्रतिबिम्बपक्षं दूषय-  
ति ॥ न प्रतिस्फुरणमिति ॥ तत्र हेतुः ॥ रूपरहितस्येति ॥ कालान्तरे  
देशान्तरेऽपि तथात्वं वारयति ॥ कदाचनेति ॥ १३८ ॥ दोषान्तर-  
माह ॥ अविद्याया इति ॥ अविद्यायां प्रतिबिम्बे जीवत्वं बुद्धौ प्रतिबि-  
म्बे व्यावहारिकज्ञानमिति स्यादेवं यद्यविद्याबुद्धिर्वा शुद्धा स्यात् ।  
तथासति सदंशानामपि भावात् सर्वेषां सर्वज्ञता स्यात् ॥ सर्वेषां प्र-  
तिबिम्बाभावे हेतुभावात् । इन्द्रियाणाञ्च वैयर्थ्यम् । अत इदं ज्ञानं  
कार्यरूपं भिन्नमेव चिदादिभिः सह बुद्धेः कोशादिष्वैकार्थ्यात् ॥ बु-  
द्धिवृत्तिर्जन्यत इत्यत्र वृत्तिर्बुद्धेः पदार्थान्तरं न भवति किन्तु स्थितिरेव  
सत्त्वादिभिः ॥ अत एव भ्रमादीनामपि संग्रहः । यदीन्द्रियैर्जन्या न  
स्यात् घटे कापि तदा भ्रमो न स्यात् । जीवस्य गुणतोऽवस्थात्रयं भिन्न-  
हेतुकं स्यात् । अतो गुणवशाद्यथा बुद्धिर्भवति तथैव मन्तव्यमिति ।  
अत एव जीवस्यापि न स्वातन्त्र्यं गुणाधीनत्वात् ॥ १३९ ॥

आवरणभंगः ।

एवं ज्ञानक्रिययोरुत्पत्तिनिरूपणं प्रतिज्ञाय लौकिकक्रियोत्पत्तेः सर्ववादिसं-  
मतत्वात्तद्विचारमकृत्वा ज्ञानोत्पत्तिं प्रतिपादयिष्यन्तो मायावादिमते ज्ञानो-  
त्पत्त्यनङ्गीकारात्तन्मतं दूषयितुमुत्थापयन्ति नन्वित्यादिना ॥ ॥ ज्ञाने ॥  
कार्यत्वेनाङ्गीक्रियमाणे ज्ञाने प्रतिबिम्ब एव भवतु । बुद्धिवृत्तौ ज्ञानस्य प्रतिबिम्ब  
एवास्तु ॥ स्वरूपस्य ज्ञानस्वरूपस्य नित्यत्वादित्याशंक्य तथा पक्षपातः स्वरू-  
पनित्यत्वपक्षपातः त्रिष्वपि सच्चिदानन्देषु कर्तव्यः कर्तुमुचित इति ॥ ज्ञाने प्रतिबि-  
म्बं दूषयतीति योजना ॥ ॥ अत्रायमर्थः ॥ सिद्धान्तिना हि द्विविधं ज्ञानमङ्गीक्रि-  
यते । नित्यं कार्यञ्च । तत्र नित्यं चतुर्विधं कार्यं षड्विधमिति तृतीयस्कन्धसुबोधि-  
न्यां 'तथा विभ्रंशितज्ञाना' इत्यत्र । तत्र नित्यं वृत्त्याऽभिव्यज्यते वेदादिशरीरश्च  
गृह्णाति भगवंद्वर्मरूपं यत्तद्भगवद्भक्तं जीवेपि सभाषाति ॥ कार्यज्ञानं तु तत्तदिन्द्रि-  
याणां विषयसन्निकर्षद्वारा जाग्रदादिवृत्तौ मनसि जन्यते । तथासत्यर्द्धजरतीया-

पत्तिरनेकव्यक्तितदुत्पत्तिनाशादिगौरवापत्तिश्चेति तदनादृत्यैकमेवात्मरूपं ज्ञानं नित्यमङ्गीकार्यं लाघवात् । सर्वस्य ब्रह्मात्मकत्वं वदता सिद्धान्तिनापि जन्यज्ञानस्य भगवद्रूपताङ्गीकरणाच्च सिद्धे चैवं स्वरूपनित्यत्वे वृत्तौ यदभिव्यञ्जनं समागमनं जननं वाङ्गीकृतं तदपि प्रतिबिम्बद्वारकमेव भवति सात्त्विकवृत्तेः शुद्धत्वादतो ज्ञानप्रतिबिम्ब एव युक्तः । तदेतदुक्तं ज्ञाने प्रतिबिम्ब एव भवतु स्वरूपस्य नित्यत्वादित्याशङ्क्येति । एवं ज्ञानस्यात्मस्वरूपत्वेन नित्यत्वस्वीकारे ब्रह्मणः सञ्चिदानन्दरूपस्यात्मत्वेन स्वरूपात्मकज्ञानवत्तादृशस्वरूपात्मकसदानन्दयोरपि नित्यत्वात् । तन्मध्ये व्यावहारिकज्ञानस्यैव वृत्तौ प्रतिबिम्बोऽन्ययोस्तु न प्रतिबिम्ब इति । तवाप्यर्धजरतीयं स्वरूपे समानमिति तन्निरासार्थं तयोरपि ज्ञानस्य इव वृत्तौ प्रतिबिम्ब एव भवतापि स्वीकार्यः । तथासति सविषयभानावसरे सदानन्दावपि स्वरूपभूतौ भासेतां तदेतदुक्तं तथा पक्षपातस्त्रिष्वपि कर्तव्य इति । अथ तथा न स्वीक्रियते तदाऽप्राप्तिकाङ्क्षजरतीयादृश्यपाणदोषाच्च ज्ञानप्रतिबिम्बपक्षोऽप्यप्रयोजकस्तदेतदुक्तम् ॥ ज्ञाने प्रतिबिम्बं दूषयति इति ॥ दूषणमाहुः ॥ नेत्यादिरूपरहितस्येति ॥ ॥ चक्षुरयोग्यस्य ननु सर्वदा चक्षुरयोग्यस्य शब्दस्य कूपादौ प्रतिध्वनिदर्शनात्तस्य च शब्दप्रतिरूपत्वान्न सार्वत्रिकश्चक्षुरयोग्यस्य प्रतिबिम्बभावनियमोऽतो न दोष इति चेत् । अत्र केचित् । प्रतिध्वनिर्नपूर्वशब्दप्रतिबिम्बः । पञ्चीकरणप्रक्रियया पटहादिशब्दानां क्षितिसलिलादिशब्दत्वेन प्रतिध्वनेरेवाकाशीयशब्दतया तस्यान्यशब्दप्रतिबिम्बत्वायोगात् । नापिवर्णरूपप्रतिशब्दस्तथा वर्णाभिव्यञ्जकध्वनिनिमित्तकप्रतिध्वनेः । प्रथमध्वनिवदेव वर्णाभिव्यञ्जकत्वोपपत्तेः । पूर्ववर्णप्रतिबिम्बत्वकल्पनायोगादित्याहुः ॥ वस्तुतस्तु प्रतिध्वनेः शब्दप्रतिबिम्बत्वं मानाभावग्रस्तमेव नच साजात्यानुभव एव मानमिति वाच्यम् । तस्य शब्दांतरेपि तुल्यत्वात् । बिम्बस्थित्यधीनस्थितिकत्वस्य प्रतिबिम्बताविनिगमकस्यात्रासत्वात् । नच बिम्बरूपपूर्वशब्दस्थितिः ॥ शक्यवचना शब्दस्य त्रिक्षणावस्थायित्वेन तदानीं नाशात् । आभासताया अप्यत एवाशक्यवचनत्वात् । चिरकालस्थायित्वपक्षाभ्युपगमेनेष्टसाधने कूपस्थवायुना प्रतिध्वनिवद्वन्यानयनस्यापि संभवदुक्तिकत्वाद्बुद्धिनिहयश्रवणापत्तेः । ध्वन्यनानयने नियामकाभावात् ॥ अनानीति च ध्वनौ प्रतिबिम्बतानिश्चयस्याशक्यत्वात् ॥

छायाप्रत्याह्वयाभासा असंतोऽप्यर्थकारिण इति । भगवद्वाक्ये प्रतिध्वनेरसत्त्वत्सादृश्यस्य चोपलभ्यमानत्वात्प्रतिबिम्बत्वं कल्प्यत इति वाच्यम् ॥ नरावतादिस्तुतदुक्तहेतुभ्यां मायाजन्यशब्दांतरत्वस्यापि शक्यवचनपि वर्णरूपप्रतिशब्दस्य पूर्ववर्णप्रतिबिम्बत्वं व्यञ्जनाक्षराश्रवणात् । नच

स्वराक्षरस्यैव प्रतिबिम्ब इति वाच्यम् ॥ नियामकस्याशक्यवचनत्वात् । युगप  
दुभयस्वरग्रहणाभावात् । पूर्वध्वनिवद्वितीयस्य प्रतिध्वनेरपि पूर्ववर्णव्यञ्जकता  
याः शक्यवचनत्वेन संदेहानपायाच्च । नापि ध्वनेर्वर्णप्रतिबिम्बत्वं मानाभावात्  
व्यञ्जकतया संनिधिमात्रेण स्वधर्माणामुदस्तादीनां वर्णेष्वारोपस्य शक्यत्वादेक  
वदेव ग्रहणाच्च ॥ यत्तु । आकाशस्य शब्दसमवायिनः कूपादौ सत्त्वेनास्मदादि  
शब्दजन्यशब्दपरंपराजनितस्तथ्यः शब्दविशेष एव प्रतिध्वनिरिति केचिदाहुः ॥  
तन्न । अश्रवणापत्तेः । वीचीतरंगादिन्यायेन तत्रोत्पन्नस्य ध्वनेः पुनर्वैपरीत्येन  
तत् उत्पादकस्याशक्यवचनत्वात् । कूपादिप्रतिबद्धस्य वायोस्तथात्वकल्पनेपि  
तत्तथ्यतागमकस्याभावात् । समाचारोपलभ्योर्व्यभिचारित्वात् । अतो मायिक-  
मेव प्रतिबिम्बातिरिक्तं शब्दांतरं तदिति निश्चयः । नाप्याकाशदृष्टांतेन सिद्धिः ॥  
शास्त्रार्थप्रकरणे तस्य निराकृतत्वात् । स्वरूपभूतसदानंदयोरपि रूपाभावेन तद-  
भावाच्च । अतः सुष्ठूक्तं न प्रतिस्फुरणमित्यादि ॥ १३८ ॥ एवं निमित्तस्वरूप-  
विचारेण ज्ञानप्रतिबिम्बपक्षं निराकृत्य अधिकरणस्वरूपविचारेणापि निराकर्तु-  
माहुः ॥ ॥ दोषांतरमित्यादि ॥ ॥ अत्राविद्यायामित्यादिनोक्तः । पक्षो यद्यपि  
पूर्वप्रकरणे निराकृतस्तथाप्यधिकरणस्वरूपविचारेण न निराकृत इति पुनरनूय  
निराकुर्वति ॥ ॥ स्यादेवमित्यादि ॥ ॥ ननु प्रतिबिम्बार्थं ते शुद्धे एवांगीकार्यं को-  
दोष इति चेत्तत्राहुः ॥ ॥ तथासतीत्यादि ॥ ॥ इतिभावात् । प्रतिबिम्बभवेनात् ।  
सर्वेषां सर्वज्ञता स्यात् । अयमर्थः । अरूपस्य ज्ञानस्य प्रतिबिम्बोऽविद्याबुद्ध्योः  
शुद्धत्वांगीकारेणभ्युगतश्चेत्स्वरूपाणां सदंशानां बाह्यानां घटादीनामांतराणां शि-  
रांत्रादीनां च तत्र तत्र प्रतिबिम्बो निर्बाधः । निर्बाधे च प्रतिबिम्बे तत्समानाधिकरणा-  
नामविद्यायां प्रतीतानां व्यापकानां जीवानां सर्वसंसर्गे द्विगुणीकृत्य जाते सर्वतादा-  
त्म्यापन्नस्य ब्रह्मण इवैतेषामपि सर्वसंसृष्टत्वात्साक्षित्वाच्च वृत्तिविनैव स्वरूपचैत-  
न्येन सर्वाविभासकतायाः शक्यवचनत्वेन ब्रह्मवत्सर्वेषां सर्वज्ञता स्यात् । न-  
चांतःकरणभेदेन प्रमातृभेदात्तदनापत्तिः । व्यापकत्वेन सर्वेषां सर्वांतःकरणसं-  
सृष्टतया प्रमातृभेदस्याशक्यवचनत्वात् ॥ संसर्गतौल्ये एकस्यैवैकांतःकरणवैशि-  
ष्ट्यं नापरस्येत्यत्र हेत्वभावात् । अदृष्टादीनां हेतूनां कल्पनस्य पूर्वप्रकरण एव  
निरस्तत्वात् । ननु दूषणग्रासान्मास्तु व्यापकानेकजीववादः । किंतु । व्यापकैक-  
जीववादे तस्य सर्वज्ञातायामिष्टापतिरिति चेत् । सत्यमिष्टापत्तिः स्यात् । यद्येक-  
स्यैव सर्वज्ञता स्यात् । अविशेषेणैकस्यैव सर्वशरीराधिष्ठाने सर्वत्राविद्योपहितस्य  
साक्षिण एकत्वात्सर्वत्रोपाधौ सर्वप्रतिबिम्बेषु संसृष्टत्वाद्ब्रह्मण इव जीवस्यापि सर्व-  
त्र सर्वज्ञातायां बाधकाभावात् ॥ नच ब्रह्माप्येकत्रैव सर्वज्ञं न सर्वत्रेति वाच्यम् ।

ब्रह्मविष्णु शिवादिशरीरावच्छेदेन सर्वज्ञताप्रतिपादकशास्त्रविरोधापातात् । नचो-  
पाधौ सर्वप्रतिबिंबेऽप्यंतःकरणभेदेन प्रमातृभेदात्तन्निकटस्थस्यैव ज्ञानं प्रमातृभ-  
विष्यतीति न सर्वत्र सार्वज्ञापत्तिरिति वाच्यम् । प्रमातृभेदे करणभेदस्यैव साक्ष्यभे-  
दे प्रमातृभेदस्याप्यप्रयोजकत्वात् ॥ सर्वत्र साक्षिण एव भासकत्वात् । नच तस्या-  
विद्योपहितरूपेण न साक्षित्वम् । किंतु । अंतःकरणोपहितरूपेण । तथा च रूपभे-  
देन साक्षिभेदान्न सार्वज्ञापत्तिरिति वाच्यम् । अप्रयोजकत्वात् ॥ तथा सत्यपि हृद-  
यनाडीप्रभृतीनामांतराणामंतःकरणे प्रतिबिंबितानां ज्ञानं तस्य निर्बाधमित्यांत-  
रसर्वज्ञताया दुर्वारत्वात् ॥ तदेतदुक्तं तथासतीत्यादि ॥ ननु सर्वेषां प्रतिबिंबो नास्मा-  
भिरंगीक्रियत इति चेत्तत्राहुः ॥ सर्वेषामित्यादि ॥ ॥ अयमर्थः । यदयं नस्वी-  
क्रियते कस्तत्रहेतुः ॥ न तावदसंनिधिः । अविद्यायाः व्यापकत्वात् ॥ अंतःकर-  
णस्य चांतरसन्निहितत्वात् । नापि बिंबालोकसंयोगाभावः । सूर्यदिर्विद्यमानत्वात् ।  
अंतर्गृहगतदर्पणप्रतिबिंबितसूर्यप्रकाशेनांतरवस्तूनां प्रतिबिंबदर्शनादिहापि जीव-  
चैतन्यप्रकाशितांतःकरणसंसृष्ट आंतरबिंबे आलोकान्तरानपेक्षणात् । तेनांतरप्रका-  
शानंगीकारे साक्षात्संसृष्टांतःकरणतद्दर्मादीनामप्यनवभासप्रसंगात् ॥ मते च  
तदवभासे तद्देव तत्संसृष्टानामप्यवभासादहंकारादिवद्दयनाडीप्रभृतीन्यप्य-  
नुसंधीयेरन् संस्काराधायकस्य तुल्यत्वात् ॥ अथैकप्रतिबिंबावरुद्धे दर्पणादाव-  
न्यस्य प्रतिबिंबादर्शनाद्व्यापकजीवावरुद्धे विद्यादावितरेषां प्रतिबिंबो न भवि-  
ष्यतीत्यवरोध एव प्रतिबिंबाभावे हेतुरिति विभाव्यते तदप्यसंगतम् । एकप्रतिबि-  
बावरुद्धेऽन्यप्रतिबिंबस्तदा न भवति यदा बिंबांतरं पूर्वबिंबव्यवधेयं भवति । इह तु  
ब्रह्मणो व्यापकत्वेन परिच्छिन्नानां सर्वेषां ब्रह्मात्तर्वर्त्तित्वेन तद्व्यवधेयत्वाभावान्न  
जीवेन तत्प्रतिबिंबावरोध इति दुर्वार एव सर्वेषां प्रतिबिंब इति ॥ तदेतदुक्तं सर्वेषां  
प्रतिबिंबाभावे हेत्वभावादिति ॥ ननु भवतु सर्वेषां प्रतिबिंबः । तथापि न जीवस्य  
सर्वज्ञतापत्तिर्भवित्री जीवसाक्षिवादस्यानंगीकारात् ॥ तथासति कूटस्थचैतन्यं वा  
जीवाभिन्नं सर्वप्रत्यग्भूतं शुद्धं ब्रह्मैव वा परमेश्वरस्यैव रूपांतरं वा साक्षी भवि-  
ष्यति तस्य तु सर्वज्ञत्वेऽप्यदोषः ॥ जीवस्तु यथासर्वगतं गोतृसामान्यं स्वभावा-  
दश्वादिसंगित्वाभावेपि सास्त्रादिवह्यक्तौ संसृज्यते तथा विषयादौ सन्नपि जीवः  
स्वभावादंतःकरण एव संसृज्यते यदा चांतःकरणपरिणामो वृत्तिरूपो नयन-  
द्वारेण निर्गत्य चक्षूरश्मिवज्झटिति दीर्घप्रभाकारेण परिणम्य विषयं प्राप्नोति  
तदा तमुपारुह्य जीवं स विषयं गोचरयति । केवलाग्न्यदाहस्य तृणादेरयःपि-  
डसनारूढाग्निदाह्यत्ववत्केवलजीवचैतन्याप्राकाश्यस्यापि घटादेरंतःकरणवृत्त्यु-  
पारूढतत्प्रकाश्यत्वं युक्तमिति चिदुपरागार्थत्वेन वृत्तिनिर्गमनमपेक्ष्य वृत्तिसं-

सृष्टविषयमात्रावभासकत्वात्तस्य किञ्चिज्ज्ञत्वमुपपत्स्यत इति चेत्तत्राहुः ॥ इन्द्रि-  
याणां च वैयर्थ्यमिति ॥ ॥ स्वभाववादेन समाधानेपि जीवस्य प्रकाशकप्रति-  
बिम्बत्वात्स्वप्ने स्वयंज्योतिष्टे प्रतिपादनाच्च प्रकाशरूपत्वेन स्वप्न इवापरोक्षवृ-  
त्ताविव च पूर्वपूर्वनादिसंस्कारवशादेवेन्द्रियं विनापि प्रत्यक्षोपपत्तेर्ज्ञानेन्द्रियाणि  
वृथैव स्युः । किञ्च अयःपिण्डसमारोहेण दाहकस्याग्नेः साक्षात्संसृष्टदाहकताद-  
र्शनाद्वृत्त्युपासरोहे प्रकाशकस्य जीवस्य साक्षादंतःकरणसंसृष्टप्रकाशकत्वं सुत-  
रां सुवचमित्यंतःकरणे प्रतिबिंबितानां प्रकाशोऽस्य स्यादेवेत्यधिकं तत्रानुप्रविष्ट-  
मित्यर्थः । वस्तुतस्त्वेवमपि गोत्वस्य सकलगोव्यक्तिष्विवैकस्यैव जीवस्य सर्वा-  
तःकरणेषु संसर्गस्य वक्तव्यत्वात्तथासति तत्तदंतःकरणवृत्तिनिर्गमेण तत्तद्विषयप्रा-  
प्तौ तत्तद्वृत्त्युपासूढस्य जीवस्यापि तत्तद्विषयोपरागसंभवात्सर्ववृत्तिसंसृष्टविषयाणां  
गोचरीकरणे बाधकाभावेन किञ्चिज्ज्ञत्वमनुपपन्नमेव । अतो विषयविषयिभावो वा  
विषयसन्निहित जीवचैतन्यतादात्म्यापन्नवृत्तिविषयसंयोगद्वारको जीवतद्विषययोः  
परंपरासंबंधो वा । अंतःकरणोपादानस्य जीवस्य वृत्तिविषयसंयोगजनितः साक्षा-  
त्संयोगो वा । अंतःकरणोपहितस्य विषयावभासकचैतन्यस्य विषयतादात्म्यापन्न-  
ब्रह्मचैतन्याभेदाभिव्यक्तिद्वारा विषयतादात्म्यसंपादनं वा । अन्यद्वा यत्किञ्चित् ॥  
चिदुपरागत्वेनाभिधिस्तितं तस्य सर्वस्य वृत्तिसंसर्गजनितत्वेन वृत्तिजनकानां  
चांतःकरणानां सर्वशरीरव्यापकजीवसंसृष्टत्वेन तत्तद्वृत्तिद्वारा सर्वेषां सर्वज्ञतापत्ति-  
रनिवार्यैव । तत्राप्यनुपदोक्ते विषयातादात्म्यसंपादनपक्षे मैत्रस्य चैत्रदर्शनेऽहं  
चैत्र इत्याद्याकारकज्ञानापत्तिरधिकायातीति फल्गून्यैवैतानि कल्पनानि । अथ  
जीवःसर्वगतोप्यविद्यावृत्तत्वात्स्वयमप्रकाशमानतयाविद्याकारकज्ञानापत्तिरधिका-  
या या विषयाननवभासयन् विषयविशेषे वृत्त्युपरागादावरणतिरोधानेन तत्रैवाभि-  
व्यक्तस्तमेव विषयं प्रकाशयतीत्यावरणभंगपक्षः किञ्चिज्ज्ञत्वार्थमालंब्यते ॥  
तदाप्यावरणस्य वृत्त्युपरागतिरोभाव्यत्वाज्ज्ञाने वृत्त्युपरागे तेन चावरणे भग्ने  
सर्वांतःकरणसंसृष्टो जीवस्तत्तद्विषयेष्वभिव्यक्तस्तस्तं विषयं प्रकाशयेदेवेति न  
किञ्चिज्ज्ञत्वोपपत्तिः । एवं च चैतन्यमात्रावरकाज्ञानस्य स्वद्योतप्रकाशेन महांध-  
कारस्येव ज्ञानेनैकदेशाज्ञाननाशो वा पटवत्संवेष्टनं वा भीतभटवदपसरणं वा  
चैतन्यमात्रावरकस्याप्यज्ञानांतरनाशो वाऽन्यो वा यः कश्चनावरणभंगो निरु-  
च्यते स सर्वोपि वृत्त्युपरागज एवेति जाते वृत्त्युपरागे पूर्वोक्तरीत्या सकलांतः-  
करणसंसृष्टस्य जीवस्य सर्वज्ञतैवायातीति नैतेपि रोचिष्णवः पक्षा नन्वेकस्मिन्नपि  
जीवे जन्मांतरमापन्ने पूर्वजन्मानुसंधानादर्शनात् । शरीरभेदस्य सुखाद्यननुसंधा-

नप्रयोजकत्वं क्लृप्तमिति स शरीरभेद एवेत्यर्थः ॥ एवं किञ्चिज्ज्ञताया अपि प्रयोजको भवतु । तथा च व्यापकस्यापि जीवस्य शरीरांतरे शरीरांतरायांतःकरणवृत्त्यादिभिर्ज्ञानं न भविष्यतीति न सर्वेषां सार्वज्ञापत्तिरिति चेत् । न शरीरभेदस्य पूर्वजन्माद्यननुसंधानप्रयोजकतया योगिकायव्यूहे जातिस्मरे भूतादौ च व्यभिचारेण तस्य किञ्चिज्ज्ञतायामप्यतंत्रत्वात् ॥ एतेनैव भोगायतनभेदस्य विश्लिष्टोपाधिभेदस्य चाननुसंधानप्रयोजकत्वं परास्तं बोध्यं “ उद्यदायुधदोर्दंडाः पतितस्वाशिरोक्षिभिः । पश्यंतः पातयंतिस्म कबंधा अप्यरीन् युधि ” ॥ इति भारते भूतार्थवादाच्च नच योगिप्रभृतिषु प्रभावविशेषेणानुसंधानेऽपि पूर्वोक्तोपाधीनामुत्सर्गतस्तथात्वान्नाननुसंधानप्रयोजकत्वहानिरिति वाच्यं बहुषु व्यभिचारदर्शनात् । एकत्र तथादर्शने ह्यौत्सर्गिकाननुसंधानतंत्रत्वाविघातः प्रभावविशेषसमवधानवशात्कल्पयितुं शक्यते । नतु बहुषु तथादर्शने । अतो मनुष्यविशेषेषु भूतेषु मनुष्यादुत्कृष्टयोनिषु सर्वेषु च पूर्वजन्मीनज्ञानस्य तत्रतत्रोक्तेः शास्त्रस्य प्रामाण्याच्च नपूर्वोक्तोपाधीनामननुसंधानतंत्रत्वं साधीयः । नाप्यंतःकरणभेदस्य ताथात्वं दृष्टिसृष्टिवादे पूर्वपूर्वस्यांतःकरणस्य नष्टत्वेनाग्निमाग्निमस्य तस्य भिन्नत्वात् पूर्वदृष्टानुसंधानाभावप्रसंगात् । साक्ष्यैक्येन तत्समर्थने तु अंतःकरणभेदस्याप्रयोजकत्वादंतःकरणांतरेणास्य सर्वज्ञताया एवापत्तिः । अंतःकरणवैजात्यादिकल्पनं तु फेनालंबनकल्पत्वात्कदर्यमेव सृष्टदृष्टिवादमालंब्यांतःकरणैक्यांगीकारेण समर्थने तु यथापादेन स्पृशामि कर्णाभ्यां शृणोमि चक्षुषा पश्यामीति करणभेदेऽप्येकस्य ज्ञानं तथा तेन तेनांतःकरणादिना तत्तज्ज्ञानमि स्पृशामि शृणोमि पश्यामीत्यादिज्ञानमपि बहिःकरणभेदस्येवांतःकरणभेदस्याप्यप्रयोजकत्वात् निर्बाधमेव । नच फलानामंतःकरणभेदस्याप्रयोजकत्वमिति वाच्यं फलबलस्य साधनभेदकल्पनामात्रप्रयोजकत्वेनांतःकरणभेदकल्पने अप्रयोजकत्वात् । फलबलेन जीवभेदकल्पनेपि दोषाभावात् । अतो व्यापक एकः प्रतिबिंबो जीव इति पक्षे कथमपि न सर्वज्ञतापत्तिपरिहारः । ननु तर्ह्यस्तु नानाजीववादः । तथासत्यंतःकरणे प्रतिबिंबितचैतन्यरूपस्य जीवस्य वृत्तिपरिच्छिन्नत्वेन सर्वसंसर्गाभावान्न सर्वज्ञतापत्तिर्भवित्री विषयप्रकाशस्तु विषयसंसृष्टवृत्तिद्वारा तडागसलिलस्य कुल्याद्वारा केदारसलिलैक्यवाद्विषयावच्छिन्नब्रह्मचैतन्याभेदाभिव्यक्तौ भविष्यतीति किञ्चिज्ज्ञत्वमुपपत्स्यत इति चेत् । नेदं युक्तं भाति । सलिल एको द्रष्टा भवतीति श्रुत्या सुषुप्तावेव जीवब्रह्मणोरेकीभावश्रवणात्तदितरत्र जाग्रदादौ व्यावर्तकोपाधेर्विद्यमानत्वाच्च दर्पणसत्त्वे बिंबप्रतिबिंबयोरिव जीवब्रह्मणोर्भेदस्य शक्यवचनत्वात् । किंच जीवब्रह्मणोरिदानीमभेदेऽन्यो-



न्यधर्मविनिमयाद्ब्रह्मणोऽल्पज्ञताऽन्यस्य सर्वज्ञता चापत्स्यत इति नोक्तदूषणो-  
द्धारसंभवः । यदि च विवभूतं विषयाधिष्ठानचैतन्यमेव साक्षादाध्यासिकसंबंधला-  
भाद्विषयाप्रकाशकमित्याध्यासिकसंबंधोपलक्षितचैतन्यात्मना जीवैकीभावो नतु  
विवत्वविशिष्टरूपेणेति भेदस्यापि सद्भावान्नोक्तदूषणापत्तिरिति विभाव्यते ।  
तदापि विषयतादात्म्यापन्नब्रह्मणा त्वेकीभावोऽस्य जात एवेति । अहं घट इत्या-  
कारकज्ञानापत्तिः । अध्यासेनांतःकरणात्तादात्म्यापत्त्याहमिति ज्ञानत्वात् । अंतः-  
करणधर्माणां सुखादीनां स्वास्मिन्नभिमानवद्विषयधर्माणामप्यभिमानप्रसंगश्च ।  
अयं घट इत्यादिज्ञानाभावश्च स्यात् । यदि च विषयावच्छिन्नं ब्रह्मचैतन्यं विष-  
यसंसृष्टाया वृत्तेरग्रभागे विषयप्रकाशकं प्रतिबिंबमर्पयति तस्य प्रतिबिंबस्य जी-  
वैकीभावे विषयाग्रमिति रिति विभाव्यते । तदा तु सुतरामसंगतम् । वस्त्वंतररुद्धे  
दर्पणादौ प्रतिबिंबादर्शनाद्विषयसंसृष्टेऽग्रभागे ब्रह्मप्रतिबिंबायोगाद्विषयप्रकाश-  
स्यैवाभावप्रसक्तेः । किंच प्रतिबिंबार्पकं चैतन्यं यदि विषयाद्बहिस्तदा तस्य वृत्तिसं-  
सृष्टत्वात्प्रतिबिंबायोगः । यदि च विषयान्तस्तदापि विषयेन व्यवधानात्तथा ।  
यदि विषयाद्दूरवर्त्तं तदा विषयावच्छिन्नत्वस्यैवायोगः । किंच । अंतःकरणोपा-  
धिपरिच्छिन्नप्रतिबिंबस्याप्यणुत्वादूर्द्ध्वदर्शने वृत्तिद्वारा तस्य निर्गमात्प्राणानामपि  
निर्गमापत्तिः । तमुत्क्रामंतं प्राणोनूत्क्रामतीति श्रुतेः । किंचैवं कल्पनैकशरणत्वे  
गोलकद्वारा तैजसस्थ वेगवतो वृत्तिरूपपरिणामस्य निर्गमादेव प्रमातृवृत्तिविष-  
यचैतन्याभेदसिद्ध्या विषयाप्रकाशसंभवे गोलकातिरिक्तेंद्रियकल्पनापि वृथा  
स्यात् । तस्मादनादरणीया एवैते पक्षा इति दिक् ॥ तदिदं हृदि कृत्वाहुः ॥ अत  
इत्यादि ॥ ॥ अतः विवधर्मप्रतिबिंबाधारस्वरूपयोर्विचारेण ज्ञानेंद्रियवैयर्थ्या-  
पत्तिरूपदूषणान्तरग्रासेन च प्रतिबिंबपक्षस्यासंगतत्वात् । इदमर्थप्रकाशरूपं ज्ञानं  
कार्यरूपत्वात् । नित्यज्ञानातिरिक्तमेवेत्यर्थः ॥ अत्रोपष्टंभाय तर्कगतं हेत्वंतरम-  
प्याहुः ॥ चिदादीत्यादि ॥ ॥ तथाच कार्यरूपं ज्ञानं यथात्मभिन्नं न स्यात् को-  
शादिषु चिदादिभिर्बुद्धेरैकार्थ्यं न स्यात् । आदिपदं व्याकरणसंग्राहकम् । बुध  
अवगमने बोधो ज्ञानमिति चितीसंज्ञान इति नच वृत्तौ ज्ञानत्वोपचाराच्चिदादि-  
प्रयोग इति शक्यवचनः । कोशादीनां शक्तिग्राहकत्वेन तत्रोपचारस्याशक्यवच-  
नत्वात् । तस्माज्जन्यं ज्ञानमतिरिक्तमेवेति निश्चयः ॥ ननु नेंद्रियाणां वैयर्थ्यं बु-  
द्धिवृत्तिजननार्थं तेषामुपयोगात् । स्वप्ने स्वयं ज्योतिष्टुप्रतिपादनेनान्यदा जीव-  
स्याप्रकाशकतयाऽवश्यं वृत्त्युपेक्षणात् । अत एव चांतराणामपि ज्ञानाभावसिद्धे-  
र्नकोपि दोष इत्याशंकायां वृत्तिस्वरूपं निश्चेदुमाहुः ॥ बुद्धिवृत्तिरित्यादि ॥ ॥

नेत्रनिमीलने कृते बहिर्दृष्टपदार्थस्येव कश्चिदाकारो नेत्रांतर्भासते स आकारो न बाह्यवस्तुनः । आश्रयमतिहाय तस्य तत्राशक्यवचनत्वात् । अतः स आंतरस्यैव कस्य च न भवितुमर्हतीति तदाश्रयत्वेन सांख्यैराहंकारिकं तत्त्वांतरं वृत्तिनामकं कल्प्यते । यथाहि प्रवचनसूत्रद्वयं प्रमार्थप्रकाशलिंगा वृत्तिसिद्धिः । भागगुणाभ्यां तत्त्वांतरं वृत्तिरिति । अर्थस्तु प्रमापूर्वोक्तरीतिकमाकारज्ञानं तत्सहितो योर्थप्रकाशः विषयज्ञानम् ॥ एवमुभयविधाल्लिंगात् वृत्तिसत्तानिश्चयः । यदि वृत्तिर्न स्यात् उक्त आकारो न प्रतीयेत ॥ अंतैजसत्वादचलं चक्षुर्विप्रकृष्टं विषयमप्राप्नुवत्तत्प्रकाशनं न कुर्यात् । जायते च तदुभयमतः सास्तीति निश्चयः । एवं भागो विभागः अहंकारादिभ्यः विषयदेशावधिगमनं गुण उक्ताकारः । ताभ्यां कृत्वा आहंकारिकं तत्त्वांतरं वृत्तिरिति । अभियुक्तोक्तिश्च । वृत्तयः प्रसरद्रूपास्फारिताक्षस्य यत्र च अदृष्टानुग्रहात्तत्संबद्धान्यावबोधिका इति ॥ अमूर्त्त्यास्तस्याः कथं क्रियेत्यतस्तृतीयं सूत्रम् ॥ नद्रव्यनियमस्तद्योगादिति ॥ अनियतत्वात्पदार्थानां नद्रव्य एव क्रियानियमः । किंतु यत्र यत्प्रमाणतः सिद्धयति तत्र तदनुमन्यामहे । अतो दूरस्थवस्तुन आकारग्रहणदर्शनात्सापि क्रियावतीत्यर्थ इति ॥ एवं मायावादिनोपि अंतःकरणविशिष्टस्य प्रमातृत्वमंगीकृत्य तस्मिन्ज्ञानसूक्ष्मावस्थारूपं विषयसंस्कारमाधातुं विषयेन्द्रियसन्निकर्षसामर्थ्यजन्यामंतःकरणपरिणामरूपां वृत्तिमंगीकुर्वति । नैयायिकादयस्तु नयनकिरणानां निर्गमेन विषयसन्निकर्षाज्ज्ञाने तेन च भावनासंस्काराख्यं गुणांतरं चरमस्मृतिनाश्यमात्मन्यंगीकुर्वतो वृत्तिपदार्थमेव नेच्छन्ति । तत्र नेत्रांतरानुभवस्य सार्वजनीनत्वादप्रयोजकं नैयायकादिमतमिति वृत्तिः सर्वथाभ्युपेयैव । परंतु या वृत्तिः संस्काराधानाद्यर्थं जन्यत इत्युच्यते या वृत्तिः बुद्धेर्बुद्धितत्वादतिरिक्तं पदार्थांतरं न भवति । किंतु स्थितिरेव अवस्थाविशेष एव सत्त्वादिभिः कालादिक्षुब्धैस्सत्त्वादिगुणैः कृतः । तथाच यदा चक्षुषा ज्ञानं जाग्रति जन्यते तदा तदाकारिका बुद्धिवृत्तिरपि तेन जन्यते । बुद्धिर्विज्ञानरूपिणी । द्रव्यस्फुरणविज्ञानमित्यादिभिस्तल्लक्षणवाक्यैस्तस्या विशिष्टज्ञानसमानाकारतयैव सिद्धत्वात् । सैव वृत्तिर्नेत्रनिमीलने गोलकांतरेऽनुभूयते । एवमेवेन्द्रियांतरजन्यापि ज्ञेया । अत एतावतैव निर्वाहे सांख्याभिमतं तस्याः पदार्थांतरत्वमप्रामाणिकं गुरुभूतं च । तथैव मायावादिप्रतिपन्नं तस्याज्ञानप्रतिबिंबाधारत्वमपि व्यावहारिकत्वमिति कल्पनावैरूप्यादिदोषग्रासात् । अत उक्तीत्येन्द्रियसार्थक्यादिसाधनेऽपि जन्मज्ञानमतिरिक्तमवश्यमभ्युपेयमित्यर्थः ॥ नन्वस्त्वेवं तथापि इन्द्रियसंप्रयोगोत्तरं संप्रयुक्तार्थसमानो वृत्तावाकारो जायत इति प्रमा भविष्यति नतु भ्रमादिकं श्रुत्यादौ तद्विरुद्धस्य रजताद्याकारस्याभावेन वृ-

तौ तत्सर्पणायोगात् । अत इदमपि मतमनुपपन्नमित्याशंकायामाहुः ॥ अत ए-  
वेत्यादिवृत्तेर्गुणजन्यत्वांगोकारादेव संशयोऽथाविपर्यास इत्यत्रोक्तानां भ्रमादिवृ-  
त्तीनामन्यख्यात्याद्यंगीकारेणोपपत्तिरिति नदोष इत्यर्थः ॥ इदं यथा तथा तृती-  
यस्कंधे बुद्धिलक्षणे व्युत्पादितम् । नन्विन्द्रियाणामनुग्रह इतिबुद्धेः कार्यलक्षणा-  
त्तस्या इन्द्रियानुग्रहकतयैन्द्रियसमानकालिकत्वाद्दृष्टेस्तदभेदे तस्यामिन्द्रियजन्यत्वं  
दुर्घटमित्याकाक्षायां तत्साधयितुमिन्द्रियाजन्यत्वे बाधकं तर्कमाहुः ॥ ॥ यदित्या-  
दि ॥ ॥ क्वापीति ॥ कस्मिन्नप्यंशे । अयमर्थः । यत्र भ्रमदृष्टो गृह्यते तत्र वृ-  
त्त्युपरंजकस्य भ्रमणस्य विषयनिष्ठत्वाभावेन ततश्चिदुपरागायोगात् । घटाका-  
रिकया वृत्त्या विषयावरणाभिभावेन क्रियांशे विक्षेपस्याप्यशक्यवचनत्वात् वृत्त्या  
विषयचैतन्याभेदाभिव्यक्तावपि विषयप्रकाशके ब्रह्मचैतन्ये तदाभावान्नयनप्रदे-  
शे दत्तननुभवेनैन्द्रियेपि दत्तभावाद्दृष्टिमात्रजनकस्येन्द्रियसंप्रयोगस्य विषयकारण-  
त्वात्कलप्तेः संप्रयोगेनापि विषये तदाधानायोगादंतःकरणावच्छिन्ने प्रमातर्यप्यहं-  
भ्रमामीत्यननुभवात् । भ्रमः सर्वत्रालब्धसत्ताको घटेऽपि न स्यात् । यस्मादप्यसन्न  
घटदेशेऽनुभूयते । तस्मात्तद्देशावच्छेदेनानुभूयमानायां वृत्तावस्ति । यस्मादेवं त-  
स्माद्वृत्तिरिन्द्रियजन्यैवेत्यर्थः ॥ एवं सिद्ध एकत्र इन्द्रियजन्यत्वेऽन्यत्रापि तथैवां-  
गीकार्यमिति भावः । नच शुक्तिरजतादिस्थले इदमाकारवृत्तौ सत्यामपि रजता-  
ध्यासदर्शनादंशत एवावरणानाश इत्यंशांतरेणेहापि भ्रमविक्षेपोपि भविष्यतीति  
नतदननुभवानुपपत्तिरिति वाच्यम् । विषये तत्सत्त्वेऽन्येषामपि तदनुभवापत्तेः ।  
अन्येषां घटद्रष्टृणां प्रमाणवृत्त्या तदंशावरणनाशादस्यापि तदननुभवापत्तेश्च  
विषयाश्रितावरणपक्षस्यैव दृष्टत्वात् । पुरुषाश्रितत्वपक्षे तूक्तरीत्या प्रमातरि प्र-  
माणे च वक्तुमशक्यत्वेन भट्टकुटीप्रभातवदननुभवस्यैवाप्यात् शुक्तिरजतस्या-  
प्येतत्तुल्यत्वात् । एवं मूलाज्ञानावस्थारूपाज्ञानानां नानात्वमंगीकृत्य घटावर-  
काज्ञानस्य घटाकारकवृत्त्या निवृत्तावपि नैश्वल्यावरकस्यानिवृत्त्या भ्रमविक्षेप  
इत्यादरणेपि पूर्वोक्तरीत्या पुरुषनिष्ठतैव तस्य वाच्येति तस्य तद्वदेवासिद्धेः ।  
वृत्तेर्ज्ञानात्मकत्वमात्रकल्पनया तस्योत्पत्तिनाशशालित्वमात्रेण निर्वाहे विषयाव-  
रणतन्त्रानात्वकल्पनयोर्गुरुत्वादप्रामाणिकत्वाच्च । एतेनैव घटावरकाज्ञानगता-  
वरणशक्तिमात्रनिवृत्तिरपीति पक्षो निरस्तो बोध्यः । नैश्वल्यावरणमंतरेण भ्रमण-  
विक्षेपासंभवादावरणशक्तिनिवर्तकताया अप्रयोजकत्वाच्च । जलप्रति बिंबितवृक्षा-  
धोग्रत्वभ्रमे-तु प्रतिबिंबपदार्थस्यातिरिक्तत्वेन मूलसमीपवर्तिनि जले मूलस्य ततो  
विप्रकृष्टेयस्य प्रतिबिंबात् प्रतिबिंबत्वेनैवावगाहाद्भ्रमत्वस्यैव दुर्वचत्वेन तत्रावरणा-

दिकल्पनाया एवायोगाच्चेति दिक् । तर्कान्तरमाहुः ॥ ॥ जीवस्येत्यादि ॥ ॥  
इन्द्रियाणां जागरणे जाग्रत् तेषां लये स्वप्न अंतरिन्द्रियस्यापि लये सुषुप्तिरिति-  
द्रियहेतुकमवस्थात्रयं गुणतस्तत्तथा न स्यादित्यर्थः ॥ १३९ ॥

ब्रजभाषाटीका ।

मायावादिके मतमें कार्यरूपज्ञानकी उत्पत्ति नहिं माने हैं किंतु ज्ञानके स्वरूपकूँ नित्यमाने हैं तासों नित्य ज्ञानको जो बुद्धिवृत्तिमें प्रतिबिंब है वाकूँ कार्यरूप ज्ञान कहें है तहाँ उनसों यह पूछनों योग्य है तुम केवल ज्ञानरूप चित्कूँ नित्य कहो हो तैसें सत्कूँ तथा आनंदकूँभी नित्य माननो चाहिये क्योंकि (सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म) याश्रुतिमें सत् ज्ञान आनंदरूप ब्रह्म कह्यो है तासों जैसे ज्ञान ब्रह्मस्वरूप है तैसें सत् आनंदभी ब्रह्मस्वरूप है नित्यमानो हो तो इन तीनों पदार्थनकूँ हीं नित्य माननों योग्य है किञ्च ज्ञान रूप-रहित वस्तु है याको कोई कालमें कोई देशमें प्रतिबिम्ब नहिं हो-यसके है ॥ १३८ ॥ दूषणांतर आज्ञाकरे है-अविद्यामें ब्रह्मरूप ज्ञानको प्रतिबिंब जीव कहावे है, बुद्धिमें ब्रह्मात्मक ज्ञानको प्रतिबिंब लौकिक व्यवहारमें आयबेवारो ज्ञान कहावे है, यह कथन मायावादीको जब बनसकें, विद्या बुद्धि ये दोनों शुद्ध होय, ये तो दोनों-ही मलिन हैं मलिन वस्तुमें प्रतिबिंब नहिं बनसकें है ॥ जो विद्याबुद्धिकूँ शुद्ध मानके इनमें अरूप ज्ञानकोभी प्रतिबिम्ब मानोंगे तो रूपवाले शरीरके भीतरके अन्त्रनको तथा बाहिरके घटादि सदंशनको अविद्या बुद्धिमें प्रतिबिंब होवेमें कछु बाध कह्यो नहिं तब तो जा अविद्यामें व्यापक जीव प्रतिबिंबित है वा अविद्यामें ही घटादि सब पदार्थ प्रतिबिंबित हैं सबके साथ तादात्म्यसंबन्धवाले ब्रह्मके समान जीवभी सब पदार्थके साथ संसर्गवालो हो-यवेंसों स्वरूपचैतन्यकरके सब पदार्थनको प्रकाशक होय सके हैं तब तो सब जीवनकूँ सर्वज्ञता होनीचैये कदाचित् कहोगे अन्तः-

कत्वाल्लाघवाच्च त्वदुक्तीतिकसत्वोत्कर्षापकर्षतारतम्यवती अंतःकरणवृत्तिरेव  
वैषयिकं सुखम् । साचोत्पत्तिमती भवताप्यंगीक्रियत एवेत्यतो न सा विवादा-  
स्पदमिति जानीहि । एवमेव वृत्तिरूपदुःखस्याप्युत्पत्तिर्ज्ञेया ॥१४०॥ नैयायिकाद-  
यो ब्रह्माणे सुखं नाङ्गीकुर्वन्तीति ब्रह्मसुखस्याप्युत्पत्तिः संभाव्यत इति तन्निरासा-  
याहुः ॥ अंधंतमइत्यादि ॥ “मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यांत्यधमां गतिम्” इति वा-  
क्यात् “अंधं तमः प्रविशति” इति श्रुतेश्चासुराणामविद्योपासकानां तत्फलम् ॥ त-  
स्य च नित्यानंदतिरोभावरूपत्वादुत्पत्तिरहितत्वम् ॥ तदग्रे दुःखस्वरूपनिरूपणे  
व्याकरिष्यते । एवं मनोधर्माणां ज्ञानसुखादीनामुत्पत्तिं निरूप्य मनोधर्मांतरे-  
पि तामतिदिशंति ॥ तथेत्यादि । ह्रीस्तु अकर्मणि जुगुप्सा । जुगुप्साह्रीरकर्म-  
स्त्विति भगवता लक्षितत्वात् ॥ इच्छा अभिलाषरूपा प्रसिद्धैव ॥ आदिपदेन द्वेष-  
यत्नप्रीतिप्रभृतयो नाना तु व्यवसायगम्या ज्ञेयाः ॥ ह्रीधीभीरित्येतत्सर्वं मन एवे-  
ति श्रुतौ प्रकारवाचिना इतिशब्देन समुच्चितत्वात् । तुल्या इति समानाकाराः ॥  
॥ दोष इति ॥ ॥ भगवति विकारित्वरूपः कामे अनित्यत्वविकारत्वरूपश्चेत्यर्थः  
॥ १४१ ॥ एवमिति । “ उत्पद्यंते विलीयंते ” इति मूलोक्तेनोत्पादविनाशशालि-  
त्वेनेत्यर्थः ॥ युक्तिमिति ॥ ॥ उत्पत्त्यादिस्वरूपविवेचकतर्करूपां नित्यत्व-  
साधिकामित्यर्थः ॥ आविरित्यादि ॥ ॥ आविः प्रकटं भावयति कारणांतःस्थं  
कार्यं बहिःप्रकटीकरोति या शक्तिर्निमित्तगतोपादानगता च सा आविर्भावश-  
ब्दवाच्येत्यर्थः ॥ सत्कार्यवादे शक्तस्य शक्यकरणांगीकारात्सा कारणगता ।  
आविर्भवनं वा धर्म इति ॥ प्राकट्यरूपो धर्मः कार्यगतः स आविर्भाव इत्यर्थः ॥  
तथा तिरोभवनम् । मुद्गरादिगता तिरोभाविका शक्तिर्घटादिगतं तिरोभवनं वा  
तिरोभावः ॥ एते शक्तित्वेन धर्मत्वेन च व्यवस्थाप्यमाना उक्ताश्चत्वारोपि भ-  
गवच्छक्तिद्वयावांतरभेदरूपत्वाद्भगवतः शक्ती इत्यर्थः ॥ एतेषां भगवच्छक्ति-  
त्वे प्रमाणं सूचयंत आहुः ॥ अनंतेत्यादि ॥ परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयत इति  
श्रुतेरित्यर्थः ॥ कारणगतशक्तीनां भगवच्छक्तित्वसाधनाय विपक्षबाधनाय च का-  
रणे शक्तिसाधकं तर्कमाहुः ॥ ॥ अन्यथेत्यादि ॥ ॥ यदि कारणसामान्ये कार्य-  
जनमानुकूला तत्तत्कारणविशेषे तत्तदाकारककार्यादिजननानुकूला च शक्तिर्न  
स्यात्तदा तथेत्यर्थः ॥ अत्रैतद्विध्यम् ॥ ॥ कार्यस्य नियतावधिकत्वदर्शनात्प्रागभा-  
वस्य च पूर्वं दूषितत्वात्सत्कार्यवादस्य शिष्टादृतत्वम् ॥ तत्र प्रथमपक्षे तंतुतुरीवेमा-  
दिभ्यः पटोत्पत्त्यामृदंडचक्रादिभ्यश्च घटोत्पत्त्या तस्य तत्तज्जनने शक्तिर्निश्चीय-  
ते । सा च न स्वभावो नापि स्वरूपम् ॥ तथासति तस्य सार्वदिकत्वात् । शीर्णे-  
भ्योऽपि तृत्वादिभ्यः पटोत्पत्तिः स्यात् । भर्जिताद्वीजादप्यंकुरोत्पत्तिः स्यात्

मणिसमवधानेपि वद्वेस्तृणादिकं दद्येत । स्वभावस्यानपायित्वात् । स्वरूपस्य च सत्त्वात् । अतः सा कालेन भर्जनेन च नाश्या मणिसमवधानप्रतिबध्या च काचित्स्वभावात्स्वरूपाच्चातिरिक्तैवांगीकार्या । ननु तत्त्वादीनामविशीर्णत्वेन बीजानामप्यभर्जितत्वेन रूपेणैव कार्यजननदर्शनाद्रूपभेदमात्रांगीकारेण निर्वाहेऽतिरिक्तशक्तिकल्पनं गुरुभूतम् ॥ एवं वद्विस्थलेऽपि मणः प्रतिबंधकत्वेन तदभावस्य प्रतिबंधकाभावरूपात्तस्य सहकारित्वेन निर्वाहाच्च ज्ञेयम् । यदि च प्रतिबंधकत्वं मामकारणीभूताभावप्रतियोगित्वं तदभावस्य च कारणत्वमिति कल्पनाद्वयात् । गौरवं विभाव्यते तदा शक्तिकारणतावादेपि शक्तभंतरेण स्वरूपतः केवलायास्तस्याः कारणत्वादर्शनात्प्रतिबंधकत्वस्य च केनचिद्रूपेण भवतापि कल्पनीयत्वात् । कल्पनादयं भवतोऽप्यापतीति तौल्यमेव । वस्तुतस्तु न मण्यादीनां प्रतिबंधकत्वं नवा तदभावस्य कारणत्वं किंतु तेजकाभावविशिष्टमप्यभावकल्पनाऽजागलस्तनप्रायैवेति चेत् ॥ नेदं युक्तं वक्तुम् ॥ गुरुशरीरतादृक्कारणस्वरूपप्रवेशेन गुरुभूतस्य तादृक्कार्यकारणस्य कल्पनापेक्षया श्रुत्यनुगृहीतस्यातिरिक्तशक्तिकल्पनस्यैव वरीयस्त्वात् । किमत्र गुरुत्वमिति चेत् । उच्यते ॥ मण्याभावस्य प्रतिबंधकाभावत्वेन प्रवेशे प्रतिबंधकस्य च पूर्वोक्तलक्षणकत्वेऽत्रापि कार्यकारणभावद्वयकल्पनात्रापयाति विसामग्रीहेतुत्वं प्रतिबंधकत्वमिति लक्षणकत्वे कल्पनाद्वयात्तौल्यं वस्तुतस्त्वभावप्रवेशादत्रापि गौरवप्रतिपत्तेः ॥ तथासति शरीरगौरवस्याजागलस्तनप्रायतैव मप्यभावत्वेन प्रवेशे तु नानाकार्यकारणभावकल्पनाऽत्यन्तमेव गुर्वी मंत्रौषधादिनापि दाहाभावदर्शनात् । एवमुत्तेजकानामपि नानात्वात्तत्त्वस्वरूपेण प्रवेशे ततोऽप्यत्यंतगौरवम् ॥ यत्किंचित्त्वेन प्रवेशे यावत्तदभावविशिष्टमप्यभावविशिष्टस्य वद्वेर्दाहप्रत्यकारणत्वात्ततो दाहाभावापत्तिः । तथैव यावत्त्वेन प्रवेशेपि यत्किंचिद्वैशिष्ट्ये ॥ तथा । यथाकथंचित्त्वेन प्रवेशेऽपि तादृशकार्यकारणभावज्ञानस्योत्तेजकतदभावमणितदभावतत्तद्वैशिष्ट्यज्ञानाधीनतया तादृशगुरुशरीरकरणतास्वरूपज्ञानस्यैव दौर्घट्यमिति तदपेक्षया शक्तिकल्पनमेव सौकर्याज्ज्यायः । बीजानामप्यभर्जितत्वेनैव रूपेण नाकारणता । दावदग्धवेत्रबीजेभ्यः कदलीकांडजननस्य भामतीनिबन्धे प्रदर्शितत्वात् । अतस्तत्रापि काचिच्छक्तिर्भर्जनेन नाशयत अपरा आधीयत इति मंतव्यम् । किंच ॥ कार्यकारणभावपक्षेपि प्रसिद्धरूपातिरिक्तं रूपांतरं तूत्पादविनाशशालिकल्पनीयमेवेति नाम्भ्येव कलहः । पर्यावस्यति । ननु स्वरूपे इति मुधैवायमाग्रह इति दिक् । एवं सिद्धायां शक्तौ बीजादिपरिणामस्थलेपि सैव मंतव्या ताश्च सर्वत्र भगवत एव मयूराश्चित्रितायेनेत्यादिवाक्यात् । परास्य शक्तिरिति श्रुत्यनुगृहीतत्वाच्च भगवतैव परं तत्र तत्र



कार्यार्थं प्रजायेयेतीच्छया विभज्य स्थापिताः ॥ विश्लिष्टशक्तिर्वहुधेव भातीत्यादि-  
वाक्यात्तदाहुः ॥ तस्मादित्यादि ॥ ॥ एवं प्रथमपक्षे कारणत्वं व्यवस्थापितम् ॥  
अथ द्वितीयपक्षे कथं मृदंदादिषु घटादिकारणत्वव्यवहार इत्याकांक्षायामाहुः ॥  
धर्मादित्यादि ॥ ॥ तदिदं व्याकुर्वति प्रभवः ॥ अत्रेदमित्यादि ॥ ॥ धर्मा-  
दिति ॥ भगवद्धर्मात् ॥ कारणमिति ॥ ॥ आविर्भावजनकत्वात् । घटादि-  
कारणं तथा च दंडमृदादिषु घटादिकारणत्वव्यवहारो भ्रान्त एव न तु तात्त्विकः ॥  
पदार्थभात्रस्य नित्यत्वादित्यर्थः ॥ एवमनेन पक्षेण सांख्योक्ताविर्भावतिरोभा-  
ववादस्याप्यैकदेशित्वं बोधितम् ॥ उक्तं दृढीकर्तुं प्रतिबंदीमवतारयंति ॥ नन्वि-  
त्यादि ॥ ॥ मूले-अन्यथेत्यादि ॥ ॥ अन्यथा धर्मावर्मसिद्धिमनुपगम्य उत्प-  
त्तिपक्षे धर्मिणोऽप्युत्पत्त्यंगीकारे दोषः । उत्पत्तेरुत्पत्त्यंतरानंगीकारात्तस्याः  
प्राप्तेः नित्यत्वे घटादिपदार्थानिर्वाच्यत्वरूपो दोषस्तुल्यः । वादिप्रतिवादि-  
नोः समः । तथा च साम्यादेव न वयं पर्यनुयोगार्हा इत्यर्थः ॥ प्रतिबंदीव्युत्पाद-  
यंति ॥ उत्पत्तिरित्यादि ॥ ॥ अयमर्थः ॥ ॥ उत्पत्तिर्नाम किं प्रागभाव उत  
कश्चिद्धर्मः । तत्र नाद्यः । तस्य घटपूर्वकालवर्त्तित्वेन इदानीं घटोत्पत्तिरस्तीति  
प्रत्ययोभिलापश्च स्यात् । कोशादौ तयोः पर्यायता चोच्येत । द्वितीयश्चेत्तस्य  
साधारत्वनियमादुत्पत्तिदशायामपि धर्मो वाच्य एव ॥ अन्यथा स कस्मिन्धर्मिणि भ-  
वेत् । नच यथा दशदिनानि व्यतीयुः षड्भिरहोभिर्गन्तासीत्यादौ भूतभाविषु दि-  
वसेष्वसत्स्वपि दशत्वषट्त्वसंख्यारूपो धर्म उपेयते तथोत्पत्तिरप्यनुत्पन्नघटाद्या-  
धाराभ्युपेयेति वाच्यम् ॥ तेषामपि कालचक्रे सूर्यपरिस्यन्दवशेन तत्तद्वत्सरर्तुमास-  
पक्षगततया पुनःपुनः परिवर्त्तमानानां सतामेव संस्कारादिनोपनये तत्रापेक्षाबुद्ध्या  
संख्याकल्पनस्य शक्यत्वेऽप्युत्पत्तेरकाल्पनिकत्वेनात्र तथावक्तुमशक्यत्वात् ।  
अथ तत्रापेक्षाबुद्ध्या संख्या जन्यत एव न कल्प्यत इति चेत् ॥ न समवायिनं  
विना केवलनिमित्तेन कार्यजननस्य क्वाप्यसिद्धित्वेनात्र तथावक्तुमशक्यत्वात् ।  
चिंतामण्यादौ निरुपादानकदधिवसनसुवर्णादिजननं सिद्धमिति चेत् । न अ-  
विक्रियमाणानां तेषामेवोपादानत्वात् ॥ योगिवत्सामर्थ्यविशेषेण दध्यादिजनक-  
भूतभेदाकर्षणस्य तत्र वक्तुं शक्यत्वाच्च । अनुपादानकसृष्ट्यंगीकारे समवाय्यस-  
मावायिनिमित्तजन्यत्वं सर्वस्येति नैयायकादिसिद्धांतहानेश्च । किंच । जन्यत  
इति पक्षेपि संख्यादिवदुत्पत्तेरप्युत्पत्तिः स्वीकार्या । एवंसति निःप्रमाणकानव-  
स्थापत्तिस्तत्तत्करणादिकल्पनागौरवग्रासश्च ॥ उत्पत्तिर्जानेत्यादि ॥ प्रत्ययानुरो-  
धादुत्पत्तेरुत्पत्तिमंगीकृत्य विशेषाणां स्वतो व्यावर्त्तकत्ववत्परिसमाप्तौ तु तावतैव

निर्वाहाद्धर्मिण उत्पत्त्यंगीकारोऽजागलस्तनप्राय एव । अनेकतत्प्रागभावद्वंसादि-  
कल्पनाग्रस्तश्चेत्यनादरणीय एव । एवमेव वर्त्तमानप्रागभावप्रतियोगित्वमुत्पत्ति-  
रित्यप्यसंगतम् ॥ प्रागभावस्य पूर्वं दूषितत्वेन तस्यैवाभात् ॥ प्रतियोगित्वस्य स्व-  
रूपसंबंधविशेषत्वेन स्वरूपद्वयात्मकत्वात् ॥ घटस्वरूपस्य तदानीमभावेन तस्य  
वक्तुमशक्यत्वाच्च । ननु भाविनां सत्तामादाय तत्र प्रतियोगित्वमुच्यत इति चेत् ।  
न धर्मिणस्तदानीमसत्त्वेन भाविन्याः सत्ताया अनिश्रव्यात्तथावक्तुमशक्यत्वात् ॥  
सूक्ष्मरूपेण वर्तमानामेव सत्तामादायोच्यत इत्यस्यापि वक्तुं शक्यत्वाच्च ।  
नापि प्रथमसमयवर्त्तिभावविकारत्वं तत् ॥ तस्य कालनिष्ठत्वे उत्पद्यंते काल इति  
प्रतीत्यापत्तेः । भावनिष्ठत्वे तस्य भावस्यापि तदानीं सत्त्वापातेन भट्टकुटीप्रभा-  
तात् ॥ आद्यक्षणसंबंधः सेति चेत्तदापि संबंधघटकतया घटादिसत्ता आवश्यकैव  
तदेतद्वृद्धि कृत्वोक्तम् ॥ अतो यः कश्चिन्निरूप्यतामित्यादि ॥ एवमुत्पत्तेः पूर्वं  
धर्मिसत्तां साधयित्वा प्रतिबंदेरनुत्तरत्वाद्धर्मिनित्यत्वसाधनायानित्यत्वबाधकं  
तर्कमाहुः ॥ घटोभवतीत्यादि ॥ ॥ अत्रापादकमनुक्तमेव सिद्धयतीति यदि घ-  
टः सदा सन्न स्यादिति कंठतो नोक्तम् ॥ क्रियाश्रयत्वस्य कर्तृत्वेन भवन-  
क्रियाश्रये घट एवाख्याताभिहिते लडर्थकालस्य समानपदोपात्तत्वेनान्वया-  
त्तदानीं घटानंगीकारे तदनन्वयापत्त्यनुपपन्नः स्यादित्यर्थः । नच कालान्वय-  
स्य समानपदोपात्ते व्यापारेऽपि शक्यवचनत्वान्नानुपपत्तिः प्रयोगस्येति वाच्यम् ।  
एवमप्याश्रयवर्त्तमानत्वमंतरेण व्यापारवर्त्तमानताया अनुपपद्यमानत्वेन घटसत्ता-  
या अनुक्तसिद्धत्वात् । पदांतरोपात्तफलान्वयपक्षेपि सत्तारूपस्य फलस्य धर्म-  
त्वेन धर्मिणं विना तदसिद्ध्या तदा धर्मिसत्ताया अर्थादेव सिद्धेः । नचैवं सत्युत्प-  
न्नेपि घटे उत्पद्यत इति प्रयोगापत्तिः कालान्वितस्य कर्तुः सत्त्वादिति वाच्यं  
फलं द्वारीकृत्यैवान्वयंगीकारादुत्पत्तिरूपे फले तिरोहिते द्वाराभावेन कालान्वया-  
भावात्तादृशप्रयोगस्यानायासेन सिद्धेः । ननु घटो भवतीत्यादौ भवतिरुत्पत्त्यर्थक  
इति चेत् तत्राहुः ॥ ॥ भूसत्तायामित्यादि ॥ ॥ फलितमाहुः ॥ अत इत्यादि ॥ स-  
र्वश्रुतेरिति इदं सर्वं यद्यमात्मा सर्वं खल्विदं ब्रह्मेत्यादिश्रुतेः । तथाचैवं श्रुत्यनुकूला-  
भिर्युक्तिभिर्धर्मिनित्यत्वे सिद्धे प्रतिबिंबादेरप्यत्रोत्तरत्वमेवेत्यर्थः ॥ ननु भवतु धर्मि  
सदातनस्तथापि व्यवहारसिद्धयर्थं धर्माद्धर्मसिद्धिस्त्वंगीकृतैवेति धर्मस्योत्पत्त्यादि-  
भिरनित्यत्वेनाभगवत्त्वात्सर्वश्रुतिपीडा तु नापैतीत्यत आहुः ॥ ॥ तदन्वित्यादि ॥  
अयमर्थः । निमित्तकारणत्वेनाभिमतेषु कार्यत्वेनाभिमतस्याविर्भाविका या भ-  
गवच्छक्तिस्तथा समवायित्वेनाभिमते दुर्ज्ञेयरूपेण विद्यमानमेव कार्य आविर्भा-

व्यते स आविर्भाव उत्पत्तिरित्युच्यते । तत्संसर्गेण कार्यस्योत्पत्तिमत्वम् । तत्र निमित्तसामग्रीकोटौ प्रविष्टस्य क्षणाख्यस्य कालावयवस्य सूर्यपरिस्यन्दांतरेण तिरोभावे तद्विशिष्टानुत्पत्तिरपि विशेषणतिरोभावान्तिरोहितेति उत्पन्ने कार्यं उत्पद्यते इति न व्यवहारः ॥ सूर्यपरिस्यन्दतिरोभावश्चेश्वरेच्छामर्यादया 'भीषोदेति-सूर्य' इत्यादिश्रुतेः । तस्या अपि यद्यपि नित्यत्वं तथापि तदाकारः श्रुत्यविरोधेन तथा कार्यबलात्कल्पः स एव विद्वन्मंडने प्रदर्शित इति न व्यवहारानुपपत्तिर्न वा धर्मानित्यता । द्वितीयपक्षेतु वक्ष्यमाणरीतिकभगवदिच्छयैव तथा । तदेतदुक्तं धर्माणामपि तेनैव न्यायेन भगवत्वं सेत्स्यतीति । तथाच न सर्वश्रुतिपीडेत्यर्थः ॥ एवं च प्रथमसमयमात्रसंसर्गीभावविकार उत्पत्तिरिति पक्षो निरस्तः । तेन गौडवार्त्तिकोक्ताः सत्कार्यवाददोषा अपि विकारानंगीकारादेव परिहृताः ॥ अतएव च श्रुतिर्विकारस्य वाचार्भणतां वक्ति नतु वस्तुनो मिथ्यात्वम् ॥ तथा प्रतीत्यभावोऽन्यथाप्रतीतिश्चाविद्यावलेपादिति नकाचिदनुपपत्तिः । तदेतद्ब्रूहि कृत्वाहुः ॥ अतो भ्रान्तानामित्यादि ॥ ॥ भ्रान्ताः श्रुतिसंसर्गरहिता नैयायिकाद्याः । बालाः श्रुतिमनुसरन्तोऽपि तात्पर्यज्ञानरहिता मायावादिप्रभृतयः । आद्याः शब्दोल्लंघनकर्तारः । द्वितीया अर्थस्य । अतो नदूषयाम इत्युपहासः ॥ आविर्भावे प्रयोजनमाहुः ॥ ॥ सुरेत्यादि ॥ ॥ सर्ववस्तुस्वरूपेणेति विद्यमानस्येति शेषः ॥ ॥ तदुद्गम इति ॥ तेनतेन प्रतिनियतस्वरूपेण दर्शनविषयात्वयोग्यतेत्यर्थः ॥ नन्वेवमपि सर्वश्रुतिविरोधो नापैति । भगवत आनंदरूपत्वेन दुःखे व्यभिचारादित्यत आहुः ॥ ॥ दुःखं त्वित्यादि ॥ ॥ तथा च यथा आविर्भावस्य फलं निर्वृतिस्तथा तिरोभावस्य फलं निर्वृतिरतिरोभाव इति तेन रूपेण तस्यापि भगवदभिन्नत्वान्न भगवत्वव्यभिचार इत्यर्थः ॥ एवं सर्वस्य पदार्थजातस्य वास्तवं स्वरूपं सोपपत्तिकं निरूपितम् ॥ १४२ ॥

ब्रजभाषाटीका ।

( सुखदुःखसमुत्पत्तिरिति ) सत्वगुणकेबढवे घटवेसों जाको ( तरतमभाव ) अर्थात् बढनों घटनों होवे ऐसी जो अंतःकरणकी वृत्ति वासों लौकिक सुख कहैहैं । ऐसैही तमोगुणके बढवे घट-घटवेसों तरतमभाववाली अंतःकरणकी वृत्ति लौकिकदुःख कहावे हैं इन वृत्तिरूप सुखदुःखनकी उत्पत्ति तो परमतवालेभी माने हैं तासों यामें विवाद नहीं । नैयायकादिक ब्रह्ममें सुख नहीं माने हैं

तासों ब्रह्मसुखकी भी कोई उत्पत्ति मानले ताको निरास करे है ( ब्रह्मसुखात्पृथगिति ) ब्रह्मसुखसों लौकिक सुख न्यारो है ब्रह्मसुख उत्पत्तिवालो नहिं है ॥ ऐसैही अविद्याके उपासक जे असुर हैं उनको अंधतममें प्रवेश होवै है नित्य जो ब्रह्मानंदहै वाके तिरोभावसोंही अंधतम कहे हैं नित्यानन्द तिरोभावरूपहै ताहीसों उत्पत्तिरहित होयवेके कारणसों वह नित्यहै अर्थात् असुरनकुँ अन्धतमप्रवेश सदाही रह्यो आवैहै ऐसैही लज्जा इच्छा द्वेष प्रयत्न प्रीति आदि जे भगवद्धर्मसों जुदे मनके धर्म हैं उनकी उत्पत्ति होवैहै यद्यपि भगवान्के धर्म इच्छादिक तथा मनके धर्म इच्छादिक ( तुल्य ) इकसारही मालुम पडे हैं तथापि उनको समान नहिं समुझनो कपूर और कपास दोनो एकसे सफेदहैं तथापि बुद्धिवान् पुरुष इनकुँ एक नहिं मानेहैं ऐसैही भगवान्के धर्म जे इच्छा आदि हैं वे नित्यहैं भगवद्रूप हैं मनके धर्म जे इच्छा द्वेषादिक हैं वे कार्यरूपहैं अनित्यहैं तहां कितनेक ऐसी शंका करेहैं ( सोऽकामयत ) या श्रुतिमें बहुरूप होयवेके लिये भगवान् इच्छा ( कामना ) करते भये ऐसो लिख्योहै सो कैसे बनसकें इच्छा तो बिकारहै तथा अनित्य पदार्थहै जो भगवान् इच्छा करतेहोय तो भगवान्भी इच्छावाले होयवेसों विकारी भये इत्यादि शंका करे हैं ताकोभी यहही समाधानहै । अर्थात् भगवान्के धर्म इच्छा आदिकहैं वे लौकिक कार्यरूप अनित्य धर्मनसों न्यारे हैं तथा नित्यहैं भगवद्रूपहैं याप्रकारही अवतारादिकमेंभी इच्छा प्रीति लज्जा आदि धर्म हैं वेभी नित्य अविकारी आविर्भावतिरोभाववाले नित्यहीहैं याप्रकार सब पदार्थनकी उत्पत्ति लयवाले होयवेके कारणसों तुल्यता बतायके घटपटादिक ( घडा वस्त्र ) सब पदार्थ ब्रह्मरूप हैं तासों नित्यहैं यह

बात सिद्ध करवेके लिये उत्पत्ति नाशादिकनके स्वरूपको निर्णय  
 करवेवारी युक्तिः आज्ञा करैहै ( आविर्भावतिरोभावाविति )  
 करणस्थित जो कार्य ताः कारणसों बाहिर प्रकटकरवेवारी जो  
 निमित्तकारण तथा उपादान कारणमें रहवेवारी शक्ति तासों  
 आविर्भाव कहे है ऐसैही तिरोभाव करवेवारी जो शक्ति सो तिरो-  
 भावशक्ति कहावे हैं अथवा कार्यमें जो प्रकटहोयवेकी सामर्थ्य है  
 वो आविर्भाव कहावेहै तथा कार्यमें जो तिरोभूतहोयवेकी सामर्थ्य  
 है वो तिरोभाव कहावेहै ये दोनों भगवान्की शक्ती हैं ( परास्य  
 शक्तिः ) इत्यादिश्रुतिनमें भगवान्कूँ अनन्तशक्तिवाले वर्णन  
 कियेहैं । यदि कारणमें आविर्भाव शक्ति नहिं होय तो बीज वृक्ष-  
 रूप कैसे होजावेहै तथा वीर्य देहरूप कैसे होजावेहै तासों उनउन  
 बीजवीर्यादि कारणमें रहवेवारी अपने अपने कारणकेही आकारके  
 कार्यकूँ प्रगट करवेवारी भगवान्की आविर्भावशक्ति जरूर माननी  
 वहही शक्ति वीर्यादिकनकूँ देहादि रूपकरके परिणामकरवेमें का-  
 रण है यामें श्रीभागवत एकादशस्कंधमें “ शक्तिभिर्दुर्विभाव्यभी  
 रचितावयवा हरेः । ” इत्यादिवचन भी प्रमाणहैं दूसरे पक्षमें  
 प्रगट होनो तथा तिरोहित होनो आविर्भाव तिरोभाव शब्दनको  
 अर्थ होयहै ये दोनो धर्म घटादिकार्यमें रहे हैं घटादिकनके प्रति  
 आविर्भाव धर्मही कारणहै ये दोनो भगवच्छक्तिहैं तासों नित्यहैं  
 और घटादि पदार्थभी नित्यही हैं उनके आश्रयही ये दोनो धर्म  
 रहे आवेहैं । तहाँ आविर्भाव तिरोभाव नित्यहै तो सदाही घटा-  
 दिकनके आविर्भाव तिरोभाव होतेरहनो चाहिये ऐसी शंका  
 नहिं करनी क्योंकि जैसे आविर्भाव तिरोभावशक्तिहै तैसें  
 भगवान्की इच्छाशक्तिभी सब शक्तिनसों प्रबलशक्ति है तासों  
 भगवान्की इच्छासहितही आविर्भाव तिरोभावशक्ति पदार्थनको



प्राकट्य तथा तिरोधान करसकैहै तथा उत्पत्ति मानवेवारेनके मतमेंभी उत्पत्ति धर्म कोन धर्मीमें रहे हैं तासों धर्मीकूं नित्य माननो और उत्पत्तिकी उत्पत्ति तथा वाकी उत्पत्ति मानवरूप अनवस्था दोषभी उनके मतमें आवेहैं किंच घटादिधर्मीपदार्थनकूं नित्य नहीं मानेंगे तो घट नष्टहै घट उत्पन्न नहिं भयो है घट होवेहै इत्यादि व्यवहारभी नहिं बनसकेंगे क्योंकि उत्पन्न नहिं भयो तथा फूटयोभयो जो घडा वाकूं फूटयो ऐसैही कहसकेंगे फूटयो भयो घडाहै ऐसैं नहिं कहसकेंगे तासों जा समयमें घडा उत्पन्न नहिं भयो अथवा फूटगयो वा समयमें भी कारणमें छिप्यो भयो घडा जरूर रहेहै तासों धर्मीकूं सनातनही समुझनो धर्मी है सो भगवानही है उन सिवाय धर्मी और नित्य नहीं होय सकेहैं तथा दियासों दियाको उजियाला अलग नहिं होय सकेहै तैसैं धर्मभी धर्मी सों जुदो नहिं है तासों धर्मभी भगवानकोही रूप है या प्रकार सर्व जगत् भगवद्रूपहै तथा कारणरूप करके नित्यहै तासों भ्रमवाले बालकनकी विचारकरवेकी सामर्थ्य नहिं है तासों शब्दार्थको उलंघन करके मनमाने उत्पत्ति नाश पदके अर्थ करेहै तासों उनके मतमें हम दूषणभी नहिं देहैं जैसे पापरूप मुरदैत्यकूं दूरकरके मुरारि नामसों प्रसिद्ध भये ऐसैही सर्वत्र जगतमें प्राप्तभये अनित्यत्वादि दोषनकूं दूरकरवेके लिये सब पदार्थनके स्वरूप धारणकरके भगवान् प्रगट होयके सर्वात्मा सर्व रूप कहावेहै ॥ १४० ॥ १४१ ॥ १४२ ॥

भक्त्यात्वाद्यो द्वितीयस्तु तदभावाद्धरौ सदा ।  
सर्वाकारस्वरूपेण भविष्यामीति या हरेः १४३  
वीक्षा यथा यतो येन तथा प्रादुर्भवत्यजः ।



## मृदादिभगवद्रूपं घटाद्याकारसंयुतम् ॥ १४४ ॥

तत्त्वदीपप्रकाशः ।

एवं सति सर्वसाधनवैयर्थ्यमाशंक्य शक्तिद्वयस्य तदधीनत्वं वक्तुमादित आरभ्य निरूपयति ॥ भक्त्यात्वाद्य इति ॥ भक्त्यैव भगवानाविर्भवति । तच्च यस्य भक्त्याविर्भावः सा भक्तिर्यादृशी देशकालयुक्ता तत्तिरोभावे तिरोभवति नत्ववतारेष्वप्यन्यः प्रकार इत्यर्थः ॥ अन्येष्वह ॥ सर्वाकारस्वरूपेणेति ॥ तत्तदाकारस्वरूपेण घटपटाद्याकारेण यस्मिन् देशे येन प्रकारेण येन साधनेन यथाविर्भावेच्छा तथा सर्वं संपाद्याविर्भवतीत्यर्थः ॥ तत्र निदर्शनमाह ॥ मृदादीति ॥ मृदि घटादयो यावतो भविष्यंति ते सर्वे कारणत्वेन वर्तत इत्यंगीकर्तव्यम् । अन्यथा ततः प्रादुर्भावो नोपपद्येत तथा सामर्थ्यं भगवत्वेन संगच्छते अतो मृदादिकं भगवद्रूपमेव । घटादिकार्यं च तत्रैव लीनं तिष्ठति । तदपि भगवद्रूपं प्रपञ्चस्थानीयम् ॥ १४३ ॥ १४४ ॥

आवरणभंगः ।

एवं सतीत्यादि ॥ ॥ एवंसति यथा भगवत्स्तत्र तदभावजदोषनिवृत्त्यर्थं प्रणाड्या अरण्यानीषु नानानोकहादिरूपेणाविर्भाव एवं दुःस्वनिवृत्त्यर्थमपि कया चित्प्रणाड्या मूलरूपेणाप्याविर्भावस्य शक्यवचनत्वे सति सर्वसाधनवैयर्थ्यमाशंक्य दोषभावार्थं बुद्धिपूर्वकं तत्साधनानां कर्मज्ञानभक्तिप्रभृतीनां वैयर्थ्यं जलाहरणाद्यर्थं बुद्धिपूर्वं घटादिग्रहणस्यापि वैयर्थ्यमिति शास्त्रेऽपि तन्नोपादिश्येत । लोकेपि तत्तथा नगृह्येतेति नायं पक्षः साधीयानित्याशंक्य शक्तिद्वयस्य आविर्भावकतिरोभावकशक्त्योराविर्भावतिरोभावयोश्च तदधीनत्वं भगवदधीनत्वं वक्तुमादित आरभ्य भगवदाविर्भावादिकं पूर्वावधीकृत्य अंत्यावयविपर्यतमाविर्भावतिरोभावौ निरूपयति सार्द्धद्वयेन समादधानः कथयतीत्यर्थः ॥ तत्र पूर्वं मूलरूपाविर्भावतिरोभावयोः प्रणाडीमाहुः ॥ ॥ भक्तेत्यादि ॥ एवकारेण द्वारांतरं निराक्रियते “भक्त्याहमेकया ग्राह्य” इति । “भक्त्या मामभिजानाति” इति । किं बहुना एकादशस्कंधे स्वाविर्भावो भक्त्यैव तत्रतत्र प्रतिपादितः । तर्हि भक्त्या आविर्भूतः कुतः सर्वदा नतिष्ठतीत्याकांक्षायां तत्रापि विशेषं फलेनाहुः ॥ तच्चेत्यादि ॥

॥ तच्चेत्याविर्भवनम् । तथाच भगवति प्राकव्यरूपो वाविर्भावशक्तिरिति न कालतिरोभावे तस्यास्तिरोभावः । किंतु भक्त्यैवेति तस्या विशेषणवैसादृश्ये बहिस्तिरोभवति ह्येव प्रकटोभवति चेतसो वृत्त्यंतरे जाते भक्तिः संस्कारवत्सूक्ष्म-रूपेण तिष्ठति तदा ततस्तिरोभवतीत्यर्थः ॥ इदमेव पंचाध्याय्यामात्मा यावत्प्रपन्नो-भूदिति कारिकया निरूपितं ज्ञेयम् । नन्ववतारेषु कालेनाविर्भावतिरोभावौ दृश्ये-त इति नायंनियम इत्याकांक्षायामुक्तस्य तात्पर्यकथनमुखेनाहुः ॥ ॥ नत्वित्या-दि ॥ ॥ तथा च धर्मग्लानिनिवृत्तयेऽसुरहतयेऽपि कार्यांतरायापि यदा प्रादुर्भा-वस्तदापि वचनानां बलेन भक्तिरेवाभिव्यंजिकावधेया यथा भगवतो नृकेसरिणः प्रादुर्भावे प्रल्हादस्य । अतएवोद्धवैः “स्वाशांतरूपेष्वितरैः स्वरूपैरभ्यर्थमानेष्वनु-कंपितात्मा । परावरेणो महदंशयुक्तो ह्यजोऽपि जातो भगवान् यथाग्निः ” इत्यत्र प्रपन्नेर्पिता कृपैवावतारहेतुत्वेनोक्तेत्याद्यनुसंधेयम् । तथाचासुरव्यामोहेऽपि भू-मिमामृतत्रिविधभक्तनिष्ठभक्तितिरोभाव एव हेतुरित्यपि बोध्यम् । एवं मूलरूपाद्या-विर्भावतिरोभावौ समर्थयित्वा कार्यरूपस्य तौ वक्तुमाहुः ॥ ॥ अन्येष्वित्यादि ॥ अर्थो निगदव्याख्यात एव साधनसोपानकोटावदृष्टादेरपि प्रवेशेन जीवाविर्भाव-तिरोभावावप्युक्तप्रायौ ज्ञेयौ । उपादानगतां शक्तिमुपादेयेऽपि बोधयितुं तादा-त्म्यसंबन्धेन कार्यांतरानाधारत्वमेव कार्यस्योत्तरावधित्वप्रयोजकं रूपमिति बोध-यितुं चाहुः ॥ ॥ तत्रेत्यादि ॥ ॥ अर्थस्तु स्पष्ट एव ॥ १४३ ॥ १४४ ॥

व्रजभाषाटीका ।

आविर्भाव तिरोभाव स्वतः ही सब पदार्थनके होते रहे हैं तब तो भगवान्को भी आविर्भाव स्वतः ही होयजायगो तथा लौकिक कार्यकोभी आविर्भाव होयजायगो फिर शास्त्रमें लौकिक अलौ-किक साधन क्यों वर्णन किये या शंकाकूँ दूरकरतेभये आविर्भाव तिरोभाव भगवान्के आधीन हैं यह बात सिद्धकरतेभये भगवान्-के आविर्भाव तिरोभावसों लेके जितने पदार्थ हैं उनके आविर्भाव तिरोभावको निरूपण करे हैं तहां मूलभूत आविर्भावतिरोभावकी प्रनाडी दिखावै है ( भक्त्यात्वाद्य इति ) भगवान्को आविर्भाव भक्तिसों है वह भक्ति जैसे देश काल भक्तिके अनुकूल है वैसे देश काल सहित होय तब वासों भगवान्को आविर्भाव होय वाके तिरोभावमें भगवान् तिरोहित होजावे है देशकाल भक्तिके अनुकूल

नहिं होय तो बाहिरसों तिरोभावहोयकें हृदयमें आविर्भाव होय-  
जाय धर्मकी रक्षा करवेकेलिये असुर मारवेकेलिये भगवान् प्रकट  
होवे है तबभी भक्तिकरकें ही होवेहै जैसे हिरण्यकशिपुकुँ मारवेके-  
लिये नृसिंहजी को आविर्भाव प्रल्हादजीकी भक्तिकरकेंही भयो ॥  
॥१४३॥ ऐसैही और पदार्थनमें आविर्भाव तिरोभावको भी वर्णन  
करैहैं जा जा आकार करकें अर्थात् घटपटआदि आकारकरके जा  
देशमें जा प्रकारकरके जा साधन करकें प्रकट होयवेकी भगवा-  
नकी इच्छा होयहै वैसे सब साधनकुँ सिद्धकरकें उनके द्वारा आप  
प्रकट होवेहैं तहां दृष्टान्त देतेहैं । जैसे मृत्तिकासों घटको आविर्भाव  
होयहै अर्थात् मृत्तिकामें जितने घडा उत्पन्न होयवेवारेहैं वे सब  
कारणताकरिकें मृत्तिकामें विद्यमानहैं यह माननो आवश्यकहै  
यदि ऐसै नहीं होय तो मृत्तिकासों घडानको उत्पन्न होनों नहिं  
बनसकेंगो मृत्तिका आदि कारणमें घटादिकार्यके प्रादुर्भाव करवेकी  
जो सामर्थ्य है सो कारणकुँ भगवद्रूप मानवेसों संगत होवेहै तासों  
मृत्तिका आदि पदार्थ भगवद्रूपहीहैं घटादिकार्यभी मृत्तिकामें ही  
लीन रह्यो आवेहै वह घटादि कार्य भी प्रपञ्चस्थानीय भगवद्रूपहै॥

मूलेच्छातस्तथा तस्मिन्प्रादुर्भावो हरेस्तदा ।  
तिरोभावस्तथैव स्याद्रूपांतरविभेदतः ॥१४५॥  
वृद्धिर्विपरिणामश्च तथापक्षय एव च । पूर्वरू-  
पतिरोभावो द्वितीयस्यादिमस्तथा ॥ १४६ ॥  
उभावेकीकृतौ लोके वृद्ध्यादिभिरुदीरितौ ।  
परिणामाधिक्यतश्च वैजात्यान्यूनभावतः १४७

तत्त्वदीपप्रकाशः ।

ततः किमत आह ॥ मूलेच्छात इति ॥ पुरुषोत्तमेच्छातः ॥ तथा ।

तथैवानुपूर्व्या कार्यरूपहेरेरेव प्रादुर्भाव इत्यर्थः ॥ यथा नटः सहस्रं  
रूपाणि गृह्णाति क्रमशः । तथापि कटकमुकुटादयः । एवमाविर्भावं नि-  
रूप्य तिरोभावं निरूपयति ॥ तिरोभाव इति ॥ तिरोभविष्यामीति या  
इच्छा यथा येन तथा तत्र तिरोभवति । परं तत्र रूपांतराविर्भावावश्य-  
कत्वम् । इयानेव भगवतः सकाशात्प्रपंचेपि विशेषः ॥ तत्र तिरोभावेन रू-  
पांतराविर्भावः । दाहशोषादावपि रूपांतरमिति मतम् ॥ अथवा सर्वथा  
भगवता तुल्यतां वक्ष्यति चाग्रे । अखंडं कृष्णवत्सर्वमिति ॥ १४५ ॥ वृ-  
द्ध्यादीनां स्वरूपामाह ॥ वृद्धिरिति द्वाभ्याम् ॥ वृद्धावग्रिमं रूपं परिमाणतो-  
ऽधिकम् ॥ अपक्षयेन्यूनं विपारिणामे विजातीमिति विशेषः १४६ ॥ १४७ ॥

आवरणभंगः ।

यथेत्यादि ॥ ॥ एतेन अज्ञातं नटवद्ब्रह्म कारणं शंकरोब्रवीदिति कल्पतरू-  
क्तमनुमतं ज्ञेयम् ॥ ॥ तिर इत्यादि ॥ ॥ तथा च तिरोभविष्यामीति मूलेच्छया का-  
र्यनाशकत्वेनाभिमतेषु कार्यतिरोभाविका भगवच्छक्तिस्तथा बहिःस्थितं कार्यं का-  
रणेतर्भाव्यते स तिरोभावो नाशादिशब्दैरुच्यते तत्संसर्गेण कार्यस्य नश्वरत्वं तत्र  
नाशकसामग्रीकोटौ प्रविष्टस्य क्षणस्य तिरोभावे तद्विशिष्टो नाशोपि तिरोहित  
इति न नष्टे नश्यतीति व्यवहारः । वस्तुनि विकारानंगीकारादेव ननिवृत्तेश्चरमसम-  
यसंसर्गिभावविकारत्वम् ॥ शेषं पूर्ववदेव ध्वंसस्याभावत्वं तु पूर्वमेव निरस्तं कार्य-  
स्य लोके पुनरुन्मज्जनाभावस्तु तथेच्छाभावस्तु तथेच्छाभावात् । तस्यां सत्य-  
पुनरुन्मज्जनमपि ॥ आश्रयवासिके तथोक्ते । तदेतद्विद्वन्मंडने विस्तृतमिति नको-  
पि शंकालेशः ॥ कार्यभगवत्तिरोभावयोर्विशेषं वक्तुमाहुः ॥ ॥ परमित्यादि ॥ ॥  
नियमव्यभिचारमाशंक्याहुः ॥ दाहेत्यादि ॥ ॥ एवं च यथा अनित्ये जननं  
नित्ये परिच्छिन्ने समागमः नित्यापरिच्छिन्नतनौ प्राकट्यं चेति सा त्रिवेत्यावि-  
र्भावशक्तिस्त्रिविधा तथा नाशनिर्गमाप्राकट्यभेदेन तिरोभावशक्तिरपि त्रिविधा ।  
तत्र जडे कालभेदेन त्रिविधेपि द्वे जीवे समागमोतः प्रागट्यं निर्गमो बहिरप्राकट्य-  
मिति देशभेदेन द्विविधे द्वे भगवतीत्येकविधे द्वे इति ज्ञेयम् । ननु विरुद्धधर्माश्रयत्व-  
वदुत्तरोत्तरं ह्रासः । तस्याकारः कमलमुकुलवत् । अनयोस्तु तरुवत् ज्ञेयः । दा-  
हादौ रूपांतरादर्शनादरुच्याधर्माद्विर्मसिद्धिपक्षं हृदि कृत्वा पक्षांतरमाहुः ॥ अथ-  
वेत्यादि ॥ ॥ १४५ ॥ वृद्ध्यादीनामित्यादि ॥ ॥ ननु षट्सु विकारेषु द्वयोः

कत्वाल्लाघवाच्च त्वदुक्तीतिकसत्त्वोत्कर्षार्थतारतम्यवती अंतःकरणवृत्तिरेव  
 वैषयिकं सुखम् । साचोत्पत्तिमती भवताप्यंगीक्रियत एवेत्यतो न सा विवादा-  
 स्पदमिति जानीहि । एवमेव वृत्तिरूपदुःखस्याप्युत्पत्तिर्ज्ञेया ॥१४०॥ नैयायिकाद-  
 यो ब्रह्माणु सुखं नाङ्गीकुर्वन्तीति ब्रह्मसुखस्याप्युत्पत्तिः संभाव्यत इति तन्निरासा-  
 याहुः ॥ अंधंतम इत्यादि ॥ “मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यांत्यधमां गतिम्” इति वा-  
 क्यात् “अंधं तमः प्रविशंति” इति श्रुतेश्चासुराणामविद्योपासकानां तत्फलम् ॥ त-  
 स्य च नित्यानन्दतिरोभावरूपत्वादुत्पत्तिरहितत्वम् ॥ तदग्रे दुःखस्वरूपनिरूपणे  
 व्याकरिष्यते । एवं मनोधर्माणां ज्ञानसुखादीनामुत्पत्तिं निरूप्य मनोधर्मातरे-  
 पि तामतिदिशंति ॥ तथेत्यादि । ह्रीस्तु अकर्मणि जुगुप्सा । जुगुप्साह्रीरकर्म-  
 स्विति भगवता लक्षितत्वात् ॥ इच्छा अभिलाषरूपा प्रसिद्धैव ॥ आदिपदेन द्वेष-  
 यत्नप्रीतिप्रभृतयो नाना तु व्यवसायगम्या ज्ञेयाः ॥ ह्रीर्धीभीरित्येतत्सर्वं मन एवे-  
 ति श्रुतौ प्रकारवाचिना इति शब्देन समुच्चितत्वात् । तुल्या इति समानाकाराः ॥  
 ॥ दोष इति ॥ ॥ भगवति विकारित्वरूपः कामे अनित्यत्वविकारत्वरूपश्चेत्यर्थः  
 ॥ १४१ ॥ एवमिति । “ उत्पद्यंते विलीयंते ” इति मूलोक्तेनोत्पादविनाशशालि-  
 त्वेनेत्यर्थः ॥ युक्तिमिति ॥ ॥ उत्पत्त्यादिस्वरूपविवेचकतर्करूपां नित्यत्व-  
 साधिकामित्यर्थः ॥ आविरित्यादि ॥ ॥ आविः प्रकटं भावयति कारणांतःस्थं  
 कार्यं बहिःप्रकटीकरोति या शक्तिर्निमित्तगतोपादानगता च सा आविर्भावश-  
 ब्दवाच्येत्यर्थः ॥ सत्कार्यवादे शक्तस्य शक्यकरणांगीकारात्सा कारणगता ।  
 आविर्भवनं वा धर्म इति ॥ प्राकट्यरूपो धर्मः कार्यगतः स आविर्भाव इत्यर्थः ॥  
 तथा तिरोभवनम् । मुद्गरादिगता तिरोभाविका शक्तिर्घटादिगतं तिरोभवनं वा  
 तिरोभावः ॥ एते शक्तित्वेन धर्मत्वेन च व्यवस्थाप्यमाना उक्ताश्चत्वारोपि भ-  
 गवच्छक्तिद्वयावांतरभेदरूपत्वाद्भगवतः शक्ती इत्यर्थः ॥ एतेषां भगवच्छक्ति-  
 त्वे प्रमाणं सूचयंत आहुः ॥ अनन्तेत्यादि ॥ परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयत इति  
 श्रुतेरित्यर्थः ॥ कारणगतशक्तीनां भगवच्छक्तित्वसाधनाय विपक्षबाधनाय च का-  
 रणे शक्तिसाधकं तर्कमाहुः ॥ ॥ अन्यथेत्यादि ॥ ॥ यदि कारणसामान्ये कार्य-  
 जनमानुकूला तत्तत्कारणविशेषे तत्तदाकारककार्यादिजननानुकूला च शक्तिर्न  
 स्यात्तदा तथेत्यर्थः ॥ अत्रैतद्बोध्यम् ॥ ॥ कार्यस्य नियतावधिकत्वदर्शनात्प्रागभा-  
 वस्य च पूर्वं दूषितत्वात्सत्कार्यवादस्य शिष्टादृतत्वम् ॥ तत्र प्रथमपक्षे तंतुतुरीवेमा-  
 दिभ्यः पटोत्पत्त्यामृदंडचक्रादिभ्यश्च घटोत्पत्त्या तस्य तत्तज्जनने शक्तिर्निश्चीय-  
 ते । सा च न स्वभावो नापि स्वरूपम् ॥ तथासति तस्य सार्वदिकत्वात् । शीर्ण-  
 म्योऽपि तत्त्वादित्यर्थः पटोत्पत्तिः स्यात् । भर्जिताद्वीजादप्यंकुरोत्पत्तिः स्यात्

आश्चर्य होय है तैसें यहां भी अंकुर दीखतो भयो ही थोड़े कालमें वृक्ष दीखवे लगे हैं येही मूलरूप भगवान् सों प्रपञ्चरूप भगवान् में विशेषता है मूलरूपमें दूसरे रूपके आविर्भाव करवे की आवश्यकता नहीं जहां तक भगवान् जगत्को बिस्तार करने चाहें है ताहां ताई पूर्वपूर्व रूपके तिरोभावके साथ ही दूसरे दूसरे रूपको आविर्भाव करते रहे हैं ऐसै ही जो वस्तु बल जावे है दूसरो भस्मरूप प्रकट हो जावे है लोकप्रतीति मान करके अनित्य जडवस्तुके आविर्भाव तिरोभाव उत्पत्ति नाश शब्दन करके कहे जावे हैं; नित्य परिच्छिन्न जीवके आविर्भाव तिरोभाव समागम निर्गम शब्दों कहे जावे हैं नित्य अपरिच्छिन्न भगवदवतारके आविर्भाव तिरोभाव प्राकट्य तिरोधान शब्द करके कहे जावे हैं अथवा या जगत्की भगवान् के साथ तुल्यता ( अखण्डं कृष्णवत्सर्वम् ) या श्लोकके व्याख्यानमें कहेंगे ॥ १४५ ॥ पहलीके रूपों अधिक परिमाणवाले दूसरे रूपके आविर्भावकों ( वृद्धि ) बढनो कहे हैं पहले रूपके परिमाणों न्यून परिमाणवाले दूसरे रूपके आविर्भावों ( ह्रास ) घटनों कहे हैं पहले रूपों विलक्षण दूसरे रूपके आविर्भावकों ( परिणाम ) अर्थात् बदल जानो कहे हैं जैसें दुग्धको दधिरूपसे परिणाम हो जावे है या प्रकार ( जायते, वर्द्धते, विपरिणमते ) इत्यादि छ ६ भावविकार भी आविर्भाव तिरोभावनमें ही गतार्थ हैं १४६ ॥ १४७

मनश्चान्नमयं वेदे तदस्माकमथापि वा । पोषितत्वात्तदन्नेन तद्रूपेणोपवर्ण्यते ॥ १४८ ॥ एवं सृष्टिप्रभेदेषु कल्पेषु च तथैव च ॥ प्रकारभेदादौषाय न भवंति तदिच्छया ॥ १४९ ॥ इंद्रियाणां प्रमाणत्वं सत्वयोगान्न चान्यथा ॥ स-



त्वस्य तारतम्येन याप्याथ्यं वस्तुनः स्फुरेत  
॥ १५० ॥ अतः प्रमाणगणना लोकेषु न वि-  
चार्यते । व्यवहारः सन्निपातो गुणानां स च  
लौकिकः ॥ १५१ ॥ शास्त्रसिद्धः पूर्वसिद्धः प्रा-  
णिमात्रस्य सर्वतः ॥ तस्य त्रिविधरूपत्वन्नाम-  
मात्रेण सा प्रमा ॥ १५२ ॥

तत्त्वदीपप्रकाशः ।

एवं कार्यरूपं निरूप्य वेदविरोधपरिहारार्थमाह ॥ मनश्चान्नमयमि-  
ति ॥ अन्नमयं हि सौम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वागिति श्रुतेः ॥  
अत्र चाहंकारकार्यत्वेन मनो निरूपितम् ॥ तत्र भिद्धान्तद्वयं वेदनिरू-  
पणप्रकारादवगम्यते तदाह ॥ तदस्माकमिति ॥ अथवा पंचदशोप-  
वासाः कारिता इति । अन्नेन पोषणमेवभिप्रेतम् ॥ १४८ ॥ एवं सर्व-  
त्र प्रकारभेदे समाधानमतिदिशति ॥ एवमिति ॥ अनेकधा भगवान्  
कार्यं करोतीति सृष्टिभेदानामुक्तत्वात्तथा वा समाधानम् ॥ १४९ ॥  
एवं प्रमेयं निरूप्य प्रत्यक्षबाधनिराकरणार्थं लौकिकप्रत्यक्षादेरप्रमाण-  
त्वमाह ॥ इंद्रियाणाम् इति ॥ सत्वसहिताबुद्धिः प्रमाणम् । सत्वबुद्ध्यावंतः-  
करणं प्रमितिं जनयति । सत्वात्संजायते ज्ञानमिति । अन्यथा सत्त्व-  
लये सैव सामग्री भ्रमं जनयति । अतोऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां सत्वमेव  
प्रमाणं तत्कार्यमेव प्रामाणिकम् । रजस्तु व्यवहारिकम् । तमस्त्वप्र-  
माणमेव । अतोऽन्यमिश्रणे तारतम्येन वस्तुयाथात्म्यस्फुरणम् ॥ १५० ॥  
अतो लोकेषु चक्षुषः कदाचित्प्रामाण्यं कदाचिन्नंति । व्यवस्थाभावात्  
लोके न प्रमाणगणना । नैयायिकादिभिस्त्रि नास्मादिभिः कृता । व्यवहा-  
रार्थं कर्तव्येति चेत् नेत्याह ॥ व्यवहारः सन्निपात इति ॥ नहि सन्नि-  
पातकार्यं प्रामाणिकम् । तर्हि शास्त्रीयमपि सन्निपातकार्यं भविष्यती-

त्याशङ्क्याह ॥ स च लौकिक इति ॥ औषधाज्जायमानो भावो न सन्निपातकार्यम् । अतः शास्त्रसिद्धेः पूर्वसिद्ध एव सन्निपातः ॥ लौकिकत्वं ज्ञापयति ॥ प्राणिमात्रस्य सर्वत इति ॥ सर्वप्राणिसाधानो व्यवहारो लौकिक एव । तत्रापि सदसज्ज्ञेदाः संतीत्याह ॥ तस्य त्रिविधरूपत्वादिति ॥ १५१ ॥ १५२ ॥

आवरणभंगः ।

वेदविरोधमिति ॥ ॥ कस्मिंश्चिदंशे वेदविरोधमित्यर्थः ॥ वेदनिरूपणप्रकारादिति साक्षात्सृष्टिप्रकारेषु “एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च” इति श्रुतौ मनसो भिन्नरीत्योत्पत्तिकथनेन छांदोग्ये च यथा तु खलु सौम्येमास्तिस्रो देवताः पुरुषं प्राप्य त्रिवृत्रिवृदेकैका भवति तन्मेविजानीहीति प्रतिज्ञायान्नमयत्वकथनेन च प्रकारभेदादित्यर्थः ॥ ॥ तदास्माकमिति ॥ ॥ तथाचाहंकारिकव्यतिरिक्तं यदस्मदादिमनस्तदेवान्नमयमिति सिद्धचतीत्यर्थः ॥ अस्मदादिमनसोऽन्नमयत्वे मासाद्युपवासिनां निरन्नाममनस्कतैव स्यादित्यरुच्या पक्षांतरमाहुः ॥ अथवा पंचदशेत्यादि ॥ ॥ षोडशकलः सौम्य पुरुषः पंचदशाहानि माशीः काममयः प्राणः पिबतो न विच्छेत्स्यत इत्याद्युक्त्वा आरुणिना श्वेतकेतोः कारिता इति तथेत्यर्थः ॥ अतएव कंडिकासमाप्तौ यथासौम्य महतोऽभ्याहितस्यैकमंगारं स्वयोतमात्रं परिशिष्टं तत्तृणैरुपसमाधाय प्रज्वालयेत्तेन ततोऽपि बहु दहेदेव २ सौम्य षोडशानां कलानामेककालातिशिष्टाभूत्सान्नेनोपसमाहिता प्राज्वालीत्तयैतर्हि वेदानुभवसीत्युक्तम् । एतेनैव प्राणवाचावपि व्याख्यातौ ज्ञेयौ ॥ १४८ ॥ तृतीयं समाधानप्रकारमाहुः ॥ ॥ अनेकधेत्यादि ॥ ॥ तथाच नात्र श्रुतिविरोधगंधोपीत्यर्थः ॥ प्रत्यक्षबाधनिराकरणार्थमिति ॥ ॥ यथा तंत्रांतरे पंचषट्चतुस्त्रिदद्यादिसंख्याकानि प्रमाणान्यंगीक्रियन्ते तेषां बलाबलं शीघ्रमंथरगामित्वादिना आद्रियते प्रत्यक्षस्य सर्वतः प्राबल्यं च । तथात्रापि प्रत्यक्षस्य बलवत्त्वमुपगम्य प्रमाणगणनाऽऽदरणीया सर्वस्य नित्यत्वादिकं च प्रत्यक्षविरुद्धत्वादनादरणीयमित्याकांक्षयां तस्य दोषत्वनिराकरणार्थमित्यर्थः ॥ ॥ प्रमाणत्वे हेतुः ॥ सत्वप्रवृद्धावित्यादि ॥ ॥ व्यावहारिकमिति ॥ ॥ व्यवहारोपयोगिपृथक्त्वेन तु यत् ज्ञानं नानाभावनिति गीतावाक्यादित्यर्थः ॥ अतो न्यमिश्रणेत्यादि ॥ ॥ गुणांतरस्याप्रमाणत्वादुणांतरमिश्रणे सत्वस्योत्तरोत्तरमपकर्षे सति नवस्तुयाथात्म्यस्फुरणं ज्ञानिवन्नैकरूपा प्रमा किन्तु रजःसत्वानुगृहीतैरिन्द्रियैर्व्यावहारिकी प्रमा-

रजस्तमोभ्यां सत्वोपमर्दे संशयस्तत्रापि तमसो बाहुल्ये भ्रम इत्येवं जाग्रद्वृत्तौ जायंत इति व्यवस्थाभावात् ॥ १५० ॥ एकादशे पंचविंशाध्याये गुणानां केवलानां वृत्तीरुक्त्वा “सन्निपातस्त्वहमिति ममेत्युद्धव या मतिः । व्यवहारः सन्निपातो मनोमात्रेन्द्रियासुभिः ” इति कथनात्तथा क्रियमाणस्य व्यवहारस्याप्रामाणिकत्वात्तदर्थमपि नावश्यकीत्यर्थः ॥ ॥ तर्हीति ॥ ॥ व्यवहारमात्रस्य तथात्वमित्यर्थः ॥ ननु मनोमात्रादिप्रयुक्तत्वं शास्त्रीयेषु तुल्यमिति कथं तत्कार्यस्य नाप्रामाण्यमत आहुः ॥ औषधादित्यादि ॥ त्रयोदशे भगवता “अहमित्यन्यथा बुद्धिः प्रमत्तस्य यथा” इत्यादिना रजोबोगमोहितं मनः कार्यस्यैव तथात्वोक्तेः शास्त्रीयस्य तत्प्रयुक्तत्वाभावात्तथेत्यर्थः ॥ १५१ ॥ ॥ तदेतदाहुः ॥ लौकिकत्वमित्यादि ॥ प्रवृत्तिलक्षणोनिष्ठेत्यादीनां पंचविंशाध्यायवाक्यानां तात्पर्यमाहुः ॥ तत्रापीत्यादि ॥ एतेन व्यवहारमात्रस्याप्रामाण्यं वदंतो निरस्ता बोध्याः ॥ १५२ ॥

व्रजभाषाटीका ।

शंका—( एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च ) या श्रुतिमें ब्रह्मसों मनकी उत्पत्ति लिखी है ( अन्नमयं हि सौम्य मनः ) या श्रुतिमें मनकूँ अन्नमय वर्णन कियो है दोनो कैसे संभवसके हैं ? उत्तर—अहंकारकार्यसों अतिरिक्त अस्मदादिकनके मनकूँ अन्नमय समुझनो अथवा आरुणि ऋषिने श्वेतकेतुनामवाले शिष्यकूँ पंचदश उपवास कराये तब मन सूक्ष्म होगयो फिर अन्न भक्षणकरवेसों मन बढ़तो चलोगयो इत्यादिकथासों मालुम पडे है अन्नकरके मन पुष्ट होवे है अन्नके नहिं खायवेसों सूक्ष्म होजावे है तासों मनकूँ अन्नमय कह्यो है या प्रकार भगवान् अनेक कल्पनमें अनेक प्रकारसों सृष्टिकरे है न्यारे २ प्रकारसों सृष्टिके भेद न्यारे न्यारे कल्पके अनुसारी हैं तासों उनमें बिरोधभी नहिं आवे है ये भेद परस्पर सृष्टिमें विचित्रता दिखायवेकी इच्छाकरके किये हैं ॥ १४८ ॥ १४९ ॥ शंका—सबही प्रमाणवादीनके मतमें प्रत्यक्षप्रमाणकूँ सब प्रमाणसों प्रबल मान्यो है जगत्कूँ नित्य माननों यह बात प्रत्यक्षप्रमाणसों विरुद्ध है प्रत्यक्षमें जगत्के पदार्थ

( अनित्य ) नाशवाले दीखे हैं ॥ उत्तर—सत्त्वगुणसहितही बुद्धि प्रमाण है सत्त्वगुण बढे है तब अन्तःकरण यथार्थज्ञानकूँ उत्पन्न करे है ( सत्त्वात्संजायते ज्ञानम् ) अर्थ—सत्त्वगुणसों ज्ञान प्रकट होय है ऐसो भगवद्वाक्य है सत्त्वगुणके लयभयेसों ज्ञान प्रकट करवेवारी सामग्री जे इंद्रियादिक हैं वेभी भ्रमकूँ पैदाकरवे लगे हैं तासों सत्त्वगुणही प्रमाण है सत्त्वगुणको कार्यही प्रामाणिक है रजोगुण तो लौकिक व्यवहारको उपयोगी है लौकिक व्यवहारमें अर्थात् रजोगुणसंयुक्त इंद्रियनकरिकें जो भेद सहित नानापदार्थनको ज्ञान होय है वह लोकव्यवहारको निर्वाहक है तमोगुण तो अप्रमाणही है रजोगुण तमोगुणके मेल होयवेसों जैसे जैसे सत्त्वगुण घटतो जावे है तैसें तैसें यथार्थज्ञानमें हीनता होती चलीजावे है जैसे शुद्धसत्त्वसों यथार्थ ज्ञान सत्त्वरजसों लौकिक ज्ञान रजतमकरकै दबायेभये सत्त्वसों संदेह, तमोगुणके अधिक-होयवेसों भ्रम उत्पन्नहोवे है; याहीसों लोकमें कभी नेत्रसों यथार्थ रस्सी दीखे है कभी उनही नेत्रनसों रस्सीमें सर्पको धोका होजावेहै या प्रकार इंद्रियादिककी यथार्थ व्यवस्था नहिं है तासों नैयायकमतकै समान प्रत्यक्ष अनुमान उपमानादि प्रमाणनकी गणना हम नहीं करे हैं क्योंकि रजोगुणमिश्रित लौकिक ज्ञानको परमार्थदशामें कछु उपयोग नहिं ॥ १५० ॥ कदाचित कहोगे लौकिक व्यवहार चलवेकेलिये तो प्रत्यक्षादि प्रमाणनकी गिनती करना चाहिये ? उत्तर—( व्यवहारः सन्निपातो मनोमात्रेन्द्रियासुभिः ) इत्यादि भगवद्वाक्यकरकें लौकिक व्यवहार तो सन्निपातरूप है सन्निपातको कार्य प्रमाण नहिं होवे हैं ॥ शंका—जैसे लौकिक व्यवहार मन मात्रा इंद्रियादि करकें होवे हैं तैसें शास्त्रमें कहे यज्ञ श्राद्ध उपासनादिकभी मन इंद्रियादिकनकरकें ही होय

हैं इनकूँ भी सन्निपातरूप अप्रामाणिकही माननें ॥ उत्तर- सन्निपातरोगीकी औषधलिये पहलीकी जो कुचेष्टा है वेही सन्निपातकार्यसमुझी जावे है सन्निपातनाशक औषधलिये पीछे जे सुंदरचेष्टा है वेह सन्निपातकार्य नहिं समुझीजावै है ऐसेही पहिलीसों होरह्यो जो सब प्राणी पशु आदिकनके समान ये मैं ये मेरो इत्यादि लौकिक व्यवहार वह ही सन्निपात है क्योंकि ( अहमित्यन्यथाबुद्धिः प्रमत्तस्य यथा सदा ॥ मनसो हृदि वर्तते रजोवेगविमोहिता ) इत्यादिभागवतवचनसों रजोगुणके वेगकरके मोहित मनके कार्यकूँ ही सन्निपातकार्य कह्यो वेदशास्त्रसिद्ध जे यज्ञादिक व्यवहार वेतो रजोगुण प्रेरित मनके कार्य नहिं हैं किन्तु शास्त्र विधिप्रेरित हैं तासों औषधवत् सन्निपात निवर्तक है सन्निपात कार्य नहिं है लौकिक व्यवहारमेंभी तीन भेद हैं वे एकादशस्कन्ध भागवत पञ्चविंशाध्यायमें ( प्रवृत्तिलक्षणे निष्ठा ) इत्यादिश्लोकनमें कहे हैं तासों ( जीवो जीवेन निर्मुक्तो ) इत्यादिवाक्यनकरके लौकिक व्यवहार नाममात्रकरके प्रमाण है परमार्थमें प्रमाण नहिं है ॥ १५१ ॥ १५२ ॥

तस्माद्वेदादिरेवात्र प्रमाणं तच्च कीर्तितम् ॥ अ-  
पञ्चीकृतरूपं हि सूत्रमात्रं हरिः स्वयम् ॥ १५३ ॥  
सुषुम्णामार्गतो व्यक्तः शब्दब्रह्मप्रकाशते ॥ पं-  
चाशद्वर्णरूपश्च सूक्ष्मो नित्यो निरंतरः ॥ १५४ ॥  
सर्वतोऽतो नित्यरूपो बहुरूपः स्वभेदतः ॥ वर्णः  
पदं तथा वाक्यं तस्य नामत्रयं मतम् ॥ १५५ ॥

तत्त्वदीपप्रकाशः ।

उपसंहरति ॥ तस्मादिति ॥ वेदस्यैव वेदादेरेव प्रामाण्यात्तदनु-



सारेणैव प्रमेयस्य निरूपितत्वाल्लौकिकविरोधाभावाच्च सर्वं सुस्थं वेद-  
स्यापि प्रमेयत्वं वक्तुं प्रपञ्चांतरमाह ॥ अपञ्चीकृतरूपं हीति ॥ भगवान्  
पञ्चात्मको रूपप्रपञ्चकर्ता अधिष्ठानं तथाकर्तेति वाक्यात् । कालः कर्म  
स्वभावश्च मायाभगवांश्चेति तथा नामप्रपञ्चे नापेक्षते किंतु सूत्रमात्रमत्र-  
कारणम् । स एष जीव इति आसन्यरूपो भगवान्नामप्रपञ्चे हेतुरित्यर्थः  
॥ १५३ ॥ तस्य सृष्टिप्रकारमाह ॥ सुषुम्णामार्गत इति ॥ तस्य  
व्यक्तस्यापि ब्रह्मत्वमित्याह ॥ शब्दब्रह्म प्रकाशत इति ॥ तस्यांशा-  
नामपि पूर्णतेत्याह ॥ पञ्चाशद्वर्णरूपश्चेति ॥ षोडश स्वराः । स्पर्शाः  
पञ्चविंशतिः । यादयोऽष्टौ क्षकारोऽन्तिमः । संध्यक्षरत्वेपि पृथगुपादानं  
भिन्नश्रुत्या । ज्ञाक्षरस्याप्युपलक्षकः । अत्रावान्तरभेदा बहवः संति ।  
क्वचिच्चतुःषष्टिः क्वचिच्च त्रिषष्टिः वर्णाः क्वचिदेकपञ्चाशत् । द्विपञ्चाशदि-  
ति । तथापि मुख्यमातृकाविद्यायां सिद्धः पक्षः परिगृहीतः ॥ १५४ ॥ वर्णा-  
श्च नित्या व्यापकाः सर्वेष्वपि देशेषु निरंतराः । अनभिव्यक्तिस्थानेष्व-  
पि विद्यमानाः भगवानिव सर्वशक्तियुक्ता अनंतरूपाश्च ते च स्वभावत  
एव बहुरूपाः । रूपतो भगवत्त्वमुक्तम् । भगवत्त्वप्रतिपादनाय विशेषमाह  
॥ वर्ण इति ॥ यथा सच्चिदानंदभेदाः तथा वर्णवाक्यपदभेदाः ॥ १५५ ॥

आवरणभंगः ।

मूले तच्च कीर्तितमिति ॥ पूर्वप्रकरणे शब्द एव प्रमाणमित्यंगीकृतम् । तेन त-  
द्विरोधि यदेव तदेव प्रमाणमतो न प्रमाणगणनाभावान्नूनतेत्यर्थः ॥ एवं रू-  
पप्रपञ्चं निरूप्य नामप्रपञ्चनिर्णयार्थं प्रतिजानते ॥ वेदस्यापीत्यादि ॥ ॥ ब-  
लनिरूपणार्थं वेदस्य प्रमेयत्वं वक्तुमित्यर्थः ॥ मूले अपञ्चीकृतरूपमिति ॥ ॥  
अपञ्चपञ्चसंपादितपञ्चीकृतं नपञ्चीकृतं रूपं येन तादृशसूत्रमात्रं महत्तत्त्वे य-  
स्यावतारस्तत् आसन्यरूप अपहतपाप्मत्वात्स्वयं हरिः स्वाभिन्नं तत्स्वरूपं ना-  
मप्रपञ्चे कारणमिति शेषः ॥ तदुपपादयितुमाहुः ॥ भगवानित्यादि ॥ ॥ नन्वधिष्ठा-  
नमिति गीतावाक्ये शरीरजीवेन्द्रियचेष्टादैवानि संख्याघटकानि प्रतीयन्त इत्यवां-  
तरसृष्टौ तथास्तु ननु प्रथमसृष्टावपीति शंकायामाहुः ॥ काल इत्यादि ॥ ॥  
गीतावाक्येधिष्ठानं शरीरम् । आदिसृष्टौ माया । कर्ता जीवः । तत्स्थाने भगवान्



कारणमिन्द्रियं तत्स्थाने कर्म चेष्टाः कर्माणि । तत्स्थाने स्वभावः । तृतीयस्कंधे  
ऊनत्रिंशो दैवं कर्म विचेष्टितमित्यत्र विविधचेष्टायुक्तत्वेन स्वभावस्य व्याख्याना-  
त् । दैवं कालः देवसंबन्धित्वात् । एषां रूपप्रपञ्चव्यवस्थेत्यर्थः ॥ तद्वैलक्षण्यं नामप्र-  
पञ्चे आहुः ॥ तथेत्यादि ॥ ॥ तत्र प्रमाणमेकादशस्कंधीयद्वादशाध्यायस्थभ-  
वहाक्यमाहुः ॥ स एष जीव इति ॥ ॥ “ स एष जीवो विवरप्रसूतिः प्राणेन घो-  
षेण गुहां प्रविष्टः । मनोमयं सूक्ष्ममुपेत्य रूपं मात्रा स्वरो वर्ण इति स्थविष्टः ॥  
यथाऽनलः खेनिलबन्धुरूपमा बलेन दारुण्यधिमथ्यमानः । अण्डः प्रजातो हविषा  
समिध्यते तथैव मे व्यक्तिरियं हि वाणि ” इति द्वाभ्यां सर्वोपि नामप्रपञ्च उ-  
त्पत्त्या निरूपितस्तत्र घोषेण हृदयाकाशं प्रविष्टस्य जीवस्य सृष्टीच्छावशगस्य  
हरेः मनोमयसूक्ष्मरूपभवनद्वारा मात्रास्वरादिस्थूलवर्णात्मकतायां प्रयत्नं वि-  
शेषेण स्थानविशेषाच्च बह्विष्टांतेन वैस्वरीत्वमुक्तं जीवपदं चात्र जीवस्य सु-  
ख्योपधिभूतो य आसन्यः सूत्रात्मा प्राणस्तत्परम् । वायुर्वै गौतम तत्सूत्रं वायु-  
ना वै गौतम सूत्रेणायं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि संदब्धानि  
भवन्तीति श्रुतौ तथानिर्णयात् ॥ सूत्रं महानहमिति प्रवदन्ति जीवमिति पिप्पला-  
यनवाक्यं सुबोधिण्यां च तथोक्तेः । एकविंशाध्याये च “ शब्दब्रह्म सुबुद्धिं  
प्राणेंद्रियमनोमयम् ॥ अनंतपारं ह्यक्षोभ्यं दुर्विगाह्यं समुद्रवत् ॥ मयोपबृंहितं  
भूम्ना ब्रह्मणाऽनंतशक्तिना । भूतेषु घोषरूपेण विसेषूर्णव लक्ष्यते ॥ यथोर्णनाभि-  
र्हृदयादूर्णमुद्रमते मुखात् । आकाशाद्घोषवान् प्राणो मनसा स्पर्शरूपिणा ।  
छंदोमयोऽमृतमयः सहस्रपदवीं प्रभुः । ॐ काराद्वयंजितस्पर्शस्वरोष्मांतस्थ-  
भूषिताम् ॥ विचित्रभाषाविततां छंदोभिश्चतुरुत्तरैः । अनंतपारां बृहतीं सृजत्या-  
क्षिपते स्वयम् ॥ ” इति संदर्भे च घोषवतः प्राणस्य ॐ कारद्वारा स्पर्शादिभूषित-  
वाणीस्त्रष्ट्वकथनाच्च । एवं सति तृतीये सुबोधिन्युक्तदिशा प्रकाशरूपस्यावि-  
र्भूतस्याविकृतस्य भगवद्गुणरूपज्ञानस्यैव । उक्तरूपेण वेदशरीरग्रहणमानंत्यं वि-  
राज इव ततः शब्दशरीरविशिष्टस्य तस्यैव बीजतायां व्यष्टिरूपविकृतनानावा-  
क्योत्पादकत्वमित्यतो न शंकांशः कोपि ॥ १५३ ॥ सुषुम्णामार्गं इति ॥ स एष  
इति वाक्यस्थविवरपदस्यार्थोऽयम् ॥ तस्य व्यक्तस्येत्यादि ॥ ॥ मे व्यक्तिरित्युप-  
संहारात् । शब्दब्रह्मसुबोद्धिमितिकथनाच्च तथेत्यर्थः ॥ तथा च सूत्रमात्रो भगवानेव  
व्यक्तः सन् शब्दब्रह्मात्मा वेदरूप इत्यर्थः ॥ तेन प्रमाणमूर्द्धन्यत्वं सिद्धयति ।  
एतद्व्यक्तिमार्गस्य ब्रह्मपथत्वशासनाय सुषुम्णापदं तस्यांशेत्यादि । ब्रह्मत्वदृढी-  
करणाय विशेषांतरमेतत्संख्यापूरणार्थमवांतरोपाधीनाहुः ॥ षोडशेत्यादि ॥ ॥  
अ. आ. इ. ई. उ. ऊ. ऋ. ॠ. लृ. ए. ऐ. ओ. औ. अं. अः । इत्येवं स्वराणां

षोडशत्वम् । शेषं स्फुटम् ॥ बहव इति ॥ अनुनासिकादिभेदैर्बहव इत्यर्थः ॥ चकार-  
 रसूचितं पक्षांतरमाहुः ॥ कचिदित्यादि ॥ ॥ आयौ शिक्षायामुक्तौ । “त्रिषष्टि-  
 श्वतुःषष्टिर्वा वर्णाः शंभुमते मताः । अनुस्वारो विसर्गश्च ८ क ८ पौ चापि परा-  
 श्रयौ ॥ दुःस्पर्शश्चापि विज्ञेयो लृकारः स्तुत एव च” इति । एतद्भावेकश्च । अ आ आ३  
 इ३ उ३ ऋ३ लृ१ ए२ ऐ२ ओ२ औ२ कादयो यादयश्च स्पष्टाः । यमाः  
 पलिक्रीं चरुतुः अग्निः घ्नंतीत्यादौ वेदे द्विरोष्ठ्यरूपः प्रसिद्धः । एवं चतुःषष्टिः ।  
 लृकारागणने द्विषष्टिः । एकपञ्चाशत्पक्षश्च पञ्चाशदुपांतेर्लृक्षरस्य निवेशात् ।  
 द्विपञ्चाशत्पक्षो ज्ञाक्षरस्य पृथगुपादानात् । एवमनेकपक्षेषु पञ्चाशत्पक्षांगीकारे  
 बीजमाहुः ॥ तथापीत्यादि ॥ १५४ ॥ पूर्वप्रतिज्ञातं पूर्णत्वं स्पष्टीकर्तुं वैयाकरण-  
 नैयायकमतादौ लक्षणं ज्ञापयितुं चाहुः ॥ वर्णाश्चेत्यादिना ॥ भगवत्त्वेन सर्वस्य  
 नित्यत्वेपि व्यवह्रीयमाणकादिरूपेण नित्यत्वाय वर्णा इति बहुवचनम् । अत्र  
 व्युत्पादनार्थं तत्रांतरस्थं बोधार्थमुच्यते तत्र शब्दो नित्यो न वा । प्रलयवृत्तिर्न वा  
 स्वाधिकरणक्षणाधिकचतुर्थीदिक्षणावृत्तिर्न वेत्यादिविप्रतिपत्तौ तावन्नैयायका-  
 आहुः ॥ शब्दोऽनित्यः । उत्पत्तिविनाशप्रतीतिः । नापि वर्णरूपो नित्यः ।  
 उत्पन्नो गकारो विनष्टो गकार इति प्रतीतिः । नच सोयं गकार इत्यबाधितप्रत्य-  
 भिज्ञाबलेन तस्य नित्यत्वं शङ्क्यम् ॥ तदेवौषधमित्यादौ साजात्यमादाय प्रत्य-  
 भिज्ञावदत्रापि वक्तुं शक्यत्वात् । नचात्र विनिगमकाभावः । उत्पत्तिनाशप्रती-  
 त्योरेव मानत्वात् । तादृक्प्रतीतिभ्यां विना प्रत्यभिज्ञानादर्शनात् । अत एवैतयोः  
 प्रत्यभिज्ञाबाध्यत्वं भ्रान्तित्वं च निरस्तम् । एतयोः प्रत्यभिज्ञाबाध्यत्वकल्पना-  
 पेक्षया प्रत्यभिज्ञाया एवैतद्बाध्यत्वकल्पनायां लाघवाच्च । तस्मादनित्य एव श-  
 ब्द इति । तदेतन्मीमांसकादयो न क्षमन्ते । तच्च गुरवो व्योमैकगुणत्वेन भाट्टाश्च  
 निःस्पर्शद्रव्यत्वेन नित्यत्वं शब्दमात्रस्यानुमेयं सोयङ्गकारयोर्भेदसिद्धावर्थ-  
 बलादेव तेषां नित्यत्वेन च गकाराद्युत्पत्तिनाशप्रतीतिः प्रत्यभिज्ञाया बाधिके ।  
 तयोः परंपरया गकारादिव्यञ्जकवाच्याद्युत्पत्तिनाशविषयत्वात् । नच प्रतीत्योः  
 साक्षात् गकारादिगत्वेनैवानुव्यवसायान्नैवमिति वाच्यं तस्य भ्रमत्वात् । प्रत्य-  
 भिज्ञाया तद्भावात् । नच गत्वादिजातिगतमेव नित्यत्वं स्वाश्रयसमवायरूपेण  
 परंपरासंबन्धेन गकारेभासत इति प्रत्यभिज्ञाया एव साक्षात्त्वांशे भ्रमत्वमस्तु । य-  
 दपि विनिगमनाविरहस्तथापि नाशोत्पत्तिविषयस्य प्रतीतिद्वयस्य भ्रमत्वकल्प-  
 नापेक्षया प्रत्यभिज्ञामात्रस्य तथात्वकल्पने लाघवादिति वाच्यम् ॥ अभिव्यञ्ज-  
 कवाच्याद्युत्पत्तिविनाशस्योभयवादिसंमतत्वात्तावतैव निर्वाहं नानावर्णोत्पत्तिनाश-  
 कल्पनस्यात्यंतगुरुत्वेन वैपरीत्यात् । व्यक्त्यभेदग्रस्तत्वेन गत्वादौ जातिवत्स्या-

शक्यवचनत्वाच्च । नापि प्रत्यभिज्ञाया आकृतिविषयत्वं शक्यवचनम् । व्यक्ति-  
 प्रत्यभिज्ञानात् । द्विर्गोशब्द उच्चारित इति प्रतिपत्तेः । द्वौ गोशब्दाविति प्रत्ययाभा-  
 वाच्चेति शारीरकभाष्येऽपि व्यवस्थापनात् । नच परस्परविरुद्धानां तारत्वमदत्त्वा-  
 दीनामेकत्र वक्तुमशक्यत्वात्तारतरमदमदतरादिरूपविलक्षणप्रतीत्यनुपपत्तिरि-  
 ति वाच्यम् ॥ वर्णव्यञ्जकध्वनीनां नानात्वात्तत्तद्वततारत्वादेरेव तदातदा तत्र भाना-  
 दुपपत्तेः । वायुव्यञ्जकत्वपक्षे तु वायुना यथाभिव्यज्यते तथा प्रतीयते घटादिना-  
 काशवादिति तेषामेकव्यक्तिगतव्यञ्जकत्वेनाङ्गीकारेण विरोधस्यैवाभावाच्छङ्काया  
 एवानुदयाच्च । नच ध्वनिषु तारत्वादिदर्शनाद्वर्णे च द्रव्यत्वपृथ्वीत्वयोरिव तेषां  
 व्याप्यव्यापकभावाभावेन सांकर्यात्तारत्वादीनां जातित्वानुपपत्तिरिति वाच्यम् ॥  
 तेषामखंडोपाधित्वोपगमनेष्टापत्तेः । नचैवं सति तारात्तारतरोन्य इति प्रतीतिर्नस्या-  
 दिति वाच्यम् । तादृशप्रतीतौ मानाभावात् । शिखी विनष्ट इति वत्तत्तद्विशेषणपुर-  
 स्कारेण प्रतीत्युपपत्तेश्च । नच वर्णानां नित्यत्वे एकसाक्षात्कारकालेऽपरसाक्षा-  
 त्कारापत्तिः सर्वेषां श्रोत्रसमवायस्य तुल्यत्वादिति वाच्यम् ॥ तत्र तद्व्यञ्जकविजा-  
 तीयवायुसंयोगाभावात्तदनापत्तेः । भवन्मतेप्युत्पादकत्वेन तस्यावश्यकत्वात् ।  
 नच विजातीयवायुसंयोगस्य कार्यतावच्छेदकत्वे तदभावेन लाघवाच्छब्दानित्य-  
 त्वमेव ज्याय इति वाच्यम् ॥ विप्रतिपत्तौ विनिगमनाविरहस्य दुर्वारत्वात् । विषयता-  
 संबंधेन कत्वस्यैव कार्यतावच्छेदकताया वक्तुं शक्यत्वाच्च नच कत्वादेरखंडौपा-  
 धित्वाङ्गीकाराज्जातीतरधर्मस्य च किञ्चिद्धर्मस्य च किञ्चिद्धर्मावच्छिन्नस्यैवावच्छे-  
 दकत्वनियमादत्रापि किञ्चिद्धर्मविशिष्टस्यैव तस्य कार्यतावच्छेदकगौरवापेक्षया  
 नानाशब्दतदुत्पत्तिनाशानां शब्दस्य नाशं प्रति विशिष्य हेतुतायाश्च कल्पनासु  
 गौरवभूयस्त्वेन शब्दानित्यत्वस्य कदर्यत्वात् । नच शब्दवृत्तित्वविशिष्टविशिष्टा  
 या प्रतियोगितेति कर्मधारये प्रतियोगितया नाशं प्रति विषयतया श्रावणत्वेन  
 नाशकत्वमिति ध्वनिनाशस्थले कल्पानुगतनाशनाशकभावादेव वर्णस्यापि  
 नाशोपपत्तेर्न हेतुतांतरकल्पनगौरवमिति वाच्यम् ॥ अश्रूयमाणशब्दे व्यभिचारे-  
 णास्य कदर्यत्वात् । ध्वनिनित्यत्वाभ्युपगमेनोक्तनाशनाशकभावे मानाभावाच्च ।  
 यत्तु । शब्दबोधं प्रति पदज्ञानं हेतुः पदं च घोटतरटारिरूपम् । तच्च स्वाधिकरणक्षण-  
 ध्वंसाधिकरणक्षणध्वंसानधिकरणत्वे सति स्वाधिकरणक्षणध्वंसाधिकरणत्वरूपाव्य-  
 वहितोत्तरत्वघटितमिति वर्णनित्यत्वपक्षे न संभवति । सर्वेषामेव क्षणानां वर्णाधिक-  
 रणत्वात् । स्वस्वपूर्वक्षणानादाय स्वाधिकरणक्षणध्वंसाधिकरणक्षणध्वंसाधिकरण-  
 त्वेनाव्यवहितोत्तरत्वस्याप्रवेशात् । नच भवन्मतेपि सर्वेषां क्षणानां स्वपूर्वक्षणोत्प-  
 न्नवत्वावच्छिन्नमत्किञ्चिद्वाधिकरणक्षणध्वंसाधिकरणत्वादेतदसंभव इति वाच्यम् ।

अस्मन्मते तत् घत्वादिना निवेशेन दोषाभावादिति ॥ तत्र । वर्णनित्यत्वपक्षेपि घज्ञानोत्तरज्ञानविषयत्वं तत्त्वमित्युक्तदोषाभावात् । नचाधिकज्ञानाभावप्रवेशे गौरवत्वमिति वाच्यम् । यथा भवन्मते तत्तद्व्यक्तित्वेनैव वर्णनिवेशो नतु घत्वादिना । असंभवात् । तथा अस्मन्मतेपि घत्वादीनां तत्त्वव्यक्तित्वेनैव निवेशतः साम्येन लाघवानपायात् । अतः पुनः पुनरुत्पत्तिनाशादिकल्पनापेक्षया वर्णनित्यत्वमेव ज्याय इति अन्ये तु वर्णो नित्यो ध्वन्यन्यशब्दत्वात् । स्फोटवदिति प्रयुजते वैयाकरणास्तु स्फोटाख्यमतिरिक्तं शब्दमंगीकृत्य तस्यैव नित्यत्वमाहुः ॥ तदेतदन्ये न क्षमन्ते । यथोक्तमुपवर्षमतानुसारेण शारीरकभाष्ये । वर्णम्य-  
श्वार्थप्रतीतेः संभवात्स्फोटकल्पनाऽनर्थिकेति । शावरभाष्येपि तथा । उचितं चैतत् । वर्णस्फोटस्थले वर्णेनैवार्थप्रतीतेः । पदादिस्फोटस्थले पूर्ववर्णगोचरसंस्कारसहितचरमवर्णोपलभ्यङ्ग्यस्फोटकल्पनापेक्षया तादृशवर्णेनैवार्थप्रतीत्यङ्गीकारस्य लघुत्वात्प्रत्यक्षानुरोधित्वाच्च । अनेकेषां वर्णानामेकबुद्धिविषयत्वं च पंक्तिवनसेनादिदृष्टान्तेन तत्रैव व्युत्पादिम् । एवं च क्रमविशेषविशिष्टा वर्णा एव सामस्त्येनैकबुद्धिविषयाः पदं स्युरिति । तत्तत्पदव्यवस्थाया वृद्धव्यवहारादिना तत्तत्पदेभ्यस्तत्तदर्थवबोध इति च । आचार्यैस्तु स्फोटो नदूषितो नवा प्रसाधितः परंतु दशमस्कन्धे गुणप्रकरणे वसुदेवस्तुतौ 'दिशः स्वं स्फोट आश्रय' इत्यत्रोक्तस्तेनानुमत एव । अयं च वैयाकरणमताद्भिन्नः । वाग्व्यञ्जकत्वेन वर्णाद्यव्यङ्ग्यत्वात् । अस्य शास्त्रस्य कल्पनाशास्त्रत्वाभावेन शब्दैकशरणत्वात् । सिद्धे वर्णनित्यत्वे इन्द्रियदेवतावत्तस्याप्यादरणौचित्याद्वृत्तिनिरोधे तस्य प्रत्यक्षीभावाच्चेति । सिद्धान्ते त्वेतावान्विशेषः । रूपसृष्टिमध्यपातिनो ध्वनेर्घटादिवच्चिकरकालस्थायित्वात्तस्य वायुनान्यत्र नयनमेव । तदस्माभिः प्रस्थानरत्नाकर उपपादितम् । वर्णस्य तु कंठताल्वादिस्थानाभिघातजन्यो वायुः स्वबलानुसारेण व्यञ्जनं करोति ततो व्यापकं वर्णं व्यञ्जयन्नेव बहिर्वायूदो गच्छति । श्रवणं तु ध्वनिवदेव । तत्र वर्णस्य पूर्वोक्तयुक्त्या नित्यत्वे सिद्धे प्रत्यभिज्ञाया उत्पत्तिविनाशप्रतीत्यनंतरभावित्वं तेनापि न तस्य विघटनं प्रत्यभिज्ञाया वार्णाभिव्यञ्जकानन्तर्यसापेक्षतया तादृशप्रतीत्यानंतर्यानपेक्षित्वेपि अभिव्यञ्जकप्रतीतेः । सामग्र्यन्तरेण स्थूलरूपतिरोधानादानंतर्यं तदपेक्षाभिमानात् । तत्क्षणोज्ज्वालितदीपनाशोत्तरं सोयं दीप इति प्रत्यभिज्ञानवत् । अव्यवहितोत्तरत्वलक्षणो ध्वंसस्थले तिरोभावपदेनाभिलापः कार्य इति । शेषं त्वनुगुणमेव । प्रकृतमनुसरामः । व्यापकत्वं विवृण्वन्ति सर्वेष्वित्यादि । एवं सिद्धे वर्णनित्यत्वे तेषां व्यापकताप्येककालावच्छेदनानेकदेशेष्वनेकैरुच्चारणात्सिद्धयति । नच तेषां कंठादिस्थाननिर्देशात्परिच्छिन्नता ।

शरीरिण्या आकाशवाण्याः शब्दे व्यभिचारात् तदेतदुक्तं सर्वेष्वित्यादि । स्थान-  
निर्देशस्त्वभिव्यक्तिनिबन्धनः । व्यापकात्मवादिमते शरीरस्य वृत्तिरामस्थान-  
त्ववत् । ननु व्यापकत्वे उच्चारणदशायां प्रदेशतोऽभिव्यज्येरन्नतु पूर्णा इति चेत्त-  
त्राहुः ॥ भगवानिवेत्यादि ॥ ॥ अनंतमूर्तित्वमनंतमूर्तयो वर्णा इत्यत्रापि गौण-  
मुख्यभेदेन व्युत्पाद्यम् । उदात्तानुदात्तस्वारितानुनासिकानुनासिकादिसंग्रहार्थमा-  
हुः ॥ तेचेत्यादि ॥ एवं षड्धर्मप्रतिपादननात्पर्यमाहुः ॥ रूपत इत्यादि ॥ ॥ मूले-  
तस्य नामत्रयमित्यत्र तस्येति शब्दब्रह्मण इत्यर्थः ॥ तेन सिद्धांतिना नाद एव  
शब्द इति बोधितम् । तच्च शब्दब्रह्मवर्णाद्यभिन्नमिति स्फोटवादो नांगीकृतः १५५  
ब्रजभाषाटीका ।

तासों ही पूर्वप्रकरणमें शब्दरूपवेदादिकनकूँ ही प्रमाण कहेंहै ।  
वेदके अविरोधि जो होय वहही प्रमाणहै ॥ ऐसैं रूपप्रपञ्चको  
वर्णन करकें । नामप्रपञ्चरूप वेदादिकनको निर्णय करैहै । अधि-  
ष्ठान कर्ता करण कर्म दैव ये पाँचरूपात्मक प्रपञ्चके प्रकटकरवें  
वारेहैं अर्थात् अधिष्ठान माया कर्ता भगवान्, करण कर्म क्रिया  
स्वभाव, दैव, काल, या प्रकार पञ्चात्मक भगवान् आदिसृष्टिमें  
पदार्थनके प्रकटकरनेवारेहैं । अवान्तरसृष्टिमें । अधिष्ठान । शरीर ।  
कर्ता । जीव । करण । इन्द्रिय । कर्म । विविधचेष्टा । दैव । भाग्य  
या प्रकार पाँचरूपवाले भगवान् । सृष्टिकरैहैं । शब्दसृष्टि । इन  
पाँच रूपनकरकें रहित सूत्रात्मा भगवान् जिनको महतत्त्वमें  
अवतारहै वह आसन्य प्राणरूप भगवत्स्वरूप शब्द सृष्टिके कारण  
हैं ॥ १५३ ॥ शब्दसृष्टिको प्रकार दिखावेंहै सुषुम्णामार्गकरके शब्द-  
ब्रह्म प्रकाशित होवैहै । जैसे अवकाशमें काष्ठके घिसवेसों पवनकी  
सहायता करके बढीभई जो ऊष्मा उष्णता अणुमात्र अग्नि क-  
णरूपहोयके घृतादिकसों बढती भई चलीजायहै । ऐसैंही शब्द-  
सृष्टिकरवेकी भगवान्कूँ इच्छा भई तब भगवान् जीवकी मुख्यों  
पाधिरूप आसन्य सूत्रात्मा प्राणात्मा होयके । घोष । अव्यक्तना-  
दसहित हृदयमें प्रवेशकरकै मनोमय सूक्ष्मरूप द्वारा प्रयत्न विशे-



षसौ हृदय, कण्ठ, आदि स्थानभेदकरके मात्रास्वरादि स्थूल वर्णरूप वैखरी होजावेहै । तृतीयस्कन्ध सुबोधिनीकी रीतिसों प्रकाशरूप जो अविकृत भगवान्को गुणरूप ज्ञान है । वहही घोष-वान् प्राणरूप होयके वेद शरीरको ग्रहणकरेहै । शब्दब्रह्मके अंश-भी पूर्णहीहैं । अर्थात् पञ्चास वर्ण हैं ये शब्द ब्रह्मके अंशहैं शोडश स्वरहैं अ आ इ ई इत्यादि । पञ्चविंशति स्पर्श हैं । क ख ग घ ङ सों लेके प फ ब भ म पर्यन्त । अन्तस्थ चार य र ल व । ऊष्माण चार श ष स ह । अन्तको अक्षर ( क्ष ) है ककार षकार मिलेसों ( क्ष ) बने है परंतु याको श्रवण भिन्नहै तासों न्यायी गणना है क्ष है सो ( ज्ञ ) काभी उपलक्षक है अवान्तर अनुना-सिकादि भेद बहुतहैं कोई ग्रंथमें चार और साठ वर्ण मानेहैं । कोईमें त्रैषट् कहीं इकावन् कोई ग्रन्थमें ५२ बावन् वर्ण मानेहैं तथापि मातृकाविद्यामें सिद्ध जो पक्षहै वाको ग्रहणहै भगवद्रूप होयवेसों सर्व वस्तु नित्यहै तोभी व्यवहारमें आये वे कखगघङ आदि वर्णकू नित्यता सिद्धकरवेकेलिये ( वर्णाः ) इति बहुवच-नको प्रयोगकियोहै ॥ १५४ ॥ जितने वर्ण हैं सब नित्यहैं और व्यापकहैं जो वर्ण व्यापक नहीं होय तो अनेकदेशमें एककालमें अनेक पुरुष उच्चारण नहीं करसकते सब ठिकाने सब वर्ण निरंतर विद्यमानहैं । कण्ठ तालु आदि स्थाननमें प्राणवायुके आघातसों प्रकट होवैं हैं और ठिकाने जहाँ प्रकट होयवेकी साहित्य नहीं है । वहाँभी विद्यमानहैं भगवान्के समान सर्वशक्तियुक्त हैं अनन्तरू-पवालेहैं अर्थात् भगवान् बहुरूप ऐसे शब्दभी बहुरूपहैं । जैसे भगवान्में तीन भेद सत् चित् आनंद ऐसैं शब्दमें वर्ण पद वाक्य ये तीन भेद हैं ॥ १५५ ॥

द्वयं चाविकृतं लोके वेदे सर्वं स्वयं हरिः ॥ व-



र्णाः पदानि सर्वाणि भगवद्वाचकत्वतः ॥ १५६ ॥  
सर्वार्थान्येव सर्वत्र व्यवहृत्यै तथापि तु शक्ति-  
संकोचतो लोके विशेषख्यापनानि वै ॥ १५७ ॥

तत्त्वदीपप्रकाशः ।

तत्र वर्णा नित्याः पदानि च । वाक्यं लौकिकमनित्यम् ।  
वैदिकं तु नित्यमिति विशेषः ॥ तत्र हेतुः ॥ स्वयं हरिरिति अत्र  
केषां चिन्मते पदान्येवार्थवन्ति न वर्णा न वाक्यान्यपीति केचित् ।  
अस्मन्मते तु वर्णा अप्यर्थवन्तः । वेदाक्षराणि यावन्तीति वाक्यात् ॥ अ-  
तः प्रथममक्षरपदयोरर्थमाह ॥ वर्णाः पदानीति ॥ सर्वेषां वर्णानां  
सर्व एव वाच्यः ॥ तथा पदानां तत्र हेतुः ॥ भगवद्वाचकत्वत इति ॥  
भगवान् सर्वमिति ॥ १५६ ॥ भगवान्वाच्य इति सर्वे वर्णाः पदानि  
च सर्ववाचकानीति वस्तुस्थितिः । तथापि व्यवहारार्थं शक्तिसंकोचः  
कृतः । आदेशकालविभेदेनास्माभिरुच्चार्यमाणोऽयं शब्दः इममेवार्थं बो-  
धयितुं नत्वन्यमिति संकोचः ॥ अतो लोके विशेषख्यायकानि जातानि  
तत्र सूयः कूपो यूप इत्यत्र वर्णानां तुल्यत्वेपि नानार्थप्रतिपादकत्वम् ।  
व्यवहारसिद्धयै तथांगीकारात् । अन्यथा च प्रत्ययादेरर्थो न स्यात् ।  
धातोश्च नच तयोः पदसंज्ञाविशिष्टयोरेव तथात्वात् । अतो व्यवहारस्य  
नियामकत्वान्नातिप्रसङ्गः ॥ १५७ ॥

आवरणभंगः ।

ननु सर्वस्यैव वर्णजातस्य भगवद्रूपत्वे लौकिकवैदिकयोरविशेषाद्दे-  
आधिक्यं नसिद्धयेदित्याकांक्षायां स्वरूपे विशेषं प्रतिपादयितुमाहुः ॥ भग-  
वत्त्वेत्यादि ॥ ॥ इति विशेष इति ॥ ॥ वाक्यनित्यत्वेन त्रयाणां भगवद्रूप-  
त्वात् विशेषः । मे व्यक्तिरियं हि वाणीत्युक्त्या लोकवेदसाधारण्येन वैखरी-  
मात्रस्य भगवत्त्वे प्राप्तेऽप्येवं गदिरित्यतिदेशाद्वैलक्षण्यमवश्यं वाच्यमित्यत एव-  
मुक्तम् । अत एव च परमार्थं सूत्रम् । अत एव च नित्यत्वमिति । अखण्डवाक्यरू-  
पत्वेन -नित्यभगवद्रूपार्थसंबन्धस्य सार्वदिकत्वादेवास्य नित्यत्वमित्यर्थः ॥

तेन लौकिकशब्दादुत्कर्षः स्फुट इति । नैयायकास्तु वेदः पौरुषेयो वाक्यत्वा-  
 द्भारतवदित्यनुमानेन पौरुषेयत्वं वदन्तः शब्दस्याश्रुतरविनाशित्वेन वाक्य-  
 त्वेन चानित्यत्वं वेदस्याहुः ॥ सांख्यप्रवचने तु न नित्यत्वं वेदानां कार्यत्वश्रुतेः ।  
 न पौरुषेयत्वं तत्कर्तुः पुरुषस्याभावात् । न मुक्तामुक्तयोरयोग्यत्वात् । नापौरुषे-  
 यत्वान्नित्यत्वमंकुरादिवदिति चतुःसूत्र्याम् । तस्मात्तपस्तेपानात्रयो वेदा अजा-  
 यन्तेत्यादिश्रुत्या वेदानां कार्यत्वम् । ईश्वरानङ्गीकारान्मुक्तानामसंगत्वेन संसारि-  
 णां च युगपदुपादानानभिज्ञत्वेन वेदकर्तृत्वायोगाच्चापौरुषेयत्वम् ॥ अंकुरादिवद-  
 नित्यत्वं चोक्तम् । जैमिनीयदर्शने तु । प्रथमस्य प्रथमपादांतिमे उक्तं तु  
 शब्दपूर्वत्वमित्यधिकरणे चिंतितम् । वेदाः किं पौरुषेया नवेति संदेहे पूर्वोक्तरी-  
 तिकेन सामान्यतो दृष्टेन वाक्यत्वलिङ्गकानुमानेन सामान्यतः कर्तारमनुमाय  
 केचिदीश्वरं केचित्प्रजापतिं केचिद्विरण्यगर्भं कर्तृत्वेनाहुः ॥ तद्यदि कर्त्ता कश्चि-  
 त्स्यात्तदायं नानाविधो विवादो नावकल्पेत । मन्वादिवत्कर्तुः स्मर्यमाणत्वात् ।  
 नहि मानवे भारते शाक्यग्रन्थे वा कश्चिद्विवदते । अतः स्मर्त्तव्यत्वे सत्यस्म-  
 र्यमाणत्वाद्योग्यानुपलब्धिबाधितं सामान्यतो दृष्टं न कर्तृसाधनायालं भवति । न-  
 चातिजीर्णकूपारामादिषु विशेषस्मरणेपि यथासामान्यतो दृष्टेन कर्तृपूर्वकत्वासि-  
 द्धिस्तथात्रेति वाच्यम् । विमतं वेदाध्ययनं गुर्वध्ययनपूर्वकं वेदाध्ययनत्वात् ।  
 आधुनिकाध्ययनवदिति प्रतिसाधनत्वेन तथावक्तुमशक्यत्वात् । नच काठका-  
 दिसमाख्यातः पौरुषेयत्वमिति बाह्यवचनमपि बाधकम् । समाख्यायाः प्रव-  
 चनमूलकत्वात् । अत एव तस्याः शाखाविशेषविषयत्वं युज्यते । तस्मादपौरुषेया  
 एव वेदा इत्युक्तम् । एवं च तस्मात्तपस्तेपानादिति श्रुतिरपि नकार्यत्वं बोधयति किंतु  
 प्रादुर्भावमात्रम् । नाप्यंकुरादिवज्जन्यत्वं निश्चसितश्रुतिविरोधात् । तस्मादीश्वरा-  
 त्मत्वं वेदस्य सर्वप्रमाणाविरुद्धम् । एवं वेदस्य स्वरूपतो लौकिकवैलक्षण्यमुक्त्वा  
 लौकिकशब्दाद्देदे विशेषांतरमर्थतोपि वक्तुं वर्णाद्यर्थं वदिष्यन्तो मतांतरानुवादपू-  
 र्वकं स्वमतमाहुः ॥ अत्रेत्यादि ॥ ॥ अत्रेति त्रिविधशब्दमध्ये । केषां चिदिति  
 नैयायकादीनाम् ॥ केचिदिति ॥ एकदेशिनः । वाक्यं तु श्रौतानुष्ठानपद्धतौ  
 प्रसिद्धम् “ वेदाक्षराणि यावन्ति पठितानि द्विजोत्तमैः । तावन्ति हरिनामानि की-  
 र्तिनानि नशंसयः ॥ ” अत्राक्षराणां भगवन्नामत्वकथनेन भगद्ववाचकत्वासिद्धे-  
 र्वर्णा अप्यर्थवन्त इत्यर्थः ॥ नच वर्णपदेन चादयो ग्राह्याः तेष्वर्थवत्ताया अपि सं-  
 मतत्वादिति वाच्यम् । उक्त्वाक्यगतयावत्पदविरोधात् । तेषां प्राधान्येन वा-  
 चकत्वे समुच्चयः शोभनः समुच्चयो द्रष्टव्य इतिवत् । च शोभनः च द्रष्टव्य इति  
 प्रयोगापत्तिरूपदोषस्य भीमांसकैरेव दर्शितत्वात् । गुणत्वेन वाचकस्य द्योतकत्वे

पर्यवसानाच्च । व्याख्येयग्रंथविरोधाच्च ननु वर्णार्थवत्ता तथापि दुर्घटैव ।  
वाक्ये अक्षरपादात् । वर्णाक्षरपदयोश्च पर्यायताविरहात् । वृणिरिति द्वे  
अक्षरे । सूर्य इति त्रीणि । आदित्य इति त्रीणीति । अष्टाक्षरागायत्रीत्यादिश्रुति-  
भिरज्जलसमुदायस्यैवाक्षरत्वप्रतीतिः । समुदायस्य च पदत्वादिति चेत् न । आश्वा-  
वयेति चतुरक्षरमस्तु श्रौषडिति चतुरक्षरमित्यादिश्रुतिव्यापकोपप्रसंगात् । अत्रा-  
कारस्य अकारस्य च केवलस्याप्यक्षरत्वोक्तेः । अक्षराणामकारोस्मीति गीता-  
वाक्याच्च । वर्णत्वं च न केवलव्यञ्जनस्य । वर्णात्कार इत्यस्योदाहरणेन ककारः  
पकार इत्यादिरूपेण तथा निश्चयात् । एवं चाक्षरत्वं वर्णत्वं च केवलानां  
व्यञ्जनोपष्टंभकाच्च सिद्धयतीति पर्यायता निराबाधैवेति निरर्थकत्वं केवलव्य-  
ञ्जने पर्यवस्यतीति न वर्णार्थवत्तादौ घट्यामिति दिक् ॥ अत इति ॥ अबाधित-  
प्रत्यभिज्ञाया वर्णपदयोः सर्वत्राभिन्नत्वात् ॥ अर्थं व्याकुर्वीति ॥ सर्वेषामि-  
त्यादि ॥ तत्रेति ॥ सर्वेषां सर्वार्थवाचकत्वे भगवद्वाचकत्वमेव कथमित्याकां  
क्षायां शास्त्रस्य श्रौतत्वेन श्रुतेरिति बोधयितुं तात्पर्यमुखेनाहुः ॥ ॥ भग-  
वानित्यादि ॥ अयमर्थः सर्वं खल्विदं ब्रह्म । आत्मा वा इदं सर्वम् इदं सर्वं यद-  
यमात्मेत्यादिश्रुतिसमर्थनेन पूर्वोक्तरीतिकाविर्भावानिरूपणद्वारा सर्वस्य ब्रह्मत्वं  
साधितमिति स एव सर्वम् । किंच । माण्डूक्यादौ प्रणवार्थविचारे ओमित्येतद-  
क्षरभिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानमित्यनेन प्रणवस्वरूपं सर्वस्य वाङ्मयस्य तद्व्या-  
ख्यानत्वमुक्तम् । व्याख्यानव्याख्येययोश्चैकार्थ्यम् । एवं सति व्याख्यानस्य विशेष-  
प्रतिपत्त्यर्थकत्वाद्यर्थः । सामान्याकारेण प्रणवेनोच्यत इति सिद्धयति । तदेव  
भूतं भव्यं भविष्यदिति सर्वमोकार एव यच्चान्यत्त्रिकालातीतं तदप्योकार  
एवेत्यादिनोक्तम् । द्वादशस्कंधेच—“समाहितात्मनो ब्रह्मन् ब्रह्मणः परमेश्विनः ॥  
हृद्याकाशाद्भूनादौ वृत्तिरोधादिभाव्यते ॥ यदुपासनया ब्रह्मन् योगिनो मलमा-  
त्मनः । द्रव्यक्रियाकारकाख्यं धूत्वा यांत्यपुनर्भवम् ॥ ततोभूत्रिवृद्धोकारोऽव्यक्त-  
प्रभवः स्वराद् । यत्तल्लिङ्गं भगवतो ब्रह्मणः परमेश्विनः ॥ शृणोति य इमं स्फोटं सुप्त-  
श्रोत्रे च शून्यदृक् । येन वागव्यज्यते यस्य व्यक्तिराकाश आत्मनः ॥ स्वधाम्नो ब्रह्म-  
णः साक्षाद्वाचकः परमात्मनः ॥ स सर्वमंत्रोपनिषद्देवबीजं सनातनम् ॥” इतिसूतवा-  
क्ये प्रणवसूक्ष्मरूपस्य नादस्य ब्रह्मवाचकत्वं वाग्व्यंकजत्वं सर्वमंत्रोपनिषद्देवबी-  
जत्वं चाक्तम् ॥ बीजशक्तिरेव च कार्यं बीजं च ब्रह्मवाचकमित्यतोपि वर्णादीनां  
ब्रह्मवाचकत्वम् ॥ तदेतदुक्त इति ॥ ॥ वस्तुस्थितिरिति ॥ नन्वेवं वस्तुस्थितौ भाष्य-  
प्रत्याहाराद्विकस्थो वर्णानां स्वभावतः सार्थकानर्थकत्वविभागो विरुध्यते तथा  
पदानामपि सर्वार्थकत्वे व्यवहारस्यापि न सिद्धिरिति तदर्थमुपायमाहुः ॥

॥ तथापीत्यादि ॥ “सर्वाणि रूपाणि विचिंत्य धीरः नामानि कृत्वाभिवदन्य-  
दास्ते” इत्यादिश्रुतेः “वेदेन नामरूपाणि विषमानि समेष्वपि । धातुशृङ्खल कल्पन्ते  
एतेषां स्वार्थसिद्धये” इति वाक्यात् ॥ यदश्वयत्तदश्वस्याश्वत्वम् । एतद्वा अपां नाम-  
ध्येयगुह्यं यदाधावा इत्यादिषु तथा नियमनदर्शनाच्च ज्ञायते शक्तिसंकोचः कृत-  
इति तस्य स्वरूपमाहुः ॥ ॥ आदेशेत्यादि ॥ आ सर्वतः । तथाच नैयायिकप्रति-  
पन्नो यः संकेतः । अस्माच्छब्दादयमर्थो बोद्धव्य इत्याकारकेश्वरेच्छारूपः स श-  
क्तिसंकोचरूप एव न तु शक्तिः । शक्तिस्तु पदपदार्थयोर्नित्यसंबंधरूपः पदार्थात्-  
रमेव न त्विच्छायुक्तं चैतत् । अन्यथा शक्तेर्वृत्तिविशेषत्वं न स्यात् । शाब्दबोधानुकू-  
लस्य पदपदार्थसंबंधस्य वृत्तित्वेनेच्छायाश्च तद्व्याप्यत्वाभावेन तद्विशेषत्वस्याश-  
क्यवचनत्वात् । किंच । परेच्छायाः परेण ज्ञातुमशक्यत्वेनेश्वरेच्छायाः सुतरां  
तथात्वात्तज्ज्ञापको व्यवहारप्रवर्तकोऽभिलापः सर्वथांगीकार्यः । तथासति स  
एव संकेतोऽस्तु नेच्छा स च पूर्वोक्तश्रुत्यादिरूप एवेति संकोचिकैव सा श्रुत्यं-  
तरानुरोधात् । अतोपि शक्तिरतिररिक्ता फलति । एवं च संकोचेन तस्याः शाब्द-  
बोधानुकूल्ये व्याप्यतायां वृत्तिविशेषरूपत्वं सुघटमिति पदार्थांतरत्वपक्ष एव  
मीमांसकाभिमतः साधीयान् । एतदभिसंधायाहुः ॥ अतो विशेषाख्यापकानि  
जातानीति । इयं च ज्ञातोपयुज्यते । तदग्रहे पदैः पदार्थबोधादर्शनात् । तदग्रहणं  
च शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद्व्यवहारतश्च । वाक्यस्य शेषाद्विवृते-  
र्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धा इत्यभिगुक्तोक्तैर्व्याकरणादिभिर्ज्ञेयम् । प्राथ-  
मिकशक्तिग्रहप्रकारादिकं प्रस्थानरत्नाकरे मयोपपादितमिति नेहोच्यते । नन्वे-  
वं शक्तिसंकोचेपि न व्यवहारसिद्धिः । वर्णानां वाचकत्वांगीकारेण पदावयवभूता-  
नामपि वाचकत्वात् वर्णपदाभ्यां युगपत्स्वस्वार्थबोधने शाब्दबोधदौर्घ्यम् । क्रमे-  
ण बोधने च पटादिपदोच्चारणे प्रथमोपस्थितेन प्रकारेण स्वार्थबोधे द्वितीयेन च  
स्वार्थबोधे निराकांक्षतायां पटबोधादन्यार्थमुच्चारितेनान्यार्थबोधनेनातिप्रसंगा-  
च्चेत्याशंकायां संकोचांतरमाहुः ॥ ॥ तत्रेत्यादि ॥ तत्रेति पदेषु ॥ ॥ वर्णानां  
तुल्यत्वेपीति ॥ यदावयवभूतानां केवलवर्णसदृशत्वेपि । नन्वेवं वर्णानां क्वचिद-  
र्थवत्त्वं क्वचिन्नेत्यर्द्धजरतीयाद्वर्णानामनर्थकत्वमेव वरमित्याकांक्षायां वर्णार्थानं-  
गीकारे बाधकं तर्कमाहुः ॥ ॥ अन्यथेत्यादि ॥ तथा च यथोत्पलस्याल्पोधिको  
वा संकोच एव तथाल्पवाचकत्वमिवावाचकत्वमपि संकोच एवेति संकोचे च  
व्यवहारस्यैव नियामकत्वमिति तथेति भावः ॥ १५६ ॥ १५७ ॥

ब्रजभाषाटीका ।

वर्ण पद ये दोनों नित्य हैं । लौकिक वाक्य अनित्य है ।

क्योंकि आधुनिक बुद्धिपरिकल्पित हैं लोकमें वाक्यके वर्ण तो नित्यही हैं । वैदिक वाक्य तो नित्य है । वेदमें तो वर्ण पद वाक्य तीनों स्वयं हरि हैं कोईके मतमें पदही अर्थवाले माने हैं वर्ण वाक्य अर्थवाले नहीं माने हैं कोईके मतमें वाक्यनक्की भी अर्थवाले माने हैं हमारे मतमें तो वर्णभी अर्थवाले हैं (वेदाक्षराणि यावन्ति पठितानि द्विजोत्तमैः । तावन्ति हरिनामानि कीर्तितानि न संशयः ) इत्यादिवाक्यनमें वेदको एक एक अक्षर भगवान्को नाम है यह स्पष्ट लिखो है सर्व वर्ण भगवान्के वाचक हैं ॥ १५६ ॥ और भगवान् सर्वरूप है तासों सब वर्ण तथा पद सर्ववस्तुके वाचक हैं परन्तु लोकमें जल अन्न वस्त्र आदि पद सबके ही वाचक माने जाँय तो बुभुक्षित पुरुषके मुखसों ( अन्नं देहि ) ऐसो उच्चारण सुनके वस्त्र दियो जाय तथा शीतातुर पुरुषकों ( वस्त्रं देहि ) ऐसो उच्चारण सुनके जल दियो जाय तो लीकक व्यवहार बिगड जाय तासों शब्दनकी सामर्थ्यकों संकोच करके एक एक दोय दोय पदार्थके वाचकही एक एक शब्द माने हैं अर्थात् देशकालके भेद करके उच्चारण कियो भयो यह शब्द याही अर्थको बोध करावो और अर्थको बोध मत करावो यारीतिकों शक्तिसंकोच करे है तासों जितने शब्द हैं सब संकुचित शक्ति होयके पदार्थ विशेषके वाचक होगये जैसे घट यह शब्द सबही पदार्थको वाचक है परन्तु व्यवहार सिद्धिके लिये घडा कोई वाचक माने हैं ॥ कूप, सूप, गृप, इन शब्द नेक अवयव जे वर्ण हैं वे केवल वर्णनके समान हैं तथापि एक एक वर्ण एक एक अर्थको प्रतिपादन नहीं करे है वैसे होय तो व्यवहार सिद्धि नहीं होय व्यवहार चलवेके लिये पदमध्यपानि वर्णकों सर्वथा शक्तिसंकोच मानके उनकूँ अवाचक मानके पदकूँ वाचक । वर्णनकूँ निरर्थक तो नहीं माने हैं अन्यथा ।

अत्र प्रत्ययादिकनको भूआदि धातुनकोभी अर्थ नहीं होयगो  
व्यवहारही या विषयमें नियामक है ॥ १५७ ॥

तत्र व्याकरणादीनां व्यवस्थापकता मता ।

देशे देशे तथोच्चारो भाषाभेदैरनेकधा ॥ १५८ ॥

अनन्तमूर्तयो वर्णाः पदे तेनार्थवाचकाः ।

केवलाः कोशतो ज्ञेया वाचकाः पदतोथवा १५९

तत्त्वदीपप्रकाशः ।

तत्रापि व्यवस्थामाह ॥ तत्र व्याकरणादीनामिति ॥ न केवलं  
कोशादिरेव नियामकः किंतूच्चारो भाषाभेदश्च । अतः सर्वमुपपद्यते  
॥ १५८ ॥ इदानीमुत्तरोत्तरबलिष्ठत्वं वक्तुं पदे वर्णानामवाचकत्वं  
वाक्ये पदानामित्याह ॥ अनन्तमूर्तयो वर्णा इति ॥ वर्णानां गौण-  
मुख्यभेदेन नानामूर्तित्वम् । तेन पदावयवभूताः गौणा इति नार्थवा-  
चकाः केवलाश्च वर्णाः । एकाक्षरनिघण्टादिभिर्व्यवहारेऽप्यर्थवाचकाः ।  
तेषां पदत्वं वा प्रत्ययरहितानामर्थज्ञापकत्वात् ॥ १५९ ॥

आवरणभंगः ।

ननु व्यवहारार्थसंकोचश्चेत्तदर्थं पदलक्षणमेवान्यद्वाच्यम् ॥ वर्णसमुदायः पद-  
मिति ॥ ॥ तथा सत्यर्द्धजरतीयं विनैव प्रत्ययादेरर्थवत्ता सेत्स्यते व्यवहारोपि  
सेत्स्यतीति चेत्तत्राहुः ॥ ॥ तत्रापीत्यादि ॥ ॥ तत्रेति संकोचे । तथाच शक्तिग्रहं  
व्याकरणोपमानेत्याद्यभियुक्तावपि व्याकरणादीनामेव शक्तिग्राहकत्वमुक्तमिति  
तान्येव व्यवस्थापकानि ननु यस्य कस्यापि कल्पनम् ॥ यद्यपीदं नैयायकलक्षणं  
विवृत्तौ प्रविशति तथापि व्याकरणस्याङ्गत्वात्तदपेक्षया लौकिकस्यास्य निर्वल-  
त्वाल्लोकस्य व्याकरणाद्युपजीवकत्वाच्च तद्विरोधेऽनादरणीयत्वम् ॥ अन्यथाक-  
ल्पनैकशरणत्वे शास्त्रविप्लवापत्तिरिति तान्येव व्यवस्थापकानीति न लक्षणांतरा-  
दिभिर्निर्वाह इत्यर्थः ॥ संस्कृतव्यवस्थापकान्युक्त्वा भाषाव्यवस्थास्थापकानि  
वक्तुमाहुः ॥ ॥ न केवलमित्यादि ॥ ॥ तेन भाषायामपीश्वरकृतादेव संकोचात्तेपि  
शक्त्यैव बोधका ननु शक्तिभ्रमेण तत्र बोध इति ज्ञापितम् ॥ वक्ष्यति चाग्रे “अस्म-  
दादिमुखेनापि क्रीडार्थं सर्वतो हरिः । शब्दभेदं वितनुते रूपेष्विव विनिश्चयः” इति ॥



मूलयोजना तु देशे देशे भाषाभेदैरनेकधोच्चारस्तथा संस्कृते व्याकरणादि-  
वत्तत्तद्देशिकव्यवहारो व्यवस्थापक इत्यर्थः ॥ एवं सति शक्तिसंकोचलक्षणे अयं  
भाषाशब्दोऽस्मिन्देशे इत्यधिकं निवेश्य भाषायामपि सल्लक्षणीय इति तात्पर्यम् ॥  
तदेतदभिसंवायाहुः ॥ अतः सर्वमुपपद्यत इति ॥ ॥ अत एव शक्तपदादिव ते-  
भ्योपि तत्तद्देश्यानां तेषु गृहीतशक्तिकानामन्यद्देश्यानां च पदार्थोपस्थितिदर्शनं  
युज्यते । न च तत्र शक्तिभ्रमात्पदार्थोपस्थित्यादिकमिति युक्तम् ॥ भ्रमत्वविनि-  
गमकस्याभावात् ॥ पर्यायशब्देष्विव तेष्वपि पूर्वोक्तरीत्या संकोचेन शक्तिसिद्धौ  
तद्ग्रहस्य प्रमात्वसंभवे भ्रमत्वकल्पनाया अन्याय्यत्वात् ॥ ॥ अग्रे बाधाभावा-  
च्च ॥ ॥ न च तत्र लक्षणा । कुत्रापि शक्त्यभावे शक्यसंबंधरूपाया लक्षणाया  
अप्यसंभवेनाशक्यवचनत्वात् ॥ १५८ ॥ एवं व्यवहारसिद्धिमुपपाद्य तदर्थमन्य-  
दप्याहुः ॥ ॥ इदानीमित्यादि । इत्याहेति ॥ ॥ इदं प्रमेयं सार्द्धेनाहेत्यर्थः ॥ ननु के-  
वलानां वर्णानां वस्तुगत्या वाचकत्वमस्तु परं व्यवहारानुपयोगात्तन्नादरणीयमि-  
त्यत आहुः ॥ केवलान्धेत्यादि ॥ ॥ तथा च न वर्णार्थस्यानादरणीयतेत्यर्थः ॥  
ननु ते विभक्तिभाज एव लोके प्रयुज्यन्त इति न तेषां वर्णत्वेन रूपेणार्थवत्वम-  
पि तु पदत्वेनेत्यतस्तदुपगम्याहुः ॥ तेषामित्यादि ॥ ॥ तेषामिति ॥ ॥ नि-  
घंद्वायुक्तानाम् ॥ एतेन वेदे वर्णानामक्षरत्वेन रूपेण भगवद्वाचकत्वम् । अन्यत्र तु  
पदत्वेनेत्यपि बोधितम् ॥ न च सिद्धांतभंगः ॥ तेषामिति कथनेन तद्विन्नानामे-  
काक्षरप्रत्ययादिरूपाणामर्थवत्तानपायसूचनात् ॥ केवलानां पदावयवाभावाच्च ॥  
वाक्यार्थवत्तां साधयितुं वाक्ये पदानां गौणानामेव सत्वमिति बोधयंतोऽवयवभा-  
वे पदेऽप्यवाचकत्वमिति दिशंति ॥ १५९ ॥

ब्रजभाषाटीका ।

जब शक्तिसंकोच मान्यो तब घटपटादिशब्दनकरकें कोन  
पदार्थनकी उपस्थिति होयगी तहाँ व्यवस्था कोश व्याकरणादि-  
नकरकें करलेनी भाषाके शब्दनके उच्चारणमें न्यारे न्यारे देशके  
न्यारे न्यारे भाषानके भेदनकरके व्यवस्था करलेनी यारीति सर्व  
व्यवहार बनसके हैं ॥ १५८ ॥ वर्णसों पद बलिष्ठहै पदसों वाक्य  
बलिष्ठहै पदमें वर्ण वाचक नहीं हैं वाक्यमें पद वाचक नहीं हैं  
वर्ण अनन्तमूर्तिवाले हैं पदनमें जे वर्ण हैं वे गौणहैं केवल जे

वर्ण हैं वे एकाक्षरकोशके अनुसार तथा निघण्टुद्वारा व्यवहारमें भी  
अर्थके वाचक हैं वे मुख्य हैं ॥ १५९ ॥

पदं न वाचकं वाक्ये सादृश्यात्स्मारकं परम् ।  
विशिष्टं वाक्यमेवात्र वाक्यार्थस्य च वाच-  
कम् ॥ १६० ॥ पदान्तरप्रवेशेन विशिष्टे वाच्य-  
वाचके । पटवद्वाक्यभेदश्च वाक्यार्थश्चापि  
भिद्यते ॥ १६१ ॥

तत्त्वदीपप्रकाशः ।

तथा वाक्येपि पदं न वाचकं तर्हि संकेताग्रहेपि वाक्यार्थज्ञानं  
स्यात् । गौरवं च स्यादित्याशंक्याह ॥ सादृश्यात्स्मारकं परमिति ॥  
वाक्यावयवभूतस्य स्वतंत्रपदतुल्यत्वात्पदार्थस्मारकत्वम् । अन्यथा  
स्वार्थं प्रतिपाद्य कृतार्थत्वे वाक्यार्थो न तैर्जन्येत । आकांक्षादेर्वाक्य-  
शेषत्वात्प्रकृतिप्रत्यययोरपि नैकार्थवाचकत्वं स्यात् । पदार्थकरणप-  
क्षेपि पूर्वपदार्थानां निवृत्तत्वात्पुनरुपस्थानं केन वा स्यात् । अविद्य-  
मानानां वा कथं बोधकत्वम् । वाक्यार्थसमाख्याविरोधश्च । अतो-  
वाक्यमेव वाचकमित्याह ॥ विशिष्टमिति ॥ स्वावयवैः स्वावयवार्थ-  
मिति चकारार्थः ॥ १६० ॥ वाक्यानामानंत्यात्संकेतग्रहो दुर्लभ  
इत्याशंक्याह ॥ पदान्तरप्रवेशेनेति ॥ घटमानयेति वाक्याद्वटं शीघ्र-  
मानयेति भिन्नम् । एवमानंत्येपि न दोषः ॥ तत्र दृष्टान्तः ॥ पटव-  
दिति ॥ द्वितन्तुकपटात् त्रितन्तुकोऽन्यः ॥ तथोत्तरत्रापि आरंभक-  
वादस्यानंगीकारात् । तथा अपूर्वत्वाद्वाक्यार्थस्य पूर्वसंसर्गादुत्तरस्य  
भिन्नत्वम् ॥ १६१ ॥

आवरणभंगः ।

तथेत्यादि ॥ ॥ तर्हीत्यादि ॥ ॥ वाक्यस्यावाचकपदघटितत्वे वाक्या-  
वयवभूतानामवाचकत्वे भिन्नत्वे च कोशादौ तदनिर्देशेन संकेताग्रहेपि वाक्या-

र्थज्ञानं स्यात् । अर्द्धजरतीयभेदाभ्यां कृतं गौरवं च स्यात् । नच यथाप्रभाकरमते द्वेषापदशक्तिरनुभाविका स्मारिका च ॥ कार्यान्विते जातौ च स्वीकृता ॥ तथानुभाविकां केवलेषु स्मारिकां वाक्यावयवभूतेषूपगम्येतेषु द्वितीयस्याः सत्वात्तेन द्वारेण वाक्यार्थज्ञानं निराबाधमिति वाच्यम् ॥ तथापि शक्त्यंतराकल्पनाकृतं गौरवं तु स्यादित्याशंक्याहेत्यर्थः ॥ सादृश्यादित्यादि ॥ ॥ तथाच केवलेषु गृहीतस्य संकेतस्य सादृश्यमहिम्नैवेति स्मरणात्तद्वारा वाक्यार्थज्ञानसंभवः शक्त्यंतराकल्पनाच्च न गौरवमित्यर्थः ॥ नचैवं सति गृहीतविस्मृतशक्तेस्ततः शाब्दबोधो न स्यादिति वाच्यम् । तुल्यत्वात् । शब्दानित्यतावादिमतेपि वाक्यार्थबोधावसरे शक्तिग्रहसामयिकपदस्याभावाच्छक्तिस्मारकसंस्कारोद्बोधहेतुत्वेन सादृश्यस्यैव वक्तव्यत्वाद्नेन तदभावेहेत्वंतरस्य तेनापि वाच्यत्वात् । नित्यतावादेपि स एवायमिति तेन स्वार्थबोधाजनने तत्र हेत्वंतरस्य तेनापि वाच्यत्वात् । ननु वक्रा पदार्थमवगम्य वाक्यार्थमवगमयितुं तानि वाक्ये प्रयुज्यन्ते । यदि तान्यनर्थकानि स्युः तदा तेषां प्रयोगो नोपपद्येत नच स्मारकत्वमपि ज्ञात्वा सदृशान्येव प्रयुज्यन्त इति शक्यवचनम् । तस्यासिद्धत्वात् ॥ अन्यथेत्यादि ॥ ॥ वाक्यार्थ इति ॥ ॥ संसर्गरूपो वाक्यार्थः ॥ तथा च स्मारकत्वानंगीकारे सकृदुच्चारितानां तेषां सकृत्स्वार्थं गमयित्वा तथात्वे पदांतराकांक्षाया अभावात्तैर्वाक्यार्थः संसर्गरूपो न जन्येतेत्यर्थः ॥ पदेभ्यश्च पदसमूहो भिन्नः ॥ अन्यथा पदैर्वाक्यार्थबोधने पदेषु युगपद्वृत्तिद्वयापत्तिः पदार्थवाक्यार्थयोर्बोधिके वृत्ती इति द्वयम् । दूषणांतरमाहुः ॥ प्रकृतीत्यादि ॥ ॥ प्रकृतेः स्वार्थं प्रतिपाद्य कृतार्थत्वे प्रत्ययाकांक्षाया अभावाद्भिन्नार्थतैव स्यान्नत्वैकार्थ्यम् । तथाच प्रकृतिप्रत्ययौ सहार्थब्रूतस्तयोस्तु प्रत्ययः प्राधान्येनेति नियमश्च व्याह्रयेतेत्यर्थः ॥ ननु तर्हि भाट्टाभिमतः पदार्थकरणपक्षोऽस्तु तथासति पदानां कृतार्थत्वेपि पदोपस्थापितपदार्थैरेव वाक्यार्थो भविष्यतीति न कोपि दोष इत्यतस्तत्रापि दूषणमाहुः ॥ पदार्थेत्यादि ॥ ॥ नन्वेवं सति शक्तिमत्पदज्ञानस्यैव शाब्दबोधे करणत्वमस्तु इत्याशंकायां दूषणांतरमाहुः ॥ वाक्यार्थेत्यादि ॥ ॥ समाख्याया यौगिकशब्दत्वाद्वाक्यस्यार्थाभावे योगस्याप्रवृत्तेस्तथेति नायमपि पक्षः साधुरित्यर्थः ॥ चकारेण वाक्यार्थस्याशाब्दत्वं स्यादित्यपि समुच्चीयते । तथासति चाक्षुषादिशब्दवत्करणोपाधिनिबन्धनः शाब्द इति व्यवहारोपि बाध्येतेति च । एवं सति वाक्याव-  
 ङ्गीकारे दोषबाहुल्यात्स्मारकत्वपक्ष एव साधीयान् । एवं च यथारू-  
 प्वावर्णस्य प्रक्रियादशायां विवृतत्वं प्रयोगे संवृतत्वमनुशास-  
 ने शाब्दिकैस्तथावक्रा वाक्यघटनार्थमर्थवत्तां स्मरणेऽप्युच्चार-

पदशायां तत्सदृशानि स्मारकान्येवाभ्युद्यन्तीति लाघवाद्दोषाभावाच्चाङ्गीकार्यमिति निष्कर्षः ॥ तदेतद्वृद्धि कृत्वाहुः ॥ अत इत्यादिविशिष्टमिति ॥ ॥ अवांतरान्वयविशिष्टम् । अन्वयश्च विवाक्षितार्थावबोधकः पदादिसंबन्धः स्वावयवार्थमिति ॥ अवांतरान्वयम् ॥ एवं च स्वावयवैरवांतरवाक्यैः स्वावयवार्थमवांतरान्वयवद्वाक्यमेव तत्तत्कारकनिष्ठक्रियान्वयरूपस्य मुख्यवाक्यार्थस्य वाचकमित्यर्थः फलति ॥ वाक्यप्रयोगं विना केवलपदेनान्वयाबोधादन्वयस्य पदलभ्यत्वाभावात् । विशिष्टे शक्तिग्रहः । प्रथमं भवतीति पक्षस्तु प्राथमिकशक्तिग्रहस्य नियमतो व्यवहारजन्यत्वनिराकरणादेव निराकृतः ॥ नाप्यन्वयस्यार्थसंसर्गमर्यादालभ्यत्वं सन्निहितेऽश्वे गामानयेति वाक्ये तदतिहायाश्वबोधापत्तेः ॥ नापि पदसमभिव्याहारलभ्यत्वम् ॥ तस्य सन्निधिरूपत्वेन दूरान्वये श्लोकादौ तत्सत्त्वेऽप्यन्वयाबोधप्रसंगात् ॥ नापि स्मृत्या तत्रापि पदसमभिव्याहारसंभवान्न दोष इति वाच्यम् ॥ तथासति बोधविलंबादिप्रसंगात् ॥ अन्वयबोधस्याशाब्दत्वादिप्रसंगाच्च ॥ न चेष्टापत्तिः ॥ पूर्वोक्तदोषाणामापत्तेः ॥ तस्मादाकांक्षादिमत्पदकदंबरूपवाक्यस्य प्रयोजनायापरिष्कृतस्यैवान्वयोभिधेय इति वाक्यस्यैवार्थ इति सिद्धम् ॥ एवं च शाब्दानुभवत्वावच्छिन्नं प्रतिज्ञायमानवाक्यत्वेनैव कारणत्वमनुगतं बोध्यम् ॥ वृत्तिमत्पदस्मारितपदार्थोपस्थितिः साकांक्षावान्तरवाक्योक्तान्वयोपरीस्थितिश्च यथायथमवांतरवाक्यमहावाक्ययोर्व्यापारभूते ज्ञेये इति दिक् ॥ अत्रैवं क्रमो निष्पद्यते । पूर्वं पदशक्तिं गृहीतवतो वाक्यश्रवणोत्तरं तदवयवभूतैः पदैः शक्तिग्रहजन्यसंस्कारोद्बोधे पदार्थस्मरणं ततोऽवांतरवाक्यैस्तं व्यापृत्यावांतरवाक्यार्थबोधस्ततस्तमपि व्यापृत्य महावाक्ये वाक्यार्थबोधो जन्यत इति ॥ १६० ॥ वाक्यानामित्यादि ॥ शाब्दज्ञानत्वावच्छिन्नप्रतिशक्तिग्रहस्य सहकारितानियमाद्वाक्यार्थज्ञानं प्रत्यपि वाक्यशक्तिग्रहस्य सहकारिता वाच्या तत्र संकेतग्रहस्तु दुर्लभः । वाक्यानामानन्त्ये तत्तच्छक्तिग्राहकानुशासनकोशवाक्यशेषाणामभावात् ॥ अर्थस्य काल्पनिकत्वेन पूर्वमदर्शनात् । द्रष्टुराप्तस्याभावेन तद्वाक्यस्याप्यशक्यवचनत्वात् ॥ अतएव विवृतेरप्यभावात् ॥ नाप्युपमानात् ॥ यथा गोसदृशपिंडदर्शनोत्तरमुद्बुद्धसंस्कारस्यातिदेशवाक्यार्थस्मरणेनायं गवयपदवाच्य इति संज्ञिपरिच्छित्तिस्तथात्र प्रकारमाहेत्यर्थः ॥ पदांतरेत्यादि ॥ पदांतरप्रवेशेन कृत्वा वाच्यवाचके वाक्यार्थसहिते वाक्ये विशिष्टे यथायथमर्थांतरपदांतराभ्यां सप्रकारके सति पटवदित्यादि ॥ घटमानयेत्यादि ॥ अयमर्थः ॥ यद्वाक्यानामानन्त्यं भवतोक्तं तदर्थान्तरप्रवेशेन पदांतरप्रवेशेन वा तत्राद्यन्तु न शक्यवचनं वाक्यावयवभूतैः पदैः पदार्थेषु स्मारितेषु तेषां चारितार्थात्पदात् । स्मारितस्यार्थस्य तत्र प्रवेशे गौ-

रानीयतामित्यादावप्याक्षिसानिध्यादिवशेनाश्वादिप्रवेशापत्तेः । तत्तद्द्वारमित्यादौ पदस्मारिताया एव क्रियायाः प्रवेश इति वाच्यम् । तत्रापि समयादिविशेषवशेन संवरणायवगमदशायामपि शब्दस्मारणपूर्वकमेवार्थस्मारणस्यानुभवसाक्षिकत्वात् । अतः क्रियादिवाचकपदांतरप्रवेशेनैवानंत्यं वक्तव्यम् ॥ एवमानंत्येपि न संकेतग्रहदौर्लभ्यमित्यर्थः ॥ कुत इत्याकांक्षायां व्यवहारोपमानाभ्यामिति वक्तुमाहुः ॥ तत्र दृष्टांत इत्यादि ॥ ॥ तद्विवृण्वन्ति ॥ द्वितंतुकेत्यादि ॥ ॥ श्रुतौ सत्कार्यवाद इति तदनुयायिभिरारभ्यारंभकवादानंगीकाराद्वितंतुकपटात्रितंतुकः पटोऽन्यः । कारणीभूतावयवसमुदायभेदाद्भिन्न एव भवति । तथा त्रितंतुकाच्चतुस्तंतुकादिरपि । तथा तद्वाक्यार्थस्यान्वयरूपस्य पदार्थांतरसंसर्गेण पूर्ववाक्यार्थापेक्षायान्नूतनत्वादुत्तरस्य संसर्गस्य पूर्वसंसर्गात्सरूपतो भिन्नत्वं नतु विजातीयत्वेन भिन्नत्वम् ॥ तथासति यथैकत्र पटे गृहीतशक्तिकं पटपदमवयवभेदभिन्नान् पटांतरानपि तथैव शक्त्या पटत्वेन रूपेण बोधयति । तथैकं गोपदयुक्तं वाक्यमेकत्र गवान्विते वाक्यार्थे वृद्धव्यवहारेण तद्वाक्येन वा गृहीतशक्तिकं जातं चेत् तदा तद्दृष्टान्तेन पदांतरप्रवेशकृतवाक्यांतरमपि नानासंसर्गकान् वाक्यार्थान् बोधयिष्यतीत्युपलक्षणविधया क्रियापदयुक्तं यद्वाक्यं तत्तदर्थान्वितं वाक्यार्थं बोधयतीति व्याप्त्या ततोऽभ्यासदाढ्येन बोधयिष्यतीति नसंकेतग्रहदौर्लभ्यमित्यर्थः ॥ एवं च पूर्वं शब्दब्रह्मणो घोषस्येव वर्णपदवाक्यसंज्ञावत्त्वं नतु परस्परं भेद इति यत्प्रतिज्ञातमासीत्तदपि दृढीकृतं ज्ञेयम् ॥ १६१ ॥

ब्रजभाषाटीका ।

वाक्यमें पदभी अर्थवाचक नहीं हैं तहाँ वाक्यके पदनकूँ अर्थवाचक नहीं मानोहो तो जो पुरुष पदनके अर्थकूँ नहींजाने हैं वाकूँ भी वाक्यके अर्थको ज्ञान होनो चाहिये ऐसी शंका नहीं करनी वाक्यके अवयवरूप होयरहे जे पदहैं वे उनके तुल्य स्वतन्त्र पदनके अर्थनकूँ स्मरणकरायवेवारे हैं उनके द्वारा वाक्यार्थको ज्ञान होये है तासों वाक्यसदृश स्वतन्त्र पदनके अर्थ जानवेवारेकूँ ही वाक्यार्थ को ज्ञान होय है यदि वाक्यके अवयवरूप पदनकों अपने अपने अर्थनके वाचक मानलें तो वे अपने अपने अर्थकूँ के कृतार्थ होजायँ फिर वे पद वाक्यार्थकूँ नहीं प्रकटकरेंगे वयसहित वाक्य है सो वाक्यार्थको बोध करवेवारो है

विवाक्षित अर्थके बोधक पदनके सम्बन्धकूँ अन्वय कहें है ॥१६०॥  
तहाँ वाक्य अनन्तहैं उनमें संकेतको ज्ञान कैसें होयगो यह शंका  
नहिं करनी क्योंकि जैसें दो तन्तुके बुनेभये वस्त्रकूँ पहिचानवे-  
वारो तेहरे तन्तुके बुनेभये वस्त्रकूँ भी पहिचानलेहै ऐसेही ( घटमा-  
नय-घडाकूँलाव ) या वाक्यकूँ जानवेवारो शीघ्र पदके प्रवेश  
करके ( शीघ्रं घटमानय-जलदीघडाकूँ लाव ) पहलीके वाक्यसों  
न्यारो जो ये वाक्यहै याके अर्थकूँ भी जानजावेंहै या प्रकार  
क्रियापदनके प्रवेशकरके जुदे जुदे भये अनेक वाक्यनके अर्थकूँ  
भी अभ्यासके दृढहोयवेसों जानजावेहै ॥ १६१ ॥

अवांतराणां वाक्यानां स्मारकत्वं तथापरे ।  
वाक्यमेकं हरिश्चैको वेदे वाक्यार्थरूपधृक् १६२  
अवान्तरेषु च तथा पदे वर्णे तथैव च । त्रयो-  
पि वैदिका भिन्ना नाना धर्मयुतास्तथा ॥१६३॥

तत्त्वदीपप्रकाशः ।

तथा महावाक्ये अवान्तरवाक्यानामवाचकत्वम् । किन्तु पूर्ववत्स्मा-  
रकत्वमेव । एवमवान्तरभेदेन सर्वं निरूप्य सम्पूर्णवेद एकं वाक्यं तद-  
र्थोप्येक एवेत्याह ॥ वाक्यमेकमिति ॥ तात्पर्यवृत्त्या तथात्वं वारयति ।  
वाक्यार्थरूपधृगिति ॥ १६२ ॥ तथावान्तरवाक्येषु अवान्तरवाक्या-  
र्थरूपधृक् । एवमुत्तरत्रापि । इदानीं लौकिकवैदिकयोर्वर्णादीनां वैजा-  
त्यमाह । त्रयोपि वैदिका भिन्ना इति । उदात्तादिधर्मयोगात् । लोक-  
व्यवहारवर्णादिभ्यो वैदिका भिन्नाः ॥ १६३ ॥

आवरणभंगः ।

ननु महावाक्येषु केषांचित्पदानां विस्मरणेपि तदर्थविगतिर्दृश्यतेऽतः पदा-  
र्थकरणपक्षः एव साधुर्नतु वाक्यकरणपक्षः । महावाक्यार्थबोधानापत्तेरिति चेत्त-  
त्राहुः ॥ तथा महावाक्येत्यादि ॥ ॥ तथा च तादृशस्थले महावाक्यार्थस्य तावता



वाक्यार्थके धारणकरवेवारे हैं ऐसे ही अवान्तरवाक्यनमें अवान्तर-  
वाक्यनके अर्थ धारणकरवेवारे भी भगवान् हैं पदमें पदार्थरूप,  
वर्णमें वर्णार्थरूप भी भगवान् ही हैं ॥ १६२ ॥ लोकके जे वर्ण  
पद वाक्य हैं उनसों वेदके वर्ण पद वाक्य न्यारे हैं क्यूँकि वैदिक  
वर्णनमें उदात्त अनुदात्त स्वरित प्रचय न्युब्ज इत्यादि अनेक  
भेद हैं तासों व्यवहारके वर्णनसों वेदके वर्ण जुदे हैं ॥ १६३ ॥

सादृश्येऽपि न वेदत्वं तादृग्वाक्ये ततोऽन्यतः॥  
अधिकारिविभेदेन धर्माधर्मौ तथापरे॥ १६४ ॥  
प्रत्येकं पूर्णता वाक्ये शाखाभेदेषु सर्वतः॥ द-  
र्शादिषु तदंगेषु मंत्रमात्रे तथैव च ॥ १६५ ॥  
हरिस्तत्तत्स्वरूपेण तस्मात्सर्वत्र वाचकः॥ पु-  
राणे च ततोऽन्यत्र वाक्यार्थो बुद्धिकल्पितः॥  
॥ १६६ ॥ पदानामानुपूर्वीं तु तत्र कल्प्या ह्यने-  
कधा॥ सर्वप्रतीतिनाशे तु तन्नाश उपचर्यते ॥  
॥ १६७ ॥ तथावाक्यत्वनिष्पत्ते न दूषणमिहा-  
प्यपि । अद्यापि तानि जायन्ते घटवज्ज्ञान-  
तः स्थितिः ॥ १६८ ॥ विप्रलिप्सादिमूलत्वा-  
दप्रामाण्यं च लौकिके॥ अप्रामाण्येऽपि प्रामा-  
ण्यं कर्तृविश्वासतः क्वचित् ॥ १६९ ॥ अतो वे-  
दाद्यसंवादी नार्थो ग्राह्यः कथंचन ॥ वेदे सर्व-  
त्र नाधिक्यं वाक्येन न्यूनतापि वा ॥ १७० ॥  
अतो न वाक्यभेदः स्यात् लोके तन्नैव दूषणम् ।

## भूतसूक्ष्मो ध्वनिर्वर्णो नामसृष्टौ निरूप्यते १७१

तत्त्वदीपप्रकाशः ।

क्वचित्काव्यादौ वैदिकतुल्यता भासते तथापि न वेदत्वमित्याह ॥  
 सादृश्येपि न वेदत्वमिति ॥ लोकवेदाधिकरणं तु कल्पितमेव जै-  
 मिनिनानुक्तत्वात् । लौकिकानां वैदिकानां चेति भाष्यात् । “मयद्वैतयो-  
 र्भाषायां, द्वयचक्षुश्छन्दसि, सर्वत्रविभाषागोः” इत्यादिसूत्रकरणाच्च छन्दसि  
 च लोकवेदयोः पृथग्निरूपणात् । अतः सादृश्येपि न वेदत्वं शूद्रादीनां  
 वेदबुद्ध्या तथापाठ एव दोषः ॥ १६४ ॥ एवं भेदं निरूप्य वेदैश्च  
 सर्वैरहमेव वेद्य इति यथाश्रुतसिद्ध्यर्थं सर्वत्र वेदे भगवानेवार्थं इत्याह ॥  
 प्रत्येकं पूर्णतावाक्य इति ॥ महावाक्यार्थरूप एव हरिर्नावान्तरवा-  
 क्यार्थरूप इति निराकरणार्थं पूर्णता निरूप्यते शाखाभेदेष्वपि पूर्ण-  
 ता । एवमुत्तरत्रापि तदंगेषु प्रयाजादिषु इषेत्वेति मंत्रमात्रे सिद्ध्यर्थे-  
 ऽपि ॥ १६५ ॥ तत्र हेतुः ॥ तत्तत्स्वरूपेणेति ॥ पुराणानामपि वेदतुल्य-  
 त्वमभिप्रेत्याह ॥ पुराणेचेति ॥ वेदपुराणव्यतिरिक्तस्थले वाक्यार्थो  
 बुद्धिकल्पितः । न भगवद्रूप इत्यर्थः ॥ १६६ ॥ अतस्तत्र विश्वासेन  
 पुरुषार्थसिद्धिः संसर्गस्यापूर्वत्वात् । पदानुपूर्वीनानात्वादिति हेतुः का-  
 लिदासवाक्यानामपि बहुकालं स्थितिसिद्ध्यर्थमाह ॥ सर्वं प्रतीतिनाशे  
 त्विति ॥ रूपसृष्टौ क्रियातः स्थितिः, नामसृष्टौ ज्ञानेनेति ॥ १६७ ॥  
 तत्र हेतुः ॥ तथावाक्यत्वनिष्पत्तेरिति ॥ बुद्ध्यचारचनां कृत्वोच्चारय-  
 तीति यथान्यायमते तदुच्चारितः शब्दस्तदैव नष्टः सादृश्यभ्रमादेव  
 तदीयव्यवहार इति । तथासति तदीयत्वाभावालोके वेदे च महद्दृढपणन्न  
 तथास्मन्मते नित्यत्वात् । उत्पन्नानां च बहुकालं स्थितत्वाच्चेत्याह ॥  
 न दूषणमिहाण्वपीति ॥ तदेव स्पष्टयति ॥ अद्यापीति ॥ १६८ ॥  
 परं प्रामाण्ये विवाद इति वक्तुं तच्चेतूनाह ॥ विप्रलिप्सादीति ॥ यत्र